निबंध-प्रबोध

लेखक

रामरतन भटनागर, एम० ए०

प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रस्तावना लेखक

डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

किताब महल

इलाहाबाद

मूल्य ३)

~~[illegible]~~
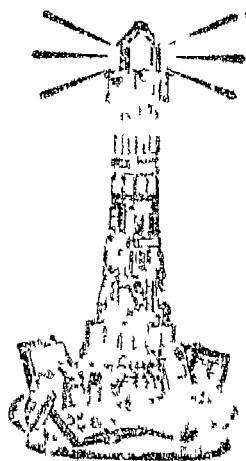
चौथे संस्करण में

इस संस्करण में पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है ऐसा मेरा विश्वास है। [illegible] नवीन निबंध का समावेश हुआ है और सामग्री को उपस्थित [illegible] के ढंग को अधिक वैज्ञानिक [illegible] गया है। [illegible] आदि शीर्षकों से और भी बहुत-सी नई सामग्री [illegible] आशा है कि यह नवीन संस्करण उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी उपादेय सिद्ध होगा।

—रामरतन भटनागर

यह तीसरा संस्करण

इस संस्करण में सारी पुस्तक को कई बार दुहरा कर अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है। कहीं-कहीं परिवर्त्तन और परिवर्द्धन भी मिलेगा। अब यह पुस्तक इतने शुद्ध और संस्कृत रूप में है कि विद्यार्थी को इससे किसी भी प्रकार की हानि की आशंका नहीं रह गई।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए श्रीयुत रामेश्वरदयाल दुबे, एम० ए० (वर्धा) की राय से सारांश (या संक्षेप-लेखन) एवं अपठित गद्य की विवेचना और अभ्यास के सम्बन्ध में नई सामग्री जोड़ दी गई है।

—रामरतन भटनागर

पहले संस्करण की प्रस्तावना

"निबन्ध सम्बन्धी छोटी-मोटी पुस्तकें हिन्दी में अनेक प्रकाशित हो चुकी हैं किन्तु इस विषय की अच्छी पुस्तकों की आज भी बहुत कमी है। श्री रामरतन भटनागर का निबन्ध-प्रबोध इस कमी को बहुत कुछ पूरा कर सके ऐसी मुझे आशा है। इस विषय पर अब तक जितनी भी पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं उन सब की अपेक्षा मुझे यह पुस्तक उत्तम जँची। विशेषतया ऊँची कक्षा के विद्यार्थी इसे अधिक उपयोगी पावेंगे।........"

—धीरेन्द्र वर्मा

१. निबंध

प्रवेश

१. निबंध लिखने से पहले आपको उस भाषा का स्वरूप समझ लेना चाहिये जिसमें आप लिखने जा रहे हैं। हिन्दी से आपका तात्पर्य खड़ी बोली के उस रूप से है जिसका साहित्य में प्रयोग है या जिसमें शिक्षित हिन्दी-प्रान्त-निवासी बातचीत करते हैं। हिन्दी-प्रान्त में दो साहित्यिक भाषाएँ चल रही हैं और इसलिए इस प्रान्त के निवासी भी दो भागों में बँट गए हैं; एक फ़ारसी-शब्दावली-प्रधान भाषा बोलता-लिखता है, दूसरा संस्कृत-शब्दावली-प्रधान। आपको ऐसी भाषा लिखना है जो संस्कृत की ओर अधिक झुके, परन्तु जो सरल, प्रचलित और खप जानेवाले फ़ारसी शब्दों का एकदम त्याज्य न मान ले। कौन फ़ारसी या अंग्रेजी शब्द का प्रयोग ठीक होगा, यह बात इस तरह जानी जा सकती है कि यह पहले देख लिया जाए कि प्रसिद्ध साहित्यिकों ने उसका प्रयोग किया है या नहीं।

२. किसी भी भाषा में सुन्दर निबंध लिखने के लिए कई बातें परमावश्यक हैं :—

(१) उस भाषा के व्याकरण और निबंध-सम्बन्धी नियमों की जानकारी।

(२) उसके साहित्य का अध्ययन, विशेषकर गद्य-साहित्य का।

(३) निबंध-लिखने का अभ्यास।

(४) जीवन के अनेक अङ्गों का विस्तृत ज्ञान और विश्लेषण करके उसे नया रूप देने की शक्ति।

३. अच्छे निबंध लिखना अभ्यास से आता है। देखा यह जाता है कि [illegible]र्थी हिन्दी को मातृभाषा समझ कर इस विषय में अभ्यास की उपेक्षा [illegible]ा है। यह हानिकर है। निबंध-लेखक को अपना ज्ञान बराबर बढ़ाते रहना

होता है और लेखन-शैली के बराबर नए-नए प्रयोग करने पड़ते हैं। तभी वह अपने शब्दों के चुनाव और प्रभावोत्पादकता के विचार से वाक्यों को ठीक-ठीक मोड़ देने में सफल हो सकता है। किसी भाषा के मातृभाषा होने से ही यह सहूलियत नहीं हो जाती कि आप यह विश्वास कर लें कि आपके लेखनी उठाते ही निबंध तैयार हो जायगा।

४. निबंध के विषय में कुछ प्रारंभिक शिक्षाएँ हम यहाँ दिये देते हैं—

(१) निबंध उथला न हो। यदि वह विचारात्मक है तो उसकी सामग्री इकट्ठा करने में परिश्रम किया गया हो। यदि निबंध अन्य प्रकार का हो तब भी अपने पिछले अनुभवों, मित्रों या पुस्तकों की सहायता से उसके सम्बन्ध में काफ़ी जानकारी प्राप्त करो।

(२) पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

(३) विचार या भाव सुलझे हुये हों। साधारण विचारों को रंग देकर या अलङ्कारों के आवरण से ढक कर प्रकट करना अच्छा नहीं है।

(४) विचार या भाव-परिवर्तन के साथ शैली बदलते चलो।

(५) तुम्हारे विचारों में संगति हो जिससे निबंध अनर्गल प्रलाप या बहक न जान पड़े।

(६) क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों, संवतों, तिथियों और अनावश्यक विस्तार से बचो।

(७) भाषा सरल और प्रवाहमयी हो। यह ज़रूरी नहीं है कि विदेशी भाषाओं के उन शब्दों से बिल्कुल हाथ खींच लो जिनका स्वाभाविक (तत्सम) या बिगड़े (तद्भव) रूप में हिन्दी में प्रयोग होता है।

(८) भाषा सुबोध और स्पष्ट हो। समास-युत शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं हो। संस्कृत शब्द (तत्सम) शुद्ध रूप में आयें और विदेशी तत्सम शब्दों के साथ विभक्तियाँ आदि हिन्दी की हों।

(९) संयोजक शब्द का उचित प्रयोग हो। जहाँ दो संयोजक एक-दूसरे पर आश्रित चलते हों, उन्हें उसी तरह रखना चाहिये, जैसे यद्यपि के साथ तथापि अवश्य आये। ग़लत संयोजक का प्रयोग नहीं हो, जैसे यद्यपि के साथ किन्तु का प्रयोग।

(१०) जिन शब्दों का प्रयोग बल देने के लिए हो जैसे केवल वही, ही आदि, वे उचित शब्द के साथ रहें।

(११) दूसरी भाषा की लोकोक्तियों और मुहावरों को यों ही अनुवाद करके न रख दो। अपनी भाषा से ही पर्याय ढूँढ़ कर उनका प्रयोग करो।

निबन्ध के विषय में

निबन्ध शब्द का अर्थ है "बँधा हुआ, अतः सुबद्ध लेख"। असल में निबंध परिमित समय और परिमित शब्दों में किसी व्यक्ति या वस्तु या घटना विशेष पर कुछ विचार लिपि-बद्ध कर देने की चेष्टा मात्र है। निबंध का विषय कुछ भी हो सकता है। हम किसी महापुरुष या इतिहास की किसी महान् घटना पर निबंध लिख सकते हैं, उसी तरह स्वप्न या गिल्ली-डंडा या जूता भूल जाने पर भी। आसमान के तारों से लेकर धूल के कण तक और मनुष्य से लेकर छुद्र कीटाणु तक—निबन्ध के विषय में इतना विस्तार है। कोई भी क्षुद्र घटना या वस्तु निबन्धकार को आकर्षित कर सकती है। उसका व्यक्तित्व उसे भी मनोरंजक बना सकता है। इसीलिए कहा गया है कि निबन्ध के विषय में महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि वह किस विषय पर लिखा गया है? किसने लिखा है? किस शैली में लिखा है? उसका आकर्षण व्यक्तिगत रहता है। लेखक का व्यक्तित्व सारे निबंध में समाया होता है। विषय कोई भी हो, जिस वस्तु या विचार को प्रकाश में लाया जाय उसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया जाय, उसमें लेखक घुल-मिल ले, उसके सौंदर्य का अनुभव करे, उसकी चित्तवृत्ति उसमें रम जाय और वह कलापूर्ण ढङ्ग से अपने मन के विचार या हृदय की प्रतिक्रिया को भाषा दे दे।

यह नहीं कि गम्भीर विचार निबन्ध के रूप में नहीं आ सकते। निबन्ध विवेचनात्मक हो सकता है, गंभीर हो सकता है और फिर भी उसमें कला, साहित्य और सुरुचि का आनन्द मिल सकता है।

निबन्ध को आकर्षक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें परिश्रम की झलक न हो, गंभीर विषय को भी रोचक बना दिया गया हो, उसकी एक अपनी शान हो। सबसे बड़ी बात यह है कि लेखक उसे लिखते समय अपनी

आप दिलचस्पी लेने लगे। निबंध के पीछे निबन्धकार का व्यक्तित्व रहता है। इसलिए यदि निबन्ध पर लेखक के व्यक्तित्व की छाप नहीं है तो कला की एक चीज़ के नाते उसमें कोई आकर्षण नहीं रहेगा।

अच्छा निबन्धकार कैसे बना जाय? बहुत से विद्यार्थी बहुधा यह प्रश्न किया करते हैं। उनके लिए मेरा उत्तर है—

पढ़ो। अपने चारों ओर ध्यान से देखते रहो। विचारशील बनो। लिखने का अभ्यास करो।

निबन्ध लिखने के लिए अध्ययन की वीथिका की नितांत आवश्यकता है। मस्तिष्क में जब कुछ रहेगा, तभी काग़ज़ पर आ सकेगा। अध्ययन से हमारा अर्थ किताबें उलटने-पलटने का नहीं है। वह इससे अधिक गंभीर चीज है। आपका अध्ययन पूरा तब होगा जब आप लेखक के रचे हुए संसार में रहने लगेंगे। जयद्रथ-वध, रंगभूमि या स्कंधगुप्त पढ़ते समय आपको पात्रों की एक-एक भाव-भङ्गी और एक-एक चित्र साफ़ स्पष्ट हो जाना चाहिए। तभी आपका अध्ययन पूरा समझा जायगा।

हमारा अध्ययन तब सफल है जब हम उसके बोझ को ढोते हुए न फिरें, वह हमारे रक्त-मांस का एक अंग हो जाय। महामति बेकन ने कहा है—अध्ययन मनुष्य को पूर्ण बनाता है। इस सम्बन्ध में इससे बड़ा सत्य दूसरा हो ही नहीं सकता।

अच्छे निबन्ध-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी अपना कोष बराबर बढ़ाता रहे। यही नहीं, उसे शब्दों की व्युत्पत्ति और पर्यायवाची शब्दों तथा उनके सूक्ष्म भेद का ज्ञान अपेक्षित है। संक्षेप में, अध्ययन के समय उसका दृष्टिकोण मनोरंजन प्राप्त करना ही नहीं, आलोचनात्मक भी होना चाहिए। तभी उसका अध्ययन निबन्ध-लेखन में सहायता दे सकता है। जो पद या वाक्य अच्छे लगें उन्हें उसे चिह्नित कर लेना चाहिये। वह उन्हें बराबर पढ़े, यहाँ तक कि वे उसे पूर्णरूप से आत्मसात हो जायें।

अच्छी निबन्ध-रचना के लिए यह जरूरी है कि विद्यार्थी महान् लेखकों विशेषकर निबन्धकारों, और कथाकारों, की रचनाओं को पढ़े। पढ़ते समय पाठक के पास एक कापी होनी चाहिये जिसमें वह अच्छे वाक्य या पद उद्-

धृत कर सके। उद्धरण निबंध को सजा देते हैं। वे कटे-छटे हीरे की तरह हैं। उनसे एक तो निबंध में पूर्णता आ जाती है, दूसरे उनके स्पर्श से निबंध लेखक को अनेक ऐसी बातें सूझ जाती हैं जो उनके बिना नहीं सूझतीं। अच्छे निबंधकार की स्मृति तीक्ष्ण होनी चाहिये जिससे उचित उद्धरणों को समय-समय पर काग़ज़ पर उतार सके।

परन्तु विद्यार्थी यह न समझ लें कि पढ़ना ही सब कुछ है। उसे अपने चारों ओर ध्यान से देखना चाहिये जिससे उसका अनुभव बढ़े, उसके व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि हो। हम प्रकृति और प्राणियों से घिरे हुए हैं। हम विभिन्न रुचि के मनुष्यों के संपर्क में आते हैं और उनकी प्रतिक्रियाओं से परिचित होते हैं। यदि हम आँखें बंद कर लें और इस संसार को मिथ्या समझ कर उसकी ओर से दृष्टि फेर लें तो जिस व्यावहारिक ज्ञान की हमें अपेक्षा है, वह कहाँ मिलेगा?

निबंध का सबसे कठिन रूप वर्णनात्मक निबंध है। यदि विद्यार्थी ध्यानपूर्वक अपने चारों ओर के परिवर्तनों का अध्ययन नहीं करेगा, तो इस प्रकार के लेख लिखना उसके लिये असम्भव होगा। उसे प्रतिदिन की घटनाओं और जानी-पहचानी वस्तुओं के विवरण से आरम्भ करना चाहिये। तब उसे थोड़े ही दिनों में जान पड़ेगा कि साधारण वस्तु या घटना का सीधा-सादा, स्पष्ट वर्णन करना कितना कठिन है और इसके लिये कितना निरीक्षण चाहिये।

परन्तु केवल अध्ययन और निरीक्षण से ही काम नहीं चलेगा। निबंधकार को अपने विषय पर गम्भीर विचार भी प्रगट करने पड़ते हैं। विचारपूर्ण बात कहना बड़ा कठिन है। कुछ लोग तो विचार कर ही नहीं सकते। वे दूसरों की बातों को वेद-वाक्य मान कर चलते हैं। दूसरे के विचारों का विश्लेषण करना और तस्वीर के दोनों रुखों को देखना सब का काम नहीं है। परन्तु परिश्रम से यह बात सध जाती है। विद्यार्थी को चाहिये कि जिस विषय में उसकी रुचि हो, उसके संबंध में उत्सुक हो और उस पर विचार करना सीखे।

यह सब तो ठीक हुआ परन्तु सब कुछ पढ़-गुन कर भी लिखना नहीं आता। लिखना व्यावहारिक काम है और अन्य कामों की भाँति अभ्यास के

बिना अच्छा लेखक या निबंधकार होना असम्भव है। इसलिए अभ्यास करो। रोज़ कुछ लिखो। महान् लेखक अपने अभ्यास के द्वारा ही महान् हुए हैं। प्रेमचंद प्रतिदिन कुछ लिखते थे। रवि बाबू के लिखने के घण्टे बँधे थे। इसीलिए यह लोग इतना लिख सके और अपनी विशिष्ट शैली को विकसित कर सके। यदि तुम प्रतिदिन कुछ लिखो और अपनी शैली को माँजते जाओ तो यह संभव है कि एक दिन तुम भी उन-जैसे महान् लेखक और निबंधकार हो जाओगे। अच्छी रचना के लिए निरंतर अभ्यास की आवश्यकता है।

निबंध में जो विचार प्रगट किए हों वे स्पष्ट हों। इस बात के लिए विचारों में संगति होना आवश्यक है। यदि विचारों के पूर्वापर संबंध पर विचार नहीं रक्खा गया तो वाक्यों और पदों में मेल नहीं बैठेगा। इसलिए एक विचार और दूसरे विचार के बीच की विभाजक-रेखा का ज्ञान होना आवश्यक है। जब एक विचार समाप्त हो जाए तो दूसरा विचार प्रारंभ हो।

निबंध लिखने से पहले अपना दृष्टिकोण बना लो और फिर यह ध्यान रक्खो कि सारे निबंध में उसी एक दृष्टिकोण का पूरा निर्वाह हो। यह नहीं कि बीच में कुछ और ले उड़ो जो तुम्हारे पहले तर्क के विरुद्ध पड़े। यदि यह आवश्यकता ही है कि विषय को एक दूसरे (या दूसरे) दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह बात बता दो। इससे पढ़ने वाला भ्रम में नहीं पड़ेगा।

निबंध का गठन

तुम्हारे निबंध को बहुत से पदों में विभाजित होना चाहिये। इन पदों का विस्तार एक-सा ही न हो। कोई पद छोटा हो, कोई बड़ा। कौन पद कितना बड़ा हो, यह एक तो उस सामग्री पर निर्भर है जो तुम उस पद में देना चाहते हो, दूसरी इस बात पर कि उस सामग्री की अन्य पदों की सामग्री के मुकाबले में महत्ता कितनी है।

पूरे निबंध का एक रूप हो, वह एक विशेष ढाँचे पर खड़ा हो। वह स्वयम् एक पूर्ण इकाई हो और उसके भागों से सम्पूर्ण निबंध का संबंध भी दिखाया जा सके। प्रत्येक निबंध का कोई एक विषय होता है। यदि तुम्हें अपने मन से कोई निबंध लिखना हो तो विषय या शीर्षक ऐसा चुनो जिसकी

रूप-रेखा स्पष्ट हो; उसमें अनेक विषय न हो सकते हों और इसे लिखते समय ध्यान रक्खो कि प्रधान विषय को छोड़ कर गौण विषय में न चले जाओ अथवा विषयान्तर न हो जाय। इसके लिए यह आवश्यक है कि निबंध लिखने से पहिले लेखक सावधानी से निबंध के विषय या शीर्षक पर भी भली भाँति विचार कर ले और यह निश्चित कर ले कि वह स्वयं विषय या शीर्षक को भली भाँति समझ गया है कि नहीं। उसे अपनी सीमाओं का ज्ञान होना स्पष्ट चाहिये। जब वह लिखने लगे तो प्रधान विषय से वह अपनी दृष्टि न हटाए। यदि विद्यार्थी इस ढंग से चलेगा तो उसका निबंध एक विचार पर ही खड़ा होगा और उसका प्रत्येक वाक्य उस प्रधान विचार को विकसित करने में ही सहायक होगा।

निबंध में जो विचार प्रकट किये गए हों वह सूत्रबद्ध हों, उनमें एक स्वाभाविक शृंखला हो अथवा एक बात प्राकृतिक ढङ्ग से दूसरी बात का करण-कारण बनती जाये। कोई भी बात लटकती हुई न छोड़ो। प्रत्येक कड़ी दूसरी से जुड़ी हो। यह आवश्यक है कि विद्यार्थी अपने विचारों के क्रम पर ध्यान दे। कोई भी विचार ऐसे स्थान पर न रक्खा गया हो जहाँ उसे न होना चाहिये। यह तभी संभव है जब उसकी विचार-धारा सुशृङ्खलित हो। वह घबड़ा कर यहाँ-वहाँ यह-वह न लिख दे। यदि यह सब नहीं है तो फिर उसका निबंध सुलझा नहीं होगा। उसमें अस्पष्टता का दोष रहेगा।

निबंध में प्रत्येक आगे का विचार या भाव पहले विचार या भाव से प्राकृतिक ढङ्ग पर विकसित होना चाहिये। जितने विचार निबंध में प्रकट हुए हों उनमें तर्क द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। उलझे हुए विचारों को एक जगह रख देने का नाम निबंध नहीं है। निबंध में प्रत्येक पद का अकेला इतना महत्व नहीं है जितना आगे-पीछे के पदों के साथ। इसलिए अच्छे निबंध में वाक्यों-वाक्यों और पदों-पदों में आत्मिक संबंध होना चाहिये।

निबंध के विभिन्न अङ्गों में अनुपात का होना आवश्यक है। यदि उनमें अनुपात न होगा तो निबंध में दोष आ जायगा। निबंधकार को निबंध-रचना के समय उतना सतर्क रहना होगा जितना सतर्क चित्रकार चित्र बनाते समय रहता है। यदि प्रधान बात को बहुत कम स्थान दिया है और गौण बात को

पन्ने रँगे हुए हैं, तो निबंध उस हास्यास्पद चित्र की भाँति बन पड़ेगा जिसमें मनुष्य के अङ्गों के अनुपात पर कोई ध्यान न रक्खा गया हो। बहुधा विद्यार्थियों के निबंध इस दोष से दूषित होते हैं। यदि उनसे प्रयाग पर निबंध लिखाया जाय या कुम्भ पर तो लगभग आधे पन्ने तो वह प्रयाग तक की यात्रा में ले डालते हैं। एक चौथाई वापसी में। बाकी एक चौथाई में मुख्य विषय। क्या यह हँसने की बात नहीं है? यदि हमें जीवन में सफल होना है तो हमें प्रधान और गौण बातों में अंतर स्पष्ट कर लेना चाहिये। यदि हम गौण बातों को महत्व देते रहेंगे तो हमारा समय और परिश्रम बेकार होगा। यही बातें छोटे पैमाने पर निबंध के संबंध में भी लागू हैं। प्रत्येक विचार को उतना ही महत्व देना ठीक होगा जितने के वह योग्य ठहरता है। नहीं तो निबंध अनुपात-हीन रहेगा। ऐसा होने के दो कारण हो सकते हैं। या तो लिखने वाले के पास समय नहीं है या उसके विचारों में अनुपात नहीं है अथवा यह कि उसके मन में प्रधान-अप्रधान के विश्लेषण की पूरी शक्ति नहीं है।

इसलिए अपने विचारों की व्याख्या करते समय अनुपात का ध्यान रक्खो। छोटी, तुच्छ और महत्वहीन बात को व्यर्थ का महत्व न दो, न महत्त्व पूर्ण बात को छू कर भूल ही जाओ। तुम्हारे चिन्तन का ढङ्ग वैज्ञानिक हो।

अपने निबंध को तीन भागों में बाँटो—

(१) आरम्भ (प्रस्तावना)

(२) मध्य

(३) अंत (उपसंहार)

निबंध का आरम्भ या प्रस्तावना

आरम्भ बड़े सुन्दर ढङ्ग से होना चाहिये। वह ऐसा हो कि पढ़ने वाला उसकी ओर आकर्षित हो और उसके मन में आगे बढ़ने की उत्सुकता बढ़े। उसे यह आभास हो जाए कि एक मनोरंजक या विचारपूर्ण चीज उसे पढ़ने को मिल रही है। निबंध का प्रारम्भिक अंश सारे निबंध की ओर इङ्गित करता है। यदि आपको अपना घर बनाना हो तो क्या उसका द्वार ऐसा न

बनाएँगे जिससे न केवल आपकी रुचि का परिचय मिले परन्तु जो आपके घर के भीतर के भाग की ठीक भूमिका हो। यही बात निबन्ध के सम्बन्ध में भी है।

प्रारम्भ का अंश अधिक लम्बा नहीं होना चाहिये। यह अंश आपके निबंध की भूमिका होता है। भूमिका विषय के महत्त्व और विस्तार को देख-कर उसके अनुरूप ही लिखी जाती है। एक बात और है। अधिक बड़ी भूमिका में वह आकर्षण नहीं रहता। उसे तो सतसई के दोहों की तरह नावक का तीर* होना चाहिये।

निबंध को आरम्भ करते समय इसका विचार रखना चाहिये कि भूमिका प्रधान विषय के असम्बद्ध न हो जाय। अगर आप विषय के सबसे महत्त्वपूर्ण भाग (मध्य) को ध्यान में रखते हुए भूमिका के शब्द सोचें तो अधिक अच्छा होगा। भूमिका से निबन्ध के मुख्य अंग की ओर संक्रमण अचानक न हो जाए। यह बात उसी समय आएगी जब आपका लक्ष्य आपके सामने स्पष्ट होगा।

तुम इस प्रकार शुरू कर सकते हो—

(१) विषय की परिभाषा दो†।

(२) कहानी या घटना से आरम्भ करो।

(३) किसी प्रसिद्ध लेखक या कवि के वाक्य या किसी कहावत को उद्धृत करो।

(४) एकदम विषय को लेकर चलने लगो।

(५) निबन्ध की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए कोई प्रभावोत्पादक बात कहो जो पाठक के मन को पकड़ ले।

---

*सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।

†परन्तु यह ढङ्ग विकृत होगा। वैज्ञानिक या गूढ़ गवेषणात्मक निबंधों में तो यह ढङ्ग उचित है। ऐसी दशा में भूमिका-स्वरूप विषय को स्पष्ट करने के लिए अपनी सीमा निर्धारित की जा सकती है। अन्य विषयों में परिभाषा के साथ शुरू करना एक भोंडी-सी बात है।

(६) उस विषय से संबन्ध रखता हुआ एक सिद्धान्त या ऐसा सिद्धान्त लिखो जिसमें वह विषय भी एक अंग के रूप में आ जाता हो।

निबंध का मध्य

निबंध का सबसे प्रधान भाग यही है। जैसा ऊपर कहा गया है, प्रारम्भ का अंश भूमिका-स्वरूप है। अंत का अंश परिशिष्ट समझिए। बीच का अंश ही निबंध का महत्त्वपूर्ण अंश है। विषय-प्रतिपादन या रस (या भाव)—परिपाक की दृष्टि से इसे समीक्षा पर पूरा उतारना चाहिये। इसलिए विद्यार्थी का कर्तव्य है कि इस भाग में अनावश्यक एक बात भी नहीं कहे। निबंध एक विशेष प्रकार का साहित्य है। इसका विस्तार इतना सीमित है कि पैर फैलाने की जगह ही नहीं। चादर छोटी है। लिखने वाले के सामने अपने प्रधान विचार स्पष्ट रहने चाहिये और वह उन्हीं को सँवारने, सजाने और विश्लेषण-द्वारा विकसित करने की चेष्टा करे।

निबंध का अंत या उपसंहार

अंत कैसे हो? जब निबंध लिखना होता है तो पहले तो यह समस्या होती है कि प्रारंभ कैसे किया जाय? परन्तु एक बार प्रारम्भ कर दिया तो निबंध का किसी प्रकार अंत हो ही जाना चाहिये, सो बात नहीं।

अंत कैसे हो, इस विषय में कोई निश्चय नियम तो नहीं दिया जा सकता परन्तु अंत से ऐसा न जान पड़े कि विषय आसमान से जमीन पर गिर पड़ा। यह भी न जान पड़े कि अभी कहना और था, कहा नहीं जा सका। सब कुछ अचानक न हो जाय।

प्रारम्भ की भाँति अंत को भी ऐसा होना चाहिये कि निबंध समाप्त कर देने पर भी वह पाठक के मस्तिष्क में गूँजता रहे या वह पाठक का ध्यान एक बार फिर लेखक की प्रधान विचार-धारा की ओर मोड़ दे "संक्षेप में" "अंत में" "तब हम कह सकते हैं" "अब हम समाप्त करते हैं" इत्यादि वाक्य अन्त करते हुए लिखना निबंध के सौन्दर्य पर चोट करना है। इस प्रकार अन्त करना ठीक नहीं।

निबंध के भेद

यों विषय अनन्त हैं और उनकी व्यापकता और विभिन्नता के कारण निबंध के बहुत भेद हो सकते हैं परन्तु मोटे ढङ्ग से हम निबंध के ७ भाग कर सकते हैं। उनमें से विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से पहले चार महत्वपूर्ण हैं।

निबंध के ये विभाग हैं—(१) विवरणात्मक निबंध (२) वर्णनात्मक निबंध (३) विवेचनात्मक निबंध (४) व्याख्यात्मक निबंध (५) आलोचनात्मक निबंध (६) साहित्यिक गंभीर निबंध (७) ललित निबंध।

२. पद योजना

निबंध के तीन भाग बताए गये हैं—आदि, मध्य और अन्त। परन्तु इनमें से प्रत्येक को एक, दो या कई पदों में बाँट कर रखना ठीक होता है।

पद के विस्तार के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं दिया जा सकता। यदि आप प्रसिद्ध लेखकों के निबंध उठा कर देखें तो आपको एक वाक्य के पद से लेकर कई पृष्ठ तक के पद मिलेंगे। बात यह है कि पद का विस्तार बहुत कुछ उसके विषय और उसको स्पष्ट करने के ढङ्ग पर निर्भर होता है। पद विस्तार के लिए एक ही बात कही जा सकती है—आवश्यकता का ध्यान रक्खो।

फिर भी हमें इस विषय पर कुछ कहना है। आजकल निबंध को बड़े-बड़े पदों से भरने का चलन नहीं है। छोटे पद लिखने से एक तो विषय या आशय में स्पष्टता आ जाती है, फिर इसके सिवा उसमें इधर-उधर की संदर्भ-हीन, असम्बद्ध बातें भरने की जगह नहीं मिलती। छोटे पद लिखना ही सरल है। इसलिए विद्यार्थी को छोटे पद अधिक पसंद करने चाहिये। लम्बे पदों को बराबर अंत तक रोचक बनाना भी कठिन होता है और यह ध्यान बनाए रखना होता है कि पाठक ऊब न जाय।

बड़े-बड़े पदों में जहाँ भारीपन, नीरसता और कृत्रिमयता आ जाने का डर रहता है वहाँ छोटे पदों के बाहुल्य से विशृङ्खलता, हलकापन और उछल-कूद जैसा कुछ भाव आ जाने का भय रहेगा। सबसे अच्छा यह होगा कि

विद्यार्थी बीच का मार्ग ग्रहण करे। उसके पद का विस्तार न अधिक हो, न कम, और सभी पदों का विस्तार एक-सा न हो। उसमें विभिन्नता रहे।

पद-योजना में यह सावधानी रखनी चाहिये कि प्रत्येक पद विषय को पिछले पद से आगे बढ़ाता या विकसित करता हुआ चले। निबंध के आशय को स्पष्ट करने में उसका हाथ हो। कभी-कभी विद्यार्थी एक ही पद में कई प्रधान आशयों को रख देते हैं। इससे पद में आशय की एकता नहीं रहती और उसकी स्पष्टता नष्ट हो जाती है। यह एक बड़ा दोष है। जहाँ ऐसा लगे वहाँ ध्यानपूर्वक आशयों को अलग-अलग कर लेना चाहिये और प्रत्येक आशय को लेकर एक पद बना लेना चाहिये। कभी-कभी एक ही आशय कई पदों तक चला जाता है। इससे निबंध का सौष्ठव नष्ट हो जाता है। आशय की पुनरावृत्ति हो जाती है। कहीं-कहीं पद में असम्बद्ध या अन्य स्थान से संबंध रखने वाली बातें डाल दी जाती हैं।

पदों में परस्पर संबंध रहना चाहिये। पद के प्रत्येक वाक्य में जिस प्रकार संबंध रहता है, उसी प्रकार निबंध के प्रत्येक पद में भी। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पद में एक आशय हो और वह प्राकृतिक रूप से विकसित हो। प्रत्येक पद स्वाभाविक रूप से उसके विकास में सहायता करे। यदि आवश्यक हो तो पद संयोजक शब्दों द्वारा जोड़े भी जा सकते हैं परन्तु बहुधा आशय का विकास इस तरह होता है कि उसी के अन्दर से पदों में गाँठ लग जाती है, संयोजक शब्द की आवश्यकता नहीं पड़ती।

संयोजक कुछ इस प्रकार रहें 'फिर वह झुका।' 'परन्तु जीवन में स्थिरता अपवाद है।' 'यह आवश्यक नहीं।' 'अब यह प्रश्न है।' 'एक अन्य परिभाषा।' 'दूसरी बात यह है।' 'बात ठीक है।' 'यह कहना शेष रहा।' मुझे स्मरण पड़ता है।' 'ऊपर की बातों को ध्यान में रखते हुए।' 'हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं।' 'यह प्रसिद्ध है।'

निबंध लिखते समय पद की समाप्ति पर उसे पिछले पदों से मिलाते हुए ज़ोर से पढ़ते चलो। यह ध्यान रक्खो कि विचार या भाव या रस के प्रवाह में बाधा न पड़े। सब कुछ स्वाभाविक ढङ्ग से चलता रहे। यदि बीच में कड़ी टूटती है तो संयोजक शब्दों द्वारा पद को पिछले पद से जोड़ दो।

३. वाक्य-योजना

शैली कोई हो, वाक्य-रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। —पं रामचन्द्र शुक्ल

अच्छा निबंध लिखने के लिए यह आवश्यक है कि आपके वाक्य अच्छे हों। यह बात नहीं कि वे व्याकरण के अनुसार केवल शुद्ध ही हों। यह भी आवश्यक है कि आप अपने वाक्य की शैली को अच्छा या साहित्यिक रूप दें। निबंध की शैली वाक्यों के गठन पर निर्भर रहेगी।

इसलिये यह जानना आवश्यक है कि अच्छे वाक्य की क्या विशेषताएं हैं, वाक्य का रूप क्या है और वाक्य का विस्तार कितना होना चाहिये ?

अच्छे वाक्य में तीन बातें आवश्यक है :—

(१) अनुक्रम या ऐक्य (२) बल या अवधारणा (३) संक्रमण।

अनुक्रम से हमारा यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वाक्य में एक मुख्य बात रहे। वाक्य के द्वारा हम विचार प्रकट करते हैं। हमारे वाक्य इस प्रकार बने हों कि प्रत्येक वाक्य में एक मुख्य बात और उसकी पोषक एक या कई बातें रहें। यदि ऐसा न होगा तो लेखक की विचारधारा का रूप स्पष्ट नहीं हो सकेगा। यदि एक वाक्य में दो ऐसे विचार रख दिये जाएँ जिनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है तो लेख में अस्पष्टता आ जायगी। क्यों न हम उन्हें अलग-अलग रक्खें ? क्यों ऐसा होता है। कभी-कभी लोग अस्पष्ट लिखते हैं ? इसलिए कि वे स्पष्ट सोच नहीं पाते। उनके मन की विश्लेषण की शक्ति अधिक नहीं है। अभ्यास के द्वारा यह दोष दूर किया जा सकता है। प्रत्येक प्रधान बात को अन्य गौण बातों से अलग करते हुए सोचिये और इस बात का ध्यान रखते हुए लिखिये कि प्रत्येक वाक्य में एक बात रहे।

एक गठे हुए अनुक्रमशील वाक्य की पहचान यह है कि मुख्य विचार को आप पकड़ कर शीर्षक के रूप में दे सकते हैं। चाहे विचार कई हों परन्तु उनका संबंध किसी एक विचार से होना चाहिये और उन्हें उसी विकसित करना चाहिये। वह विशेष विचार मुख्य विचार होगा।

अनुक्रमहीन वाक्य लिखने का एक कारण यह है कि विद्यार्थी कभी-

कभी एक शब्द से दो या कई शब्दों का काम करा डालना चाहते हैं या भिन्न-भिन्न वाक्य-समूहों को उलझा देते हैं।

बल की आवश्यकता इसलिए होती है कि कभी-कभी हम किसी विशेष विचार या उसके किसी विशेष अंग को महत्त्व देना चाहते हैं। कहीं-कहीं ऐसा बल देना आवश्यक हो जाता है। कई ढङ्ग से यह बल दिया जाता है—

(१) महत्त्वपूर्ण अंश के नीचे रेखा खींच दी जाती है या उसे टेढ़ी लिपि या टेढ़े टाइप में लिखा या छापा जाता है यह बल देने का भद्दा ढङ्ग है। निबंध में इसका प्रयोग करना अच्छा नहीं।

(२) वाक्य का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश उसके आरम्भ में होता है या अंत में। इसलिए यदि हमें बल देना है तो इन्हीं अंशों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात रक्खें।

(३) बल देने के लिए कभी-कभी दुहराना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इसका प्रयोग गद्य की अपेक्षा पद्य में ही अधिक होता है।

(४) बल देने का सबसे प्रभावशाली ढङ्ग वाक्योच्चय है। इसमें शब्दों, शब्द-समूहों, वाक्यांशों और वाक्यों को इस तरह रक्खा जाता है कि उसकी महत्ता या प्रभावोत्पादकता क्रमशः बढ़ती जाती है। क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण बात कही जाय जिससे पाठक की आकांक्षा अंत तक लगी रहे।

(५) बल देने के लिये कभी हिन्दी वाक्य रचना के सामान्य-क्रम में परिवर्तन भी कर दिया है।

वाक्य के सभी भागों की व्यवस्था कुछ इस प्रकार होनी चाहिये कि विचारों में स्पष्टता रहे। तर्क करते समय हमें अपने विचारों को इस प्रकार रखना होता है कि एक विचार दूसरे विचार का स्पष्ट कारण या फल हो। नहीं तो हमारे तर्क में अस्पष्टता आ जायगी। कुछ इसी तरह की बात वाक्य के संबंध में भी है। एक शब्द दूसरे शब्द में और एक वाक्य दूसरे वाक्य में संक्रमण करता रहे। यदि वाक्य संक्रमणशील नहीं है तो अनेक गुणों के होते हुए भी वह अच्छा वाक्य नहीं होगा।

वाक्य के अंश संक्रमणहीन हो जाने के कई कारण हैं :—

(१) वाक्य के विभिन्न भाग उचित स्थान पर न हों।

(२) कुछ शब्दों को दूसरे शब्दों के निकटतम होना होता है। सामीप्य के इस नियम का पालन न किया जाय।

(३) संयोजक शब्द ठीक स्थान पर न हों।

(४) क्रिया-विशेषण का प्रयोग उचित स्थान पर न किया जाय।

वाक्य के तीन भाग हैं—शब्द; शब्द-समूह और वाक्यांश। ये यदि ठीक स्थान पर हुए तो आशय स्पष्ट हो जाता है। यदि ठीक स्थान पर नहीं हुए तो अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना है। यदि अनिष्ट न भी हो तो यह सम्भव है ही कि अर्थ अस्पष्ट हो जाय। दूसरे, जिन विचारों का बहुत निकट का संबंध हो उनको जिन शब्दों से प्रकट किया गया है उन्हें पास रखना चाहिये। उनके बीच में अधिक जगह होने से विचार में अस्पष्टता आ जाती है। जैसे संबंध-वाचक सर्वनाम का उस संज्ञा-शब्द के पास रखना चाहिये जिसका संबंध वह दिखाता हो और विशेषण को विशेष्य के समीप।

वाक्य के दो रूप हैं—

(१) सुगठित वाक्य।

और (२) शिथिल वाक्य।

सुगठित वाक्य वह है जिसमें आकांक्षा अंत तक बनी रहे। उसका अर्थ उस समय तक पूरा नहीं होता जब तक वाक्य का गठन पूरा न हो जाय। ऐसे वाक्य के बीच में कहीं भी ऐसा स्थान न मिलेगा जहाँ आप विराम लगा सकें। बात स्वभावतः अंत में ही समाप्त होगी।

शिथिल वाक्य वह है जिसमें आकांक्षा को अटकाए रखने का यह नियम बरता नहीं जाता। ऐसे वाक्य का रूप इस प्रकार का होता है कि विशेषण वाक्यांश मुख्य वाक्यांश के पूर्ण होने के पश्चात् आते हैं और उनमें से कुछ (या वे सब) यदि हटा भी लिए जाएँ तो भी वाक्य व्याकरण के अनुसार शुद्ध रहेगा।

परन्तु यह नहीं सोचना चाहिये कि सभी शिथिल वाक्य बुरे और त्याज्य हैं। ऐसा होने की आशंका अवश्य रहती है परन्तु गठे हुए वाक्यों के बाद वे एक प्रकार का विराम भी दे सकते हैं और इसलिये उपयोगी हैं। अवसर

इस बात की है कि उनका प्रयोग उचित स्थान पर हो। यह ध्यान रहे कि एक ही तरह के वाक्यों से सारा निबंध न भर जाय।

वाक्य का विस्तार भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसका रूप। वाक्य लम्बा है या छोटा। यह बात विषय पर निर्भर है। गंभीर विषय पर लिखते समय छोटे-छोटे वाक्य ठीक रहते हैं, क्योंकि उनके द्वारा विचार की विवेचना खूब हो जाती है। सबसे अच्छी शैली यह है कि आवश्यकतानुसार, छोटे-बड़े वाक्यों का ऐसा क्रम रहे कि पढ़ने में अच्छा लगे, नीरसता न आए और विषय स्पष्ट हो जाय। यदि छोटे या बड़े किसी भी एक प्रकार के वाक्य लगातार आते चले जाएँगे तो यह वाञ्छनीय नहीं होगा।

वाक्य-संगठन के संबंध में हमने जो पीछे कहा है उसे संक्षेप में हम यहाँ पर लिखे देते हैं—

(१) लम्बे वाक्यों की अपेक्षा छोटे वाक्यों का प्रयोग करना अधिक अच्छा है।

(२) मिश्रित वाक्यों के स्थान पर अधिक से अधिक सरल साधारण वाक्यों का प्रयोग करो।

(३) किसी आशय को घुमा-फिरा कर न कहो। सीधे ढङ्ग पर लिखना सीखो।

(४) व्यर्थ के शब्दों का प्रयोग न करो। प्रत्येक शब्द को उसकी शक्ति भर काम कर लेने दो।

(५) विस्तार की अपेक्षा संक्षेप को पसंद करो। निबन्ध में केवल उतने ही शब्दों का प्रयोग करो जितने शब्दों का प्रयोग करना तुम्हारे लिए नितान्त आवश्यक हो जाय।

४. निबंध की रूपरेखा

निबंध लिखने से पहले यह आवश्यक है कि विद्यार्थी उस विषय में जितना सोच सकता है, सोच ले और यदि निबंध विचारात्मक है तो प्रयत्नपूर्वक उसकी सामग्री जुटा ले। इतना होने पर भी यदि वह थी ही

रूपरेखा बनाए बिना निबंध लिखने बैठ जायगा तो क्या होगा? उसका निबंध विशृङ्खल होगा। इससे अच्छा है कि वह अपने निबंध की रूपरेखा (ढाँचा) बना ले और उसमें महत्त्व के विचार से अपने आशयों का क्रम से रख ले। यह बात जरा कष्ट-साध्य है। परन्तु जो समय उसको रूपरेखा बनाने में नष्ट होगा वह उससे कहीं कम होगा जो निबंध के बीच-बीच में सोचने-समझने में लगेगा। दूसरे, रूपरेखा लिखते समय उसे उसका विषय और अधिक स्पष्ट हो जायगा। साथ ही प्रारम्भिक विचार के बाद रूपरेखा स्थिर कर चुकने पर वह अधिक विश्वस्त होकर अपने निबंध को लिख सकेगा।

किसी भी विषय पर रूपरेखा लिखने में इन नियमों का पालन करना चाहिए :—

(१) पहले उस विषय के मोटे-मोटे मुख्य अंग सोच लो और उन पर अपने विचार लिख लो। यह तुम्हारे प्रधान आशय होंगे। इन्हें संख्या से इस तरह सूचित करो—१, २, ३ इत्यादि। प्रत्येक संख्या के बीच में बहुत-सा स्थान छोड़ते जाओ।

(२) अब प्रत्येक संख्या के नीचे छूटे हुए स्थान में वह गौण विचार या भाव लिखो जो प्रधान आशय से स्वाभाविक रीति से विकसित होते हैं। ये गौण आशय कहलायेंगे। इनको अक्षरों से सूचित करो—क, ख, ग, घ, ङ इत्यादि।

(३) जब इस तरह प्रारम्भिक रूपरेखा बना चुको तो उसके प्रत्येक अंक पर ध्यान दो। यदि प्रधान या गौण आशयों में से कोई एक ठीक स्थान पर दिखलाई न दे तो क्रम बदल दो। यह देखो कि तुम्हारे गौण आशय प्रधान आशय को विकसित करते हैं या यों ही असम्बद्ध रहते हैं।

(४) जब इस प्रकार नई रूपरेखा, यदि आवश्यक हो और तैयार हो जाय तो उसे एक बार फिर देखो कि गौण आशयों और प्रधान आशय में मेल बैठता है या नहीं।

(५) अपने आशय को लिखते समय इस बात का ध्यान रक्खो कि वह बहुत संक्षेप में हो और उसमें कम-से-कम शब्दों का प्रयोग किया जाय।

परन्तु रूपरेखा से बँध जाना ठीक नहीं है। यदि निबंध लिखते समय दूसरी-दूसरी बातें सूझ जायें तो उन्हें उनके महत्व के विचार से उचित स्थान दो*।

निबंध की रूपरेखा के विषय में यहाँ एक बात और कह देना आवश्यक है। प्रायः पहली रूपरेखा में विषय के रखने का ढंग बहुत आकर्षक नहीं होता। इसलिए पहले बताए हुए ढंग से रूपरेखा लिखो, फिर उसमें इस प्रकार परिवर्तन करो कि उसमें विशेषता आ जाय। पहली रूपरेखा साधारण नियम के अनुसार बनी होगी और दूसरे विद्यार्थियों ने भी उसी ढंग से विषय का वर्गीकरण किया होगा। उसको इस तरह बदलो कि विषय नाटकीय अथवा आकर्षक ढङ्ग से उपस्थित किया जा सके और उसमें तुम्हारा अपना रंग हो, तुम्हारे व्यक्तित्व की छाप हो। कम-से-कम विषय के आरम्भ और विकास का ढंग असाधारण हो।

विवरणात्मक निबंध

विवरणात्मक निबंध का सम्बन्ध घटनाओं से होता है चाहे वह सत्य ही कभी घटी हो अथवा कल्पनात्मक हो। इस प्रकार इस परिभाषा में ऐतिहासिक निबंध, घटना-प्रधान निबंध, कथा-प्रधान निबंध आदि निबंध के कई भेद आ जाते हैं। इन घटनाओं को इस प्रकार लिखना होता है कि उनका कारण और उनके विभिन्न अंगों का संबंध स्पष्ट हो जाय।

किसी घटना को दो प्रकार से लिखा जा सकता है। लेखक उसमें भाग ले सकता है, अथवा उसमें भाग न लेकर दूर से उसे देखता रह सकता है। फिर यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी घटना का उसी क्रम से वर्णन करे जिस क्रम से वह घटी हो। उसे प्रभावोत्पादकता के विचार से क्रम में थोड़ा उलट-फेर करना या किसी सीमा तक अति-रंजित कर देना पड़ता है। इसमें कोई भी दोष नहीं है। जिस बात पर उसे विशेष ध्यान रखना चाहिये

*रूपरेखाङ्कन के अभ्यास के लिये इस पुस्तक में दी हुई रूपरेखाओं पर मनन करो।

वह यह है कि जो मनुष्य उस घटना में भाग लें, अब चाहे वह ऐतिहासिक हों, चाहे कल्पना-प्रसूत, उनके पूरे-पूरे चित्र इस प्रकार शब्दों में उतर आएँ कि उनका अपना व्यक्तित्व बन जाए।

इस प्रकार के निबन्ध में इस प्रकार चलना चाहिये :—

(१) पहले पद में उस स्थान का विवरण देना चाहिये जहाँ वह घटना घटी हो। विवरण संक्षेप में हो परन्तु वह कुछ इस तरह लिखा जाय कि पढ़ने वाला उसमें दिलचस्पी लेने लगे।

(२) इसके पश्चात् उस घटना की वीथिका दी जाए। उसका कारण क्या था ? किस प्रकार उसका सूत्रपात हुआ ?

(३) इसके बाद घटना के विभिन्न अंग हों। विवरण को स्पष्ट करने में जो बातें सहायक हों उनको विस्तारपूर्वक लिखना चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि विस्तार अरोचक न हो जाय।

(४) अंत तक घटना की रोचकता को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब आसक्ति अन्त तक बनी रहे। जिन बातों से फल का निर्देश होता हो उन्हें अन्त के लिए रख छोड़ना चाहिये।

परीक्षा में विवरणात्मक निबंध तीन प्रकार के पूछे जाते हैं :—

(१) किसी प्रसिद्ध मनुष्य के जीवन पर (जीवनी)।

(२) ऐतिहासिक घटनाओं पर।

(३) निबंध के रूप में आत्मचरित पर।

ऐतिहासिक घटनाओं की साधारण रूपरेखा इस प्रकार होगी :—

रूपरेखा

(१) भूमिका : घटनाओं की तिथि; घटना का स्थान; ऐसे ऐतिहासिक कारण जिन्होंने उस घटना को जन्म दिया।

(२) घटना का विकास और उसका विस्तृत विवरण।

(३) घटना का अंत; फल।

(४) घटना के विकास और फल पर विचार, उसके भीतर छिपा रहस्य या मनोविज्ञान।

यह यह है कि जो मनुष्य उस घटना में भाग लें, अब चाहे वह ऐतिहासिक हों, चाहे कल्पना-प्रसूत, उनके पूरे-पूरे चित्र इस प्रकार शब्दों में उतर आएँ कि उनका अपना व्यक्तित्व बन जाए।

इस प्रकार के निबन्ध में इस प्रकार चलना चाहिये :—

(१) पहले पद में उस स्थान का विवरण देना चाहिये जहाँ वह घटना घटी हो। विवरण संक्षेप में हो परन्तु वह कुछ इस तरह लिखा जाय कि पढ़ने वाला उसमें दिलचस्पी लेने लगे।

(२) इसके पश्चात् उस घटना की वीथिका दी जाए। उसका कारण क्या था? किस प्रकार उसका सूत्रपात हुआ?

(३) इसके बाद घटना के विभिन्न अंग हों। विवरण को स्पष्ट करने में जो बातें सहायक हों उनको विस्तारपूर्वक लिखना चाहिये परन्तु यह ध्यान रहे कि विस्तार अरोचक न हो जाय।

(४) अंत तक घटना की रोचकता को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब आसक्ति अन्त तक बनी रहे। जिन बातों से फल का निर्देश होता हो उन्हें अन्त के लिए रख छोड़ना चाहिये।

परीक्षा में विवरणात्मक निबंध तीन प्रकार के पूछे जाते हैं :—

(१) किसी प्रसिद्ध मनुष्य के जीवन पर (जीवनी)।

(२) ऐतिहासिक घटनाओं पर।

(३) निबंध के रूप में आत्मचरित पर।

ऐतिहासिक घटनाओं की साधारण रूपरेखा इस प्रकार होगी :—

रूपरेखा

(१) भूमिका : घटनाओं की तिथि; घटना का स्थान; ऐसे ऐतिहासिक कारण जिन्होंने उस घटना को जन्म दिया।

(२) घटना का विकास और उसका विस्तृत विवरण।

(३) घटना का अंत; फल।

(४) घटना के विकास और फल पर विचार, उसके भीतर छिपा रहस्य या मनोविज्ञान।

(१) जब आप किसी पशु-पक्षी या जड़-पदार्थ का आत्म-चरित लिख रहे हों, तो आपको कल्पना करनी चाहिये कि आप ही वह पशु, पक्षी व जड़-पदार्थ हैं। कल्पना कीजिए कि वह पशु, पक्षी या जड़ पदार्थ यदि अपने जीवन का वृत्त कह सकता है तो किस तरह कहता।

(२) प्रथम पुरुष में लिखिये।

(३) इस प्रकार के आत्म-चरित लिखते समय यह ध्यान रहे कि कोई बात अप्राकृतिक न हो। यदि आप किसी पशु—मान लीजिए, गाय—के संबंध में लिख रहे हों तो निबन्ध को इस प्रकार अंत करना ठीक नहीं होगा।

"एक दिन मैंने यह शरीर छोड़ दिया"

या

"मेरे मालिक के बच्चों ने मेरी मृत्यु पर बड़ा शोक किया। कमला ने तो कई दिन तक खाया नहीं।"

इस तरह के अन्त से निबंध की स्वाभाविकता को धक्का लगता है। मरने के बाद गाय अपनी कथा कैसे कह सकती?

(४) कोई ऐसी बात न लिखिए जो अप्राकृतिक हो या जो प्रति-दिन के अनुभव के बाहर हो। इस प्रकार के निबंधों में अपनी सूझ सीमित रखनी चाहिये। वही बात लिखिए जो संभव हो।

(५) कथा को यथासंभव मनोरंजक बनाना चाहिए। संभव हो तो थोड़ा-सा कथनोपकथन भी हो। भाषा में प्रवाह और प्रसाद गुण आवश्यक है। पढ़ते समय ऐसा लगे कि आप सामने बैठे हुए कहानी कह रहे हैं।

जीवन-चरित्र

भगवान् बुद्ध

१—जीवन-वृत्त—(क) जन्म-समय (५६८ पू० ई०)—(ख) माता-पिता, कुल गोत्र—(ग) बाल्यकाल—माँ की मृत्यु, धाया ने इन्हें पाला; किम्वदंतियाँ—(घ) विराग का उदय—जीवन के सत्य (दुख) से साक्षात्कार—(ङ) विवाह; पुत्र-जन्म; गृह-त्याग—(च) गया में

कठिन तपस्या के बाद मुक्ति-मार्ग की प्राप्ति। २—शाक्य मुनि गौतम का उपदेश। ३—बुद्ध की धार्मिक क्रांति समय की उपज थी। ४—कुशीनगर के समीप ८० वर्ष की आयु प्राप्ति होने पर तथागत की मृत्यु। ५—बुद्ध के धर्म का वास्तविक रूप, उसका महत्व।

भगवान् बुद्ध का नाम सिद्धार्थ था और गोत्र गौतम। उनका जन्म ५६८ पू० ई० के लगभग शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ। शाक्यों का राज्य आज-कल के नेपाल राज्य की तराई में फैला हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोधन था और माता का नाम महामाया। बौद्ध धर्म की पुस्तकों में उस उद्यान का नाम जिसमें बुद्ध का जन्म हुआ लुम्बिनी-वन लिखा है। इस स्थान पर अशोक की एक लाट खड़ी हुई है और यह कपिलवस्तु से अधिक दूर नहीं है।

ग्यारह दिन की आयु में सिद्धार्थ मातृहीन हो गये। उनका पालन-पोषण महामाया की छोटी बहन माया ने किया। महामाया की मृत्यु के बाद शुद्धोधन ने माया को पत्नीरूप में ग्रहण किया था और इसी से देवदत्त का जन्म हुआ जिसने सिद्धार्थ के जीवन में एक महत्वपूर्ण भाग लिया।

शाक्य-राजकुमार सिद्धार्थ के संबंध में कितनी ही किम्वदंतियाँ मिलती हैं। उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका शरीर सुन्दर था और उन्हें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ प्रचुर मात्रा में मिली थीं। उनके व्यक्तित्व के आकर्षण का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।

हमारे देश में तप का ऊँचा स्थान रहा है। बुद्ध के बाल-काल में कपिलवस्तु में जैन-अर्हत अवश्य रहे होंगे। संभव है बालक सिद्धार्थ के मन पर इनका प्रभाव पड़ा हो। कथा है कि वह अपने भृत्य छंदक के साथ कपिलवस्तु के चारों द्वारों पर गए और वहाँ उन्हें क्रमशः एक वृद्ध, एक रोगी, एक मृतक और एक सन्यस्त अर्हत के दर्शन हुए। इस प्रकार उन्हें जीवन के दुःखों से पहली बार भेंट हुई। उन्हें एक नये सत्य से साक्षात्कार हुआ।

इसके बाद से उनमें एकांत चिंतन की मात्रा बढ़ गई। वह सोचने लगे—दुःख, रोग, शोक सत्य हैं। इनका परिहार कैसे हो? पिता शुद्धोधन ने सिद्धार्थ की इस चिंता को दुःख से देखा। उन्हें भय हुआ कि सिद्धार्थ

कहीं संसार-त्यागी न हो जाय। उन्होंने यशोधरा से उसे ब्याह दिया। कुछ दिनों के लिए सिद्धार्थ की गंभीर चित्तवृत्ति जाती रही। एक दिन उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यह एक दूसरी बेड़ी थी। सिद्धार्थ ने अब यह निश्चय कर लिया कि वह दुःख के कारण और उसके उपचार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संसार छोड़ देगा।

आधी रात बीत रही थी। महल के राजपुरुष आमोद-प्रमोद से थक कर गहरी निद्रा में डूब चुके थे। आज सिद्धार्थ को वैभव और सुख की जंजीरों को तोड़ अपनी दुर्बलता पर विजय पाना था। वे सो न सके। उन्होंने रंगमहल के प्रधान कक्ष में झाँक कर देखा। मदिरापान, विलास और नींद में डूबी हुई सुन्दर नर्तकियाँ जड़, नग्न चित्रों की तरह अचेत पड़ी थीं। उनमें जुगुप्सा जाग उठी। वे यशोधरा के कक्ष में गए और नवजात शिशु और सोई हुई पत्नी को देख कर बाहर की ओर चले। अश्वशाला से उन्होंने छंदक को लिया और अपने प्रिय अश्व कंठक पर चढ़ कर वे किसी तरह नगर से बाहर हो गए। मोह की सोने की दीवारें झंकार करती हुई गिर पड़ीं।

नगर से बाहर आकर उन्होंने कंठक छंदक को सौंपा, अपने राजकीय वस्त्र उतार दिये और जिज्ञासु भिक्षु के भेष में अकेले आगे गए। उनका लक्ष्य गया का पुण्य-तीर्थ था जो उन दिनों ज्ञानी अर्हतों का केन्द्र हो रहा था। राजगृह से होते हुए वे वहाँ पहुँचे। वहाँ उरुविला के समीप नयरंजन नदी के किनारे एक वट-वृक्ष के नीचे उन्होंने अर्हतों के मार्ग—तप—का अनुसरण किया। अपने पाँच शिष्यों के साथ वह शरीर-कष्ट और एकांत साधना में लगे। उनका शरीर क्षीण हो गया, उसकी कांति जाती रही और वे कंकाल-मात्र रह गये। इस प्रकार उन्होंने छः वर्ष कठिन तपश्चर्या में बिताए। एक दिन उधर से कुछ ग्राम-युवतियाँ लोक-गीत गाती निकलीं। 'अपनी वीणा के तार ढीले मत छोड़। उनसे स्वर नहीं निकल सकेगा। अपनी वीणा के तारों को अधिक मत कस। अरे, उनसे स्वर नहीं निकलेगा। वे टूट जायँगे।' इस गीत से गौतम ने शिक्षा ली। उरुविला-ग्राम की लड़कियाँ नन्द और नन्द-बाला उसी समय खीर लेकर आईं और सिद्धार्थ ने उसे स्वीकार किया। उन्होंने कहा—शरीर को कष्ट देने से आत्मा सबल नहीं होती। उनके अनुगामियों

ने उन्हें छोड़ दिया। उन्होंने समझा यह राजकुमार था। इन भयंकर कष्टों से डर गया है। यह साधना-च्युत है।

गौतम ने अर्जुन वृक्ष की शाखाओं के सहारे झुक कर नदी में स्नान किया। तब वे फिर उस वृक्ष के नीचे आये और चिंतन में लगे। सहसा उन्हें ऐसा लगा कि उनको सत्य के दर्शन हुए हैं। उन्होंने जीवन-मरण का रहस्य समझ लिया था। उन्हें सांसारिक रोगों का निदान मिल गया। वे प्रबुद्ध हो गए। उन्होंने उस बोधि वृक्ष को छोड़ दिया और अपने नए ज्ञान के प्रचार के लिए निकल पड़े। उन्होंने अपने को 'बुद्ध' कहा। पहले वे उन पाँच शिष्यों से मिले जिन्होंने उन्हें तप-भ्रष्ट समझ कर छोड़ दिया था। उन्होंने बुद्ध के उपदेश को समझा और वे शीघ्र ही उनके मतावलंबी हो गए।

उन्होंने कहा था—'चार महान् सत्य हैं जिन्हें समझ लेना चाहिए। दुःख सत्य है। जन्म दुःखमय है; जरा दुःखमय है; रोग दुखमय है; मृत्यु दुख-मय है। जिसे हृदय प्रेम न करे उसे समर्पित होने में दुःख है। वियोग में दुःख है। अतृप्त वासना दुख का कारण है। संक्षेप में, अस्तित्व का मूल ही दुख है।'

हाँ, तो दुख सत्य है। उसका कारण ? बुद्ध ने कहा—मनुष्य की वासना, तृष्णा (तंहा)। यह तृष्णा मनुष्य को जन्म-मरण-चक्र पर घुमाए फिरती है। आकांक्षाएँ और सांसारिक वासनाएँ मनुष्य को पागल बना देती हैं। मनुष्य इन्द्रिय-सुख के लिए लालायित रहता है, उसे शक्ति की प्यास है, वह भोग चाहता है।

तो दुख और तृष्णा सत्य हैं। तीसरा सत्य यह है कि दुख का नाश हो सकता है। इच्छाओं का निग्रह करके वासना को दुर्बल कर दो। उसे कोई आश्रय न दो।

जिसने इन तीन मूलसत्यों को जान लिया, वह अर्हत हो गया।

परन्तु क्या जानना ही सब कुछ है ? क्या दुख को अस्तित्व का मूल मान कर हम निश्चेष्ट हो कर बैठे रहें। बुद्ध ने कहा—नहीं, अभी लक्ष्य दूर है। अर्हत निर्वाण-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हो। वह चौथे सत्य को समझे।

यह चौथा सत्य बताता है—मनुष्य को मध्यम-प्रतिपदा का पालन करना चाहिये। उसे आर्य-अष्टांग मार्ग पर चलना है जो मनुष्य की ओर ले जाता है।

उस समय यज्ञों और कर्मकांडों का बड़ा महत्त्व था। वर्ण-व्यवस्था में यज्ञ-कर्त्ता ब्राह्मणों का स्थान बहुत ऊँचा था। शूद्रों का वर्ण हेय समझा जाता था। कर्म-सिद्धांत की व्यवस्था कुछ इस प्रकार से की जाती कि मनुष्य के प्रयत्न को कहीं स्थान नहीं रहता। बुद्ध ने इस परिस्थिति का विरोध किया। उनका धर्म सरल जीवन का धर्म था। वे प्रकृति की ओर लौटना चाहते थे। उनके विचार में सुख-शांति की प्राप्ति उसी समय हो सकती थी जब जिज्ञासु तप और भोग की दो 'अतियों' को छोड़कर बीच का स्वस्थ मार्ग ग्रहण करे। फिर उनके धर्म में सब प्राणी बराबर थे।

धर्म के प्रचार के लिए बुद्ध ने भिक्षुसंघ की स्थापना की। उन्होंने वर्षों अधिक परिश्रम से उपदेश दिया। उनकी जीवितावस्था में ही उनका धर्म अनेक राज्यों का राजधर्म हो गया था। बौद्ध-धर्म के तीन प्रचार मन्त्र गूँज रहे थे धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि।

८० वर्ष की अवस्था में बुद्ध ने पावा के पास कुशीनगर स्थान पर शरीर छोड़ा। अंतिम समय तक वह भिक्षुओं को उपदेश देते रहे।

बुद्ध ने अपने समय के आदर्श से गिरे हुए भारत में एक बार फिर नैतिक आदर्शों की स्थापना की। उन्होंने वर्ण-भेद से ऊपर उठ कर मनुष्य को आशा का संदेश दिया क्योंकि बुद्ध का धर्म दुख का अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी निराशावादी नहीं है। रोगों की ओर से वह आँख नहीं मूँदता परन्तु उसके पास उनकी औषधि है, उनका उपचार है और इसीलिए वह विश्वस्त है। अब भी पूर्व के करोड़ों व्यक्ति उसके प्रकाश से स्वास्थ्य और बल पा रहे हैं।

महात्मा गांधी

१—प्रारम्भिक जीवन। (क) जन्म—२ अक्टूबर सन् १८६९; पोरबन्दर में। (ख) माता-पिता—करमचन्द्-पुतली बाई। (ग) घरेलू वातावरण और उसका प्रभाव। (घ) विद्याध्ययन; विवाह; विलायत

गमन । २—गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में; सत्याग्रह का जन्म । ३—गांधी जी भारत में । चम्पारन-खेड़ा आन्दोलन । १६१६ का सत्याग्रह । खिलाफत-आन्दोलन । १६२४ का उपवास । १६३० का नमक-कानून के विरुद्ध सत्याग्रह । ४—गांधी जी लन्दन में । साम्प्रदायिक निर्वाचन के विरुद्ध आमरण उपवास का निश्चय । हरिजन-आन्दोलन ५—गांधी जी का महत्व ।

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी हमारे युग के सबसे महान् पुरुष हैं। शरीर के दुबले-पतले, छोटे कद के इस आदमी ने, जिसमें नायक का परंपरागत कोई भी गुण नहीं है, परन्तु जिसे अपने लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान है और जिसे अपने ऊपर अगाध विश्वास है, सहस्रों वर्ष से सोते हुए एक महान् देश को जगा दिया है । राष्ट्र के कुचले हुए व्यक्तित्व में उसने आत्म-सम्मान की रूह फूंक दी है ।

गांधी जी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६६ को काठियावाड़ प्रदेश के पोरबन्दर राज्य में हुआ । उनके पिता का नाम करमचन्द था । लोग उन्हें 'कबा गांधी' कहते थे । यह पहले राजकोट, फिर बीकानेर के दीवान रहे । गांधी इन्हीं की चौथी पत्नी पुतलीबाई के सबसे छोटे पुत्र हैं ।

जिस घरेलू वातावरण में बालक गांधी का विकास हुआ, वह रूढ़िगत धार्मिक विचारों से भरा हुआ था । उनकी माता व्रत-उपवास और पूजापाठ में कठोर निष्ठा रखती थीं । गांधी जी अपने माता के प्रभाव को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं । कुटुम्ब जैन धर्म में दीक्षित था और इस धर्म का मूलमन्त्र ही अहिंसा था । गांधी जी के बाद के कार्यक्रम में अहिंसा को इतना महत्व-पूर्ण स्थान मिलने का कारण उनके कौटुम्बिक और पैतृक संस्कारों में ढूँढा जा सकता है ।

गांधीजी ने अपना विद्यारम्भ पोरबन्दर के स्कूल में किया । वे मन्द बुद्धि, लज्जालु और संकोच-शील थे । इस समय वे किसी भी तरह असाधारण नहीं कहे जाते । कुछ दिनों बाद कबा गांधी को राजकोट जाना पड़ा और वहीं इनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध हुआ । तेरह वर्ष की आयु में ही किशोर गांधी का विवाह हो गया । पढ़ाई में और भी बाधा पड़ने लगी । 'सत्य के प्रयोग'

नाम के अपने आत्मचरित्र में गांधी जी ने उस समय के आसक्ति-प्रमुख संस्मरण दिये हैं।

१८८७ में गांधी भावनगर के श्यामलदास कालेज में भरती हुए और उसी वर्ष सितम्बर में वह बैरिस्टरी पढ़ने विलायत चले गए। विलायत जाने से पहले उन्होंने अपनी माँ को वचन दे दिया था कि मांस-मदिरा और स्त्री से दूर रहेंगे और उन्होंने उसे भरसक निभाया भी। परन्तु फिर भी वे जाति बहिष्कृत कर दिये गये। उन दिनों समुद्र-यात्रा धर्माचरण के विरुद्ध मानी जाती थी और ऐसी समस्या पर इतना बवंडर उठता था जिसकी अब कल्पना भी नहीं हो सकती।

१८९१ में भारतवर्ष लौट कर गांधी जी ने राजकोट में वकालत शुरू की। उसमें वह असफल रहे। इसी समय पोरबन्दर के एक फ़र्म के ४० हज़ार पौंड के दावे में सहायक वकील के रूप में उन्हें अफ्रीका जाना पड़ा।

नेटाल में आते ही उन्हें कुछ ऐसे कटु अनुभव हुए जिससे उनकी राजनैतिक भावनाएँ जाग उठीं। इस प्रकार के कुछ अनुभव काठियावाड़ में भी हो चुके थे। यहाँ वर्ण-भेद और तीव्र था। काले-गोरे का प्रश्न दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों के जीवन पर एक लाञ्छन के रूप में लगा हुआ था।

एक दिन गांधी जी डरबन की अदालत में किसी मजिस्ट्रेट के सामने मुकदमे की पैरवी करने के लिये उपस्थित हुए। गोरे मजिस्ट्रेट ने क्षण भर उन्हें घूरा, फिर उनसे पगड़ी उतारने को कहा। यह अदालत के कमरे से बाहर निकल आये। पगड़ी उतारना भारत के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाना था। कुछ दिनों बाद उन्हें प्रीटोरिया की यात्रा करनी पड़ी। इस अवसर पर उन्हें यह भली-भाँति मालूम हो गया कि उनके साथ जो व्यवहार हुआ है वह अपवाद नहीं है, नियम है—कोई भी गोरा किसी काले को किसी प्रकार भी अपमानित कर सकता था। गांधी जी की पुस्तक का वह अंश जिसमें उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के अनुभव लिखे हैं, संसार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रक्खेगा।

समय काफ़ी हो गया था। मुकदमे का निर्णय नहीं हो रहा था। अंत में गांधी जी ने दोनों पक्षों में अदालत के बाहर ही समझौता करा दिया।

इस काम की समाप्ति पर वह डरबन लौटे परन्तु अफ्रीका नहीं छोड़ सके। उस समय नेटाल-सरकार व्यवस्थापक-सभा में एक बिल ला रही थी जिसके अनुसार भारतीयों से नागरिक के अधिकार छीने जाने वाले थे और नवागन्तुक भारतीयों पर नियंत्रण रक्खा जाता। मित्रों के कहने से गांधी जी ठहर गये। उन्होंने अफ्रीका-निवासी भारतीयों को इस बिल के विरोध के लिए संगठित करना प्रारम्भ किया। संगठन का काम बड़े ज़ोरों से चला और, इसी ने मई, १८९४ में नेटाल इंडियन कांग्रेस का रूप धारण किया।

नेटाल-सरकार की नई धारा विरोध चलता रहा। उस समय के उपनिवेश-सिक्रेटरी लार्ड रिपन के नाम एक प्रार्थना-पत्र भेजा गया जिस पर दस सहस्र हस्ताक्षर थे। १८९६ में गांधीजी भारत आये। यहाँ वे पहली बार जनता के सामने आये। उन्होंने दक्षिण भारतीयों का प्रश्न भारत के नेताओं के सामने रक्खा।

गांधीजी के कामों से नेटाल के यूरोपियन इतने चिढ़ गए थे कि जब गांधीजी डरबन लौटे तो उन्होंने उन्हें उतरने नहीं दिया। आठ सौ भारतीयों के साथ २३ दिन गांधी जी बन्दरगाह में बंदी रहे। फिर जब किसी तरह उन्हें उतारा भी गया तो उत्तेजित गोरों के जन-समूह ने उन पर आक्रमण किया। भाग्यवश पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्ट की पत्नी ने उनकी रक्षा की।

उन्हीं दिनों बोअर-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। उसमें गांधी जी ने स्वयं-सेवकों का संगठन किया और ब्रिटिश-सरकार की सहायता की। बोअर-युद्ध के बाद ट्रान्सवाल के भारतीयों की परिस्थिति बड़ी विषम हो गई। अतः गांधी जी ने डरबन के पास एक छोटे से आश्रम की स्थापना की और भारतीय निवासियों की माँगों का मुख पत्र 'इंडियन ओपीनियन' प्रकाशित करना शुरू किया। जुलू-विद्रोह में एक बार फिर स्वयंसेवक संगठित कर उन्होंने ब्रिटिश राज्य में अपना विश्वास प्रकट किया। १९०६ में ट्रान्सवाल सरकार ने अपना काला क़ानून पास कर दिया। तब गांधी जी के नेतृत्व में तीन सहस्र भारतीयों ने अहिंसात्मक रूप से उनके विरोध करने की शपथ ली। मगनलाल की सूझ पर गांधी जी ने इस सक्रिय विरोध का नाम सत्याग्रह रक्खा।

गिरफ़्तारियाँ हुईं परन्तु कुछ दिनों बाद जनरल स्मट्स ने समझौता कर

लिया और कानून रद्द कर दिया गया। परन्तु शीघ्र ही भारतीय विधि से किए गए विवाहों को अस्वीकार करने के विरोध में फिर सत्याग्रह आरम्भ हुआ। अनेक सत्याग्रहियों के साथ गांधी जी बन्दी हुए। भारत-सरकार के बीच में पड़ने से परिस्थिति बदल गई। समझौता हुआ और बन्दी छोड़े गए।

इसके बाद गांधीजी का कार्य-क्षेत्र भारत हो गया। उन्होंने आते ही चम्पारन के नील की खेती में काम करने वाले मजदूरों का प्रश्न लेकर अपने नये शस्त्र सत्याग्रह का प्रयोग किया। वे उसमें सफल हुए। खेड़ा में फसल नष्ट हो गई थी पर सरकार लगान माफ नहीं करती थी। फिर सत्याग्रह की घोषणा हुई। इस बार की विजय ने गांधी जी को भारतीय राजनीति की एक प्रधान शक्ति बना दिया। यूरोपीय महायुद्ध में भारत ने इङ्गलैण्ड की जो सेवा की थी, उसके फल-स्वरूप भारतीय शासन-क्षेत्र में परिवर्तन करने की चेष्टा की गई। रौलेट एक्ट बना। यह एक भुलावा मात्र था। इसके विरोध में एक देश-व्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। ६ अप्रैल १६१६ को सत्याग्रह की घोषणा हुई। अमृतसर में इसी दिन भयंकर हत्याकांड हुआ जो जलियाँ-वाले बाग के हत्याकांड के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ समय बाद वातावरण हिंसापूर्ण हो गया। अतः गांधीजी ने आन्दोलन बन्द कर दिया।

इसी समय अली बन्धुओं ने खिलाफत आन्दोलन शुरू किया। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का ध्यान रख कर इस आन्दोलन का सूत्र अपने हाथ में लिया। १६२० में असहयोग और खादी-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। १६२२ में गांधीजी बन्दी कर लिए गए परन्तु स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण अवधि से पहले छोड़ दिये गए।

१६२४ में दिल्ली में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। इसके प्रायश्चित में गांधीजी ने २१ दिन का उपवास किया।

१६२७ में सुधार-योजना के लिये साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई। इससे देश में बड़ा असन्तोष फैला। गांधीजी ने १६३० में नमक कानून के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया। ६ अप्रैल को गांधी जी स्वयम् पैदल चल कर समुद्र-तट पर डंडी के स्थान पर पहुँचे। इस बार सरकार ने दमन में कोई कसर नहीं छोड़ी। ५ मार्च सन् १६३१ में सरकार ने समझौता कर लिया।

छः मास पश्चात् कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए लंदन गए परन्तु वहाँ से निराश लौटे। फिर आन्दोलन शुरू हुआ। गांधीजी को यरवदा जेल में भेज दिया गया। सरकार अपना दमन-चक्र चलाने लगी। उसी वर्ष सरकार ने साम्प्रदायिक निर्णय की विज्ञप्ति निकाली। इसके अनुसार अछूतों को पृथक्-निर्वाचन का विशेषाधिकार दिया गया। गांधीजी वर्णभेद के विरोधी थे। उन्होंने इस निर्णय के विरुद्ध सरकार को लिखा और संतोष-पूर्ण उत्तर न मिलने पर आमरण उपवास का निश्चय किया। नेताओं में हलचल मच गई। पृथक् निर्वाचन रद्द हुआ।

इसके बाद गांधीजी ने अछूतों की दशा सुधारने के लिये हरिजन आन्दोलन आरम्भ किया। इधर कुछ वर्षों से वह कांग्रेस से अलग-से हो गए हैं। उनका लक्ष्य ग्राम-सुधार हो रहा है। फिर भी भारतीय राजनीति की बागडोर उनके हाथ में है।

१९३५ की सुधार योजना के बाद उनके कहने से कांग्रेस ने प्रान्तीय शासन चलाया। प्रान्तीय सरकारों ने मद्य निषेध, लगान में कमी आदि कितने ही उपयोगी काम भी किये। उधर गांधीजी ने एक बार और आमरण उपवास कर कार्यकर्त्ताओं का ध्यान देशी राज्यों की तरफ खींचा। वर्त्तमान युद्ध के आरम्भ होने पर हमारे शासकों ने प्रतिनिधि सभाओं से परामर्श किये बिना ही भारत को युद्ध के अग्निकांड में झोंक दिया; इसके विरोध में कांग्रेस महासमिति के आदेशानुसार मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये। "युद्ध हमारा नहीं है"—इस विषय को लेकर गांधीजी ने एक अभिनव ढंग का सत्याग्रह (व्यक्तिगत सत्याग्रह) चलाया। एक बार फिर सारी जेलें भर गईं। इस सत्याग्रह ने सारे संसार का ध्यान भारत की ओर आकर्षित किया। अंत में जेलों के द्वार खुले और सत्याग्रही बाहर आये। ऊँचे सरकारी क्षेत्रों में फिर सुधार की आवाज़ उठी। सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स भावी शासन की योजना लेकर स्वराज्य के दूत बनकर भारत आये परन्तु उनकी योजना को देशहित के विरुद्ध मानकर किसी भी दल ने उसे स्वीकार न किया। अब यह सिद्ध हो गया कि सरकार भारत को किसी भी प्रकार स्वतंत्र करने के लिये तैयार नहीं

है। गांधीजी पर इन नई चालों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इन्होंने अपील की है कि ब्रिटिश सत्ता भारत छोड़ कर चली जाये, नहीं तो उन्हें सामूहिक सत्याग्रह के अस्त्र को सँभालना पड़ेगा। अधिकारी डिगते नहीं जान पड़ते। इधर गांधी जी अपने अंतिम युद्ध की रूपरेखा बना रहे हैं।

महाकवि तुलसीदास

१—जयन्ति ते सुकृतिनो। २—जीवन-वृत्त—(क) जन्म—राजापुर ग्राम (जिला बाँदा) में १५६८ सं० में (ख) माता पिता—आत्माराम-हुलसी (गर्भ लिए हुलसी फिरे) (ग) बाल्यजीवन—परित्यक्त थे। भिक्षावृत्ति करते थे। नरहरि अपने साथ सूकर खेत ले गये। (घ) दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से विवाह। आसक्ति। अनश्रुति। पत्नी द्वारा प्रबोध और विरक्ति। (ङ) पर्यटन। (च) मानस की रचना। (छ) वृद्धावस्था—बाहुपीड़ा—'बाहुक' की रचना। (ज) मृत्यु—संवत् सोरह सौ असी, असी घाट के तीर। ३—ग्रन्थ—नहछू, बरवै, जानकी पार्वतीमङ्गल, गीतावलियाँ, विनय-पत्रिका आदि। ४—महत्व का कारण—युगद्रष्टा कवि। जनभाषा में नैतिक आदर्शों से भरा ग्रंथ लिखा। विभिन्न मतों और सम्प्रदायों में सामञ्जस्य—उनकी भक्ति—उनकी कविता की उत्कृष्टता। ५—"मानस इतिहास में महाकाव्य और महाकाव्य में इतिहास है।"

आज यदि पूछा जाय—भारतवर्ष का सबसे अधिक लोकप्रिय कवि कौन है? तो यह कहने में शायद किसी को भी संकोच न हो—तुलसी। और यदि कोई पूछे—पिछले पाँच-सौ वर्ष की हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ कौन-सा है? तो भी संकोच के बिना एक ही उत्तर मिलेगा—तुलसी का मानस। तुलसी और मानस हमारी अमर निधियाँ हैं जिन पर हमें गर्व है। कहा भी है—जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः नास्ति येषां यशः काये जरामरणजम् भयम्॥

गोस्वामी तुलसीदास के जीवन के विषय में हमें बहुत थोड़ा ज्ञान है।

इसका कारण यह है कि स्वयम् उन्होंने अपने संबंध में बहुत कम लिखा और उनके भक्तों ने जो लिखा उसमें धार्मिक श्रद्धाभाव की तृप्ति के लिए गढ़ी हुई किम्वदंतियाँ इतनी अधिक हैं कि सत्य का रूप विकृत हो गया है। कवितावली और विनय-पत्रिका में आत्मग्लानि के रूप में तुलसी ने अपना थोड़ा उल्लेख किया है जिससे उनके जीवन-वृत्त पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। साधारणतया उनका जन्म राजापुर ग्राम, जिला बाँदा में सम्वत् १५८९ में माना जाता है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। इस सम्बंध में रहीम का वह दोहा प्रसिद्ध है जिसका अंतिम चरण यों है—गर्भ लिए हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय। जन्म का नाम कदाचित् रामगुलाम था (राम बोला नाव हौं, गुलाम रामसाहि को—कवितावली)। कहा जाता है कि इनकी माता ने इनके जन्म के दो-चार दिन पश्चात् ही शरीर त्याग दिया था और अभुक्त मूल में जन्म लेने के कारण वे घर से निकाल दिये गए थे। (मातु पिता जग जाय तज्यो—कवितावली)। जो हो, यह माता-पिता के स्नेह से वंचित रहे। बालपन बड़े कष्ट में बीता। पेट की ज्वाला शांत करने के लिये द्वार-द्वार भीख माँगते फिरते थे।

कदाचित् इसी समय वैष्णव साधु नरहरि से इनकी भेंट हुई और वे इन्हें अपने साथ सूकर खेत लिवा गये जहाँ उन्होंने इन्हें राम-नाम की दीक्षा दी। उस समय राम-कथा इनकी समझ में नहीं आती थी।

तुलसीदासजी के गृहस्थ जीवन के संबंध में बड़ा मतभेद है। जनश्रुति तो यह है कि इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ और इन्हीं रमणी-श्रेष्ठ के तिरस्कार से इन्हें प्रबोध हुआ। एक बार रत्ना मातृगृह चली गई। उसका वियोग इन्हें असह्य हो गया। विषम प्राकृतिक कठिनाइयों का सामना करते हुए वे नदी पार करके पत्नी के प्रकोष्ठ पर चढ़े। प्रबुद्धा रत्ना ने व्यंग किया—

अस्थि चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम में, होत न तौ भव-भीति॥

आसक्ति का रूप विरक्ति ने ले लिया। गुरु नरहरि के बोये बाल्य-काल के संस्कार उभर आये और तुलसी विरागी हो गए।

गृहत्याग के पश्चात् ये चित्रकूट, प्रयाग, काशी, अयोध्या आदि स्थानों में पर्यटन और सत्संग करते रहे। सम्वत् १६३१ में 'नौमी भौमवार मधुमास' को 'अवधपुरी' में इन्होंने अपनी अमरकृति रामचरित मानस का प्रारम्भ किया। लगभग ३ वर्ष में उसे उन्होंने समाप्त किया परन्तु इसके बाद भी वर्षों तक उसका संशोधन और परिवर्द्धन करते रहे।

गोस्वामी जी ने लंबी आयु पाई थी। 'जरठाइ दिशा रविकाल उग्यो' आदि पंक्तियाँ इस ओर संकेत करती हैं। वृद्धावस्था में इन्हें किसी भयंकर रोग से पीड़ित होना पड़ा जिससे मुक्त होने के लिये 'बाहुक' की रचना की। कवितावली के अंतिम छन्दों में इस समय का बड़ा कारुणिक वर्णन है (पाँय पीर, पट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर, जरजर सकल सरीर पीरमई है।)

जीवन की संध्या में इन्हें यश की प्राप्ति भी हुई जिसके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं परन्तु मृत्यु ने अधिक अवकाश नहीं दिया। जनश्रुति के अनुसार श्रावण शुक्ला सप्तमी (कोई-कोई श्रावण श्यामा तीज भी मानते हैं) के दिन सम्वत् १६८० में असी घाट के गंगातट पर इन्होंने साकेत-धाम के लिए प्रयाण किया।

मानस और बाहुक के अतिरिक्त जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, तुलसीदास जी ने १० ग्रन्थ और भी लिखे। वे ये हैं:—रामलला नहछू, बरवै रामायण, जानकी-मंगल, रामाज्ञा प्रश्न, दोहावली, कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली, पार्वतीमंगल। इन ग्रन्थों का विषय क्रमशः रामचरित्र, कृष्णचरित्र और शिवकथा है। इनमें काव्य की दृष्टि से मानस के बाद विनय-पत्रिका और कवितावली का स्थान आता है। ये ग्रन्थ किस क्रम से लिखे गए, इस विषय में अभी खोज हो रही है। उसके पूरा हो जाने पर कवि की प्रतिभा के विकास के सम्बंध में प्रकाश पड़ेगा।

तुलसी और उनकी कृतियों की महत्ता क्या है? तुलसी का जन्म ऐसे युग में हुआ जब हिन्दू जाति देव-भाषा संस्कृत को खो चुकी थी। जन-साधारण के सामने नैतिक और सामाजिक व्यवस्था रखने वाला कोई ग्रन्थ जनता की भाषा में नहीं लिखा गया था। फल यह हुआ था कि चारों ओर अराजकता थी। देश विलासता और अकर्मण्यता में डूब रहा था। हिन्दू आचार-

विचारों पर इस्लामी संस्कृति और सूफ़ीमत का रंग था—कुछ इसलिए कि इस्लाम इस समय राजधर्म था, कुछ इसलिए कि तुलसी के अग्रगामी अवधी के सूफ़ी कवियों (जायसी आदि) और संतों ने 'कहानी, आख्यान' कह कर एक बीच की लीक चलाई थी जो विजेता के मत की ओर अधिक झुकती थी। भक्ति का आविर्भाव तो हो गया था परन्तु उसका जो रूप ब्रज में वल्लभ संप्रदाय वालों द्वारा प्रचार पा रहा था, उसमें कर्त्तव्य-परायणता और सदाचार के उच्च आदर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। उसकी जड़ लौकिकता में नहीं थी। उसमें मोह और आसक्ति की प्रधानता होने के कारण वह कभी भी कलुषित हो सकता था।

गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी का चरित्र जनता के सामने रक्खा। उनके राम 'मर्यादा के पालने वाले' थे। अपने युग की उच्छृङ्खलता के आगे तुलसी ने आदर्श की सौम्य परन्तु तेजस्वी मूर्त्ति खड़ी की। उन्होंने संयम का पाठ पढ़ाया। हमारे लौकिक संबंध कैसे होने चाहिए ? राम-सा पुत्र हो, भरत-सा भाई हो, लक्ष्मण-हनुमान सा सेवक हो। पत्नी का आदर्श सीता और मन्दोदरि, पिता के आदर्श दशरथ, प्रजापालक राजा के आदर्श राम। उन्होंने रोग को पहचाना और ठीक उपचार किया।

तुलसी उन सभी मतों के प्रति सहिष्णु थे जिनका मूल हिन्दू सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं था। उन्होंने भिन्न भिन्न मतों और वादों में सामञ्जस्य स्थापना करने की चेष्टा की। काशी में शैव, शाक्त और वैष्णवों से पारस्परिक कलह से बवंडर उठ रहा था। उन्होंने अपनी कृति में ऐसी योजना की कि विभिन्न-मतावलंबियों के इष्टदेवों को उचित स्थान मिला और पारस्परिक सहानुभूति बढ़ी। उन्होंने साम्प्रदायिक भेद-भाव को दूर कर और पाखण्ड का खंडन कर मृतप्राय हिन्दू जाति को राम-कथा की संजीवनी दी।

मानस का गंभीर अध्ययन करने से यह पता चलता है कि कवि मनो-विज्ञान का कितना बड़ा पंडित था। उसने प्रचलित धारणाओं का विरोध नहीं किया वरन् उन्हें ऊँचे अधिक नैतिक स्तर पर उठा कर शुद्ध कर लिया। उसने समाज के प्रत्येक वर्ग को समझा, सब के लिए एक संदेश दिया और रामराज्य के सपने को विदेशी राज्य के मुक़ाबले के विरोध में उपस्थित किया।

उसका रामचरित मानस हिन्दू संस्कृति का कोष है या हिन्दू-हृदय का दर्पण है। उसमें जिस विनयशील, निरभिमानी, भक्त कवि के दर्शन होते हैं उसके आगे मस्तक नत हो जाता है।

धन्य हैं तुलसी और उनका अनन्य भाव! धन्य है उनका चातक-हृदय! 'चितव की चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।' यह विनयशील तो 'सिया-राम मय सब जग जानी' कह कर विरोधी देवता को भी प्रणाम कर लेता है।

तुलसीदास जी की भक्ति दास्य भाव की थी। वे अपने को सदा राम का दास मानते थे। इस दास्य भावना ने इष्टदेव के प्रति समर्पित उनकी पुष्पांजलियों को कितना स्निग्ध बना दिया है।

वे कवि थे, कवि से भी बड़े भक्त थे। उनकी रचना में मानव जीवन का जैसा सूक्ष्म निरीक्षण है, उसके विभिन्न अंगों का जो मेल बिठाया गया है, उसकी गहराइयों में जितनी पैठ है, वह अन्य किसी कवि में नहीं मिलती। उनकी कृतियों में हृदय के इतने तत्व हैं, रस का इतना सुन्दर परिपाक है, अलंकारों की ऐसी समयानुकूल सुष्ठु योजना है कि पाठक उनमें डूब जाता है और उनके कवित्व में परमात्मा की विभूति के दर्शन करता है।

पिछली तीन शताब्दियों में मानस की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। राजमहलों से लेकर मज़दूरों की कुटियों तक—जहाँ हिन्दू-हृदय है वहीं तुलसी और उनकी कृति का स्थान है। उनकी प्रतिभा देश, काल, पात्र से परे की चीज़ है। वर्तमान युग के एक कवि ने उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए लिखा है:—"मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्रीसीताराम की पुण्य-स्मृति चिरन्तन सुप्ति में जाग्रत है।"

श्री मैथिलीशरण गुप्त

१—भूमिका। २—(क) जन्म; माता-पिता, परिवार; पारिवारिक वातावरण। (ख) इनके प्रवेश करने के समय हिन्दी-काव्य की क्या दशा थी? (ग) 'भारत-भारती' का राष्ट्रीय कवि। (घ) प्राचीन गौरव

का नायक। (ङ) गुप्त जी की रचनाएँ और उनकी दिशा। (च) प्रौढ़ कवित्व; प्रकृति की ओर उनका दृष्टिकोण। (छ) उनकी स्त्री पात्रियाँ—यशोधरा, ऊर्मिला, कैकेयी, कौशल्या। ३—आर्य संस्कृति के रक्षक; ईश्वर-विश्वासी कवि; मानवता के उपासक। ४—युग के प्रतिनिधि कवि।

जिस दिन श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भारत-भारती की यह पहली पंक्तियाँ लिखीं :—

मानस-भवन में आर्य-जन जिनकी उतारें आरती।
भगवान, भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥

उस दिन खड़ी बोली हिन्दी की भारती ने केवल एक नई काव्य दिशा ही नहीं ग्रहण की वरन् उस नवीन राष्ट्रवाणी को जन्म दिया जो आज देश के कंठ में एक नवीन शक्ति और एक नया उल्लास भर रही है। आज कवि की कामना फलीभूत हुई है। उसकी भारती घर-घर गूँज रही है।

गुप्तजी का जन्म सावन सुदी ३ सम्वत् १६४३ में चिरगाँव झाँसी के एक वैश्य-परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम सेठ रामचरण था। वे राम-भक्त थे। घर में वैष्णव-भक्ति की धारा प्रवाहित हो रही थी। अवश्य ही गुप्त जी पर प्रभाव पड़ा और आज हमें उनका एक वह रूप भी मिलता है जिसमें एक वैष्णव राम-कवि के रूप में दर्शन होते हैं।

गुप्तजी ने जिस समय कविता करना प्रारम्भ किया उस समय तक खड़ी बोली का भविष्य निश्चित नहीं हुआ था। रत्नाकर, शंकर, सत्यनारायण आदि कितने कवि ब्रजभाषा में लिख रहे थे और उनका विश्वास था कि वही काव्य की मान्य-भाषा हो सकती है। खड़ी बोली में जो थोड़ी बहुत कविता हुई भी थी, वह केवल प्रयोग की दृष्टि से। उसमें नीति के उपदेश भले ही हों परन्तु पाठक की आत्मा को स्पर्श करने वाले रसपूर्ण स्थल कम थे। सौभाग्य-वश इसी समय गुप्तजी का प्रवेश हुआ। वे आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपर्क में आये और उन्होंने हिन्दी काव्य को एक नई दिशा दी। अब तो काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का ही एकाधिकार है, नए-नए भावों की व्यंजना के लिए नए-नए ढंगों का प्रयोग हो रहा है परन्तु काव्य-

भाषा में इस दशा तक पहुँचने के लिए जो शक्ति अपेक्षित थी, उसके उत्पन्न करने का श्रेय गुप्तजी को ही है।

हिन्दी-कविता में राष्ट्र को पहले-पहल इन्हीं की कविता में स्थान मिला। 'भारत-भारती' में कवि ने राष्ट्रीय शंख-ध्वनि की। उसने देश-वासियों की वर्त्तमान हीन दशा पर आँसू बहाए और भविष्य के आशापूर्ण-प्रभात की ओर इङ्गित किया। इसके बाद की रचनाओं में भी गुप्त जी का राष्ट्रीय संदेश हमें मिलता रहा है।

'भारत-भारती' की रचना करते समय गुप्तजी का ध्यान भारत के अतीत गौरव की ओर भी गया। राष्ट्र के उत्थान के लिए उसमें आत्मविश्वास पैदा करने की आवश्यकता होती है। उसे बताना होता है कि उसका भूत कितना उज्ज्वल था। यही गुप्तजी ने किया। उन्होंने अपनी कथावस्तु भारतीय इतिहास के सभी ऐसे अंशों से ली जो हिन्दुत्व की रक्षा करते हुए अतीत का स्वर्णचित्र हमारे सामने रखने में समर्थ थे। उनकी कविता में हमें छः मुख्य दिशाएँ दिखलाई पड़ती हैं—(१) राष्ट्रीय (भारत-भारती और फुटकर कविताओं में); (२) महाभारत सम्बन्धी (जयद्रथ-वध, बक-संहार, सैरन्ध्री और उनके नवीन महाकाव्य द्वापर में); (३) राम-काव्य-सम्बन्धी (पंचवटी, साकेत आदि में); (४) बौद्ध कालीन (अनघ, यशोधरा आदि में); (५) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक सम्बन्धी (गुरुकुल, सिद्धराज आदि में) और (६) पौराणिक (शकुन्तला, चन्द्रहास और तिलोत्तमा में)।

गुप्तजी की रचनाएँ उनके हिन्दू हृदय की उपज हैं जिन पर समसामयिक अनेक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा है। वे राष्ट्रीय उत्थान के प्रभात के कवि हैं। १९१९ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन का जन्म हुआ। अहिंसा के सत्य को स्वीकार किया गया। इसने हमारे लेखकों का ध्यान बुद्ध और उनके काल की ओर फेरा। फल-स्वरूप हमें 'अनघ' और 'यशोधरा' के दर्शन हुए; 'प्रसाद' के नाटक मिले। यह आन्दोलन नैतिकता प्रधान था, इसीसे गुप्तजी की सभी कृतियों में चारित्रिक बल की शिक्षा दी गई है।

'पंचवटी' में हमें पहली बार गुप्तजी के प्रौढ़ कवित्व के दर्शन होते

हैं। इस पुस्तक में उन्होंने लक्ष्मण के चरित्र को एक नूतन ढङ्ग से देखा। 'पंचवटी' में राम के आदर्श कुटुम्ब का जो रूप हमें मिलता है, वह हृदय को एकदम मुग्ध कर लेता है। उन्होंने प्रचलित कथा में कुछ इस तरह के परिवर्तन किए जो चरित्र को विकसित और कथानक को नवीन दृष्टिकोण से सामने रखने में सहायक होते हैं। यहीं पहले-पहल हमें प्रकृति का सुन्दर, संवेदना-शील, मनोरम वर्णन मिलता है। वह पंचवटी की कथा का इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

> चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
> श्वेत वसन-सा बिछा हुआ है अवनि और अम्बरतल में॥
> पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
> मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥

जो नैसर्गिक, सरल, आह्लादक और प्रसाद-पूर्ण चित्र हमें इसमें मिलता है वह उस समय के हिन्दी-काव्य में मिलना असंभव ही है। साकेत और द्वापर में हम इसी के विकसित रूप को देखते हैं।

आदर्श और शीलकी जो व्यंजना गुप्तजी की स्त्री-पात्रियों में हुई है, वह अन्य स्थान पर नहीं मिलेगी। यहाँ वह भारत की आत्मा को व्यक्त कर सके हैं। इन पंक्तियों में स्त्री की कितनी पूर्ण व्याख्या है:—

> 'अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
> आँचल में है दूध और आँखों में पानी!'

यशोधरा के मुख-पृष्ठ की ये पंक्तियाँ उनके सारे नारी-चरित्रों की पृष्ठभूमि का काम दे सकती हैं। उन्होंने काव्य की उपेक्षिताओं (उर्मिला और यशोधरा) के प्रति अपनी स्नेह-सिक्त श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं; मातृ-भावना-प्रबल चिर-अभिशप्त कैकेयी के प्रबल पक्ष को हमारे सामने रक्खा है, त्यागमयी कौशिल्या के पावन चरणों की ओर इङ्गित किया है।

राष्ट्रीय कवि गुप्त आर्य संस्कृति और वैष्णवधर्म के प्रेमी हैं। उनके सभी पात्र आदर्श हैं। वे हँसते-हँसते जीवन की कटुता को भूल जाते हैं। उन्हें निराशा का स्पर्श नहीं होता क्योंकि गुप्तजी-जैसा ईश्वर-विश्वासी कवि

निराशावादी हो ही नहीं सकता। उनके हृदय का विश्वास उनके पात्रों को विपरीत परिस्थितियों में भी दृढ़ रखता है। वे मानव चरित्र के दिव्य गुण के उपासक हैं। उनके साकेत के राम इतने मानव हैं कि उनका रामोपासक हृदय प्रश्न ही कर बैठता है—'राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि युग की विभिन्न धाराओं के चित्र हमें गुप्तजी की रचनाओं में मिलते हैं। उन्होंने भारत के अधिक से अधिक हृदयों की बात कही है और इसीसे वे युग के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं।

पश्चिमी विचारों का इतना आयात होने पर भी हमारा देश मूल रूप में कुछ भी बदला नहीं है। उसका हृदय आज भी त्याग, अहिंसा, तप, श्रम आदि नैतिक आदर्शों के लिए भूखा रहता है। भारत की इस सीधी-सादी, सरल प्रकृति के दर्शन हमें महाकवि की रचनाओं में मिलते हैं। स्वयम् उनका व्यक्तित्व हमें भारत के एक साधारण कृषक की याद दिलाता है। घुटनों तक ऊँची धोती, लटकता हुआ कुर्ता, बड़ी-सी पगड़ी। आज हिन्दी उन्हें पाकर धन्य है।

ऐतिहासिक निबन्ध

सिपाही विद्रोह या भारतीय स्वतंत्रता का संग्राम

१—भूमिका—'सन ५७ का बलवा'। २—उस समय की परिस्थितियाँ। ३—विद्रोह की जड़—लार्ड डलहौजी की नीति। दत्तक के संबंध में कम्पनी का स्वेच्छाचार। ४—सेना में असंतोष और उसके कारण। तत्कालीन कारण; विद्रोह का प्रारम्भ। ५—विद्रोह का विकास; उसकी असफलता। ६—असफलता के कारण। ७—क्या वह स्वतंत्रता का संग्राम था?

भारतवर्ष के इतिहास में सन् १८५७ ई० बहुत ही प्रसिद्ध है। इसी वर्ष यहाँ वह प्रसिद्ध घटना हुई जिसे अँग्रेज इतिहासकारों ने 'सिपाही विद्रोह' का नाम दिया है। साधारण जनता में सन् ५७ का बलवा लोकोक्ति

की तरह प्रसिद्ध है । भारत के वर्त्तमान अँग्रेज़ी शासन से संबद्ध होने के कारण इस घटना का महत्त्व और बढ़ जाता है ।

आख़िर यह सत्तावन का बलवा है क्या ? क्या इसका संबंध केवल कुछ सैनिक मात्र से था ? संयुक्त प्रांत, आगरा, अवध, और मध्यभारत में एक ही साथ यह सशस्त्र आन्दोलन कैसे उठ खड़ा हुआ ?

उस युग की कल्पना करने से इस घटना की वीथिका का चित्र स्पष्ट हो जाता है । अँग्रेज़ी हुकूमत की जड़ एक प्रकार हिन्दुस्तान में जम ही गई थी । दिल्ली का मुग़ल सम्राट, बूढ़ा, निकम्मा बहादुरशाह, चाटुकारों और कवियों में घिरा हुआ अपने जीवन के अन्तिम दिन काट रहा था । वही मुग़ल शान, वही वैभव, परन्तु जली हुई रस्सी की ऐंठ की तरह । अवध में वाजिद-अली शाह 'इन्दर सभा' का नाटक देखते, भूल-भुलैयों में सैकड़ों स्त्रियों से घिरे हुए चुहल करते, कविता लिखते, सुनाते और दाद लेते । पंजाब की स्वाधीनता की लौ सन् १८४६ की २४ वीं मार्च को ही लुप्त हो गई थी । मराठों का हिन्दू राज्य स्थापित करने का स्वप्न एक नई विदेशी शक्ति ने नष्ट कर दिया था ।

यह थी पृष्ठभूमि । देश एक शक्ति के हाथ से निकल कर दूसरी शक्ति के हाथ में धीरे-धीरे चला जा रहा था । लोगों पर शस्त्र थे, उनमें संगठन नहीं था । लोगों में योग्य नेता भी थे परन्तु उनके साथ उनका स्वार्थ भी था । इस पृष्ठभूमि पर अराजकता, नए शासकों की नृशंसता, शक्ति-च्युत वर्गों का असन्तोष ।

विद्रोह की जड़ में लार्ड डलहौज़ी की नीति काम कर रही थी । उन्होंने उत्तराधिकार के नये नियम चलाए । सन्तान न रहने पर गोद लेने का अधिकार छीन लिया और राज्य अँग्रेज़ी-शासन में मिला लिया । इससे प्राचीन राजाओं और वंशावलियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखने वाले भारत-निवासियों के हृदय में चोट लगी । मनु पराशर ने दत्तक का विधान किया था । लोगों ने इसे धार्मिक हस्तक्षेप समझा ।

डलहौज़ी कूटनीतिज्ञ था । यदि आतंक द्वारा, न्याय का स्वांग भरते हुए ही एक सारा देश लाल रँग जाए तो गोली-बारूद क्यों नष्ट की जाय ?

इसी नीति का अनुकरण करते हुए १८४८ में सितारा ब्रिटिशराज्य का भाग बना लिया गया। कुछ दिनों बाद विधवा रानी लक्ष्मी बाई की एक न सुन कर झाँसी निगला गया। इसी प्रकार १८५४ में नागपुर। थोड़े ही दिनों के अन्दर मराठों के तीन प्रधान राज्य हड़प कर लिए गए। यही नहीं, पूना के पेशवा बाजीराव को ८ लाख वार्षिक वृत्ति मिलती थी। १८५१ में उनकी मृत्यु पर उनके दत्तक पुत्र श्री धुन्धुपन्त नाना साहब का उस पेंशन पर कोई भी स्वत्व मानने से 'आदरणीय कम्पनी सरकार' ने इन्कार कर दिया।

विदेशियों की बर्बरतापूर्ण नीति और आचार-विचार से आचार-प्रधान भारत निवासियों को उनके प्रति अश्रद्धा थी। समय पलट रहा था; यदि सब काम स्वाभाविक रूप से होता तो सब कुछ इतना आकस्मिक अतः अरुचिकर न लगता। फल यह हुआ कि विजित और विजेता जातियों में द्वेष और सन्देह के भाव भर गए और अंत में इनका परिणाम बड़ा ही भयानक हुआ। कई स्वार्थों और संस्कारों को एक साथ धक्का लगा और अचानक एक विस्फोट हुआ।

यह विस्फोट अपनी सामग्री धीरे-धीरे इकट्ठा कर रहा था। अनेक कारणों से सेना असंतुष्ट थी। वेतन की वृद्धि का प्रश्न था; नए-नए अफसरों के कटु व्यवहारों के प्रति प्रतिकार की भावना थी; क्रीमिया युद्ध की प्रतिक्रिया और समुद्र पार भेजे जाने की आशंका थी। उस पर पंडितों और मुल्लाओं ने इस असंतोष को धार्मिक रूप देते हुए भड़काया। जिन राजनैतिक शक्तियों और व्यक्तियों को स्थान-च्युत कर दिया गया था, वे सामने आए और उन्होंने अनुभव-जन्य सैनिक चतुरता के साथ स्वतन्त्रता की उपासना की घोषणा की। इस प्रकार एक दृष्टिकोण से भारतवर्ष ने पहली बार परतन्त्रता का अनुभव किया और नींद से चौंक, भड़भड़ा कर उठ खड़ा हुआ।

विद्रोह का तात्कालिक कारण 'ब्राउन-बेस' की जगह नई बन्दूकों का व्यवहार करना था। खबर मिली कि उनमें चर्बी मिले हुए टोटे से काम लिया जायगा। लोगों में गाय की चर्बी और सुअर के घिसे के प्रयोग की बात उड़ी।

विद्रोह का प्रारम्भ बंगाल के बेरमपुर बारक के हिन्दुस्तानी सिपाहियों

से हुआ परन्तु शीघ्र ही अंबाला और मेरठ की छावनी में इसने उग्र रूप धारण कर लिया। जाति-बहिष्कार के डर से सैनिक नई कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार करते, सख्ती करने पर पलटनें की पलटनें विद्रोह कर जाती, रक्तपात होता। भारतवर्ष से अङ्गरेज़ों को दूर करने का संकल्प दृढ़ता पकड़ता गया। सिपाहियों में जन्म लेकर स्वतन्त्रता की यह भावना हिन्दू-मुसलमान जनता में फैली।

उत्तरी भारत में आन्दोलन का सूत्र मेरठ में ९वीं मई को २री पलटन के सिपाहियों ने किया। फ़िरंगियों के विरुद्ध एक भीषण बवंडर उठ खड़ा हुआ। जो आग बरसों से भीतर ही भीतर सुलग रही थी; वह एकाएक मेरठ में धधक उठी और क्रमशः उसकी चिनगारियाँ उड़-उड़ कर भारत के कोने-कोने में पहुँचने लगीं।

सन ५७ के शुरू के कई महीने बीतने पर दिल्ली के मुसलमानों में बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी। ११वीं मई को मेरठ के विद्रोही सिपाही जमुना के किनारे आ पहुँचे। यहाँ भी हत्याकांड हुआ। बूढ़े सम्राट के नाम पर विद्रोही सैनिकों ने बड़े उत्साह और निर्दयता से हत्याकांड और अग्निकांड जारी रक्खे। फिर तो विद्रोह की यह दावाग्नि सारे मध्य भारत में फैल गई। अनेक भयंकर और मर्मस्पर्शी घटनाएँ हुईं। इनमें कानपुर-कांड सबसे प्रसिद्ध है। इसमें नाना साहब का हाथ भी बताया जाता है परन्तु बहुत संभव यह है कि उन्हें बहुत कुछ परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली बनना पड़ा हो। यह अवश्य है कि उनके हृदय में भारत को अतीत के स्वर्ण सिंहासन पर बिठाने की चिन्ता थी। बनारस, लखनऊ आदि अनेक स्थानों के विद्रोही अराजक सफल हुए।

परन्तु परस्पर के द्वेष, फूट और अविश्वास के कारण यह सशस्त्र क्रांति भारत को स्वतंत्र करने में सफल नहीं हो सकी। उसका संचालन किसी केन्द्रीय शक्ति के हाथ में न था। पंजाब, नैपाल, बंगाल और मद्रास से अँग्रेज़ी सेनाएँ आईं और स्थान-स्थान पर उन्हें कठोर युद्ध करना पड़ा। भाग्य देश के विरुद्ध था। युद्ध हुए। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और तांतिया जैसे देश-भक्त शहीद हुए। लाखों हिंदू-मुसलमान विजयी अंग्रेज़ी सेना की

बदला लेने की प्रवृत्ति के शिकार हुए। अँग्रेजी सेना-नायकों ने दमन के लिए जिस बर्बरता-पूर्ण निरंकुशता का आश्रय लिया, वह किसी भी सभ्य जाति के ऊपर लाञ्छन होगी।

प्रश्न यह होता है कि क्या सशस्त्र विद्रोह स्वतन्त्रता का संग्राम था। भारतीय देशभक्त लेखकों ने उसे यह नाम दिया है। यह अवश्य है कि उन दिनों राष्ट्रीय भावना का वह रूप किसी प्रकार जनता के सामने नहीं हो सकता जो आज है, परन्तु उस समय जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम जनता मिल गई थी उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि लोगों में स्वतन्त्रता की भावना का बीज पड़ चला था।

आत्मकथात्मक निबन्ध

एक बूँद की आत्मकहानी

मेरा जन्म एक बड़ी सुन्दर पहाड़ी में एक झरने के यहाँ हुआ। मेरी बहुत-सी बहनें थीं। वे सब की सब बड़ी चंचल प्रकृति की थीं। मैं समझती हूँ कि अपने घर में सब से गंभीर मैं ही थी। लोग कहते थे, मुझे अपने छोटे गोल-मटोल शरीर के सौंदर्य का गर्व हो गया है परन्तु उनके इस कहने में थोड़ी भी सच्चाई नहीं थी। हाँ, मैं और बहनों-सी नहीं थी। मैं जीवन और संसार के संबंध में बहुत पहले से विचार करने लगी थी। इससे मुझे यह समझ पड़ता है कि मेरी प्रकृति भी कुछ ऐसी थी। क्या आप मनुष्य कहलाने वाले प्राणियों के घरों में यह बात नहीं देखते? वहाँ भी कभी-कभी ऐसी लड़कियाँ देखी गई हैं जो हँसने-बोलने में ही जीवन नहीं बिता देना चाहतीं। उन्हें भी लोग गर्वीला कहते हैं, परन्तु यह तो अपनी-अपनी आदत है, अपने-अपने रास्ते हैं।

परन्तु यह संसार सोचने-समझने का अवसर किसको देता है? वह तो क्रियाशील है। हमें भी जन्म लेते ही संसार के कर्मक्षेत्र में उतरना पड़ा। हमारे घर का दृश्य कितना सुन्दर था। वह अब भी मेरी आँखों के सामने है।

हमारे पहाड़ी घर से कुछ दूर एक छोटी-सी झील थी। मुझे याद है कि मेरी बहनें वहाँ जाकर खेल करने के लिए उतावली रहतीं। वे मुझे उसकी कहानियाँ सुनातीं और मुझे वहाँ चलने को कहतीं। एक दिन वह वहाँ चल ही पड़ीं और मुझे भी साथ ले गईं। यह एक बड़ी भूल थी। परन्तु जैसे कहा गया है जब दुर्दिन आने को होते हैं तो बुद्धि भी चली जाती है। पहले तो हम एकदम झील के तल में चले गए। मैंने देखा कि वह देश बहुत सुन्दर है। वह मेरे लिए बिल्कुल नया था। वहाँ बड़ी शीतलता थी। मेरे पैरों के नीचे हरा, काई का फर्श बिछा हुआ था। परन्तु मुझे उन जलचरों को देखकर भय हुआ जो इधर-उधर दौड़ रहे थे। सचमुच वे बड़े भयंकर थे।

परन्तु हमें देर तक वहाँ नहीं रहना पड़ा। न जाने कैसे अपनी बहनों के साथ मैं ऊपर आ गई। तब सूर्य की कठिन किरणों ने हमारे शरीर को बेधना शुरू किया। मुझे बेहद पीड़ा हुई परन्तु साथ ही मुझे ऐसा भी जान पड़ा कि मैं हलकी हुई जा रही हूँ और मेरे पंख लग गए हैं। मैं नहीं जानती कि मेरी बहनों की क्या दशा थी, क्योंकि मैं अचेत हो रही थी। मैं समझती हूँ कि वे अपनी मूर्खता पर दुखी हो रही होंगी।

मैंने कहा है कि मैं अपनी बहनों से अधिक गम्भीर थी। कई दिन बाद मेरी पीड़ा कम हुई और मैंने शीतलता का अनुभव किया तो मैं सोचने लगी कि आखिर मैं कहाँ हूँ। मैंने नीचे दृष्टि डाल कर देखा। ओह! मैं पृथ्वी से बहुत ऊपर आकाश में उड़ रही थी। नीचे मेरा घर था। मेरी माता मेरे लिए व्याकुल हो रही थी परन्तु मैं हृदय से चाहने पर भी नीचे उतर नहीं पाती थी। मेरी बेबसी पर कभी-कभी मुझे रोना आ जाता।

परन्तु एक दिन मैंने बहुत ठंड का अनुभव किया। कहीं से कुछ मिले कि मैंने देखा—मिट्टी का एक कण मेरी ओर आ रहा है। मैं उससे चिमट गई और उसे लिए-लिए उड़ने लगी। मैंने देखा, मेरी तरह कितने ही और साथी घूम रहे हैं। मैं चिल्ला-चिल्ला कर कहती—अरे ठहरो! मेरी बात तो सुनो! क्या हम नीचे नहीं उतर रहे हैं? परन्तु सुनता कौन? शायद हम

ठहर भी नहीं सकते थे। फिर दूसरे-तीसरे दिन हम पास आ गए और हमने अपनी दुख-सुख की गाथा कह कर अपना हृदय हलका किया।

हवा का एक झोंका आया। हमारे सिरों पर भयंकर शब्द होने लगा। मैंने देखा—हम नीचे जा रहे हैं, परन्तु अलग-अलग। मेरे कई परिचित भी मेरे पास ही तेज़ गति से नीचे उतर रहे थे। मैंने कहा—मुझे अपना हाथ दो। परन्तु इतना अवकाश नहीं था।

नीचे हमें प्यासी पृथ्वी मिली। मैंने हिसाब लगाया तो मालूम हुआ हम कई महीने आकाश में विचरते रहे हैं। हाय, मेरी बहनें! उनका तो मुझे पता नहीं चला। मैंने अनुभव किया, मैं अपनी सारी शक्ति से अपने को नीचे जाने से नहीं रोक सकती। परन्तु सहसा मैं रुक गई। रास्ते में एक वृक्ष की जड़ मिल गई थी। उसने मुझे रोका। मैं उसमें होकर बरबस ऊपर चढ़ने लगी। यह मुझे बुरा भी लगा क्योंकि पेड़ मुझे खींच रहा था और यह उसकी ज़बरदस्ती थी।

यह मैं ज़रूर कहूँगी कि मैंने उस वृक्ष के भीतर बड़े-बड़े आश्चर्य देखे। दिन भर मैं कितने ही बड़े-छोटे कमरों में घूमती रही। शाम होने पर मैंने अपने को एक पत्ते की खिड़की के पास बैठा पाया। सहसा, खिड़की खुली और मैं एक बेहूदी क़ैद में से निकल भागी।

अब मैं फिर आकाश में थी। मैं समझ रही थी कि मुझे फिर बहुत ऊँचा उठना पड़ेगा परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मैं समझती हूँ कि मैं इस बार काफ़ी भारी थी। दिन भर की थकान से मैं उनींदी हो रही थी। सुबह हुई तो मैंने अपने को घास पर एक बड़े मोती के रूप में पाया।

अब क्या होगा? मैं सच कहती हूँ कि मुझे अनुभव काफ़ी हो चुके थे और अब मुझे और अनुभवों की कोई इच्छा नहीं थी। वह जीवन भी कैसा जिसमें रोमांस ही हो, हम एक जगह बैठ ही न सकें? परन्तु सुबह होते ही सूरज की एक तेज़ किरन आई और अपने सोने के रथ में बिठा कर मुझे फिर आकाश की ओर ले गई*।

---

*रूपरेखा बनाने का प्रयत्न कीजिये।

जीर्ण वस्त्र की जीवनी

एक दिन, लम्बी और गर्म साँस छोड़कर जीर्ण वस्त्र बोला—

आज आप सन्ध्या-समय की सिन्दूरी सुन्दरता से सिर से पैर तक सराबोर देखकर अपनी सुख-दुखमय और विविध घटनापूर्ण आत्मकथा सुनाने का साहस करता हूँ। आशा करता हूँ कि आप भी उसे सुनने को इच्छुक होंगे।

स्वर्ग-सुख और नारकीय यातना, शशि की शीतल चाँदनी और सूर्य की प्रचण्ड तपन, सुबह के समीर का हास और सन्ध्याकाल की नीरव उदासीनता, रमणी का कटाक्ष और दूकानदार के दलाल का विकट विलोकन, हाँ, इतना सब कुछ आप मेरी जीवन-गाथा में पाइएगा। मैं तो एक खाकसार चीज़ हूँ। भला तुच्छ वस्तु की जीवनी को कौन लेखक लिखने बैठेगा? मिट्टी ही में मिलने वाले मनुष्य के लिए मैंने अपने आपको आजीवन अर्पण कर रक्खा है। आप ही कहिए, इस आत्म-संतोष के लिए और क्या आवश्यक है।

मैं अपने पूर्व-जन्म की रामकहानी को उल्लेख करने योग्य नहीं समझता। खेत में किसान का बीज बोना, कपास के पौधे का फूलना और फलना इत्यादि विस्तृत विवरण करने बैठूँ तो अन्त नहीं होगा। मेरा जन्म तो उस समय हुआ था, जब 'स्वदेशी-आन्दोलन' की धारा वेग से बह रही थी। लोगों के दिल स्वदेशी के लिए जाग रहे थे, जी रहे थे और जल रहे थे। देशी-वस्त्र धारण का जौहर-व्रत यहाँ के नर-नारी ले रहे थे; इसलिए मेरा शैशव स्वदेश में ही व्यतीत हुआ। शिक्षित होने और नवीन सभ्यता का सबक सीखने के लिए लण्डन और लंकाशायर की यात्रा का सौभाग्य या दुर्भाग्य मेरे नसीब में नहीं बदा था। दयामयी भारत माता के कृपालु कोमल कर-कमलों की थपकियों से मेरा पालन-पोषण आरम्भ हुआ। माता का मुझ पर कृपा-कटाक्ष, सुदर्शन-रूप चरखा के मधुर संगीत की धारा में स्नान, स्नेह, वात्सल्यमय हस्त का सुखस्पर्श, और उससे उत्पन्न मीठी गुदगुदी, लोरियाँ गा-गाकर सुनाना, इत्यादि उस अल्प समय के सुख और अभिमान का अनुभव मुझे छोड़कर और किसी को न होगा। मेरा दिल पिघल गया, और मैं बहुक्षीरा गो की गर्म्मी दुग्ध-धारा के समान स्नेह-सूत्र रूप में बहने लगा,

जिस पर उस चन्द्रमुखी के स्मित हास्य की चाँदनी चमक रही थी। देवी ने गाया कि मैं क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न ऐश्वर्य-रूपी सुधा हूँ और इस देश की दारिद्रय पिपासा को बुझाने के लिए पैदा हुआ हूँ। ओह! मैं अपने उस स्वर्गीय शैशव को कभी नहीं भूल सकता।

शैशव बीत गया। अब मुझे मालूम होने लगा कि मेरे साथ कड़ाई का बर्ताव किया जा रहा है। मेरी शिक्षा के लिये मुझे एक अध्यापक—जलाहे—के हाथ सौंप दिया। उसके यहाँ, गुरुकुल में, जो-जो कष्ट उठाने पड़े, उनका वर्णन नहीं हो सकता। मेरी यातना तो असह्य थी। बहुत दिनों की बड़ी मार-पीट और खींचतान के बाद मैं एक साड़ी बनकर निकला। उस गाँव में मुझ स्नातक को रखकर सेवा लेनेवाला कौन था? तब मैं बंबई भेजा गया। मैं गवर्नमेण्ट की किसी युनिवर्सिटी से निकला हुआ छैल-छबीला बना ठना उपाधिधारी—ग्रेजुएट—तो था नहीं, मोटा ताज़ा और भद्दा था, मेरे रोम-रोम में स्वदेशीपन कूट कूट कर भरा था। विश्व-पूज्य गांधी बापू की कृपा से एक युवती ने मुझे चुन लिया। वह एक सुन्दर कुमारी थी; मैं पुलकित हुआ। मेरे ओठों पर मीठी मुस्कुराहट खेलने लगी।

अब मेरा आगे का हाल घटनापूर्ण है। उस कुमारी ने मुझे पवित्र प्रेम की दुनिया दिखाई। अपने प्रेमी के आगमन की प्रतीक्षा में वह घण्टों खड़ी रहती है। कभी कुछ देर होती, तो उसकी बड़ी-बड़ी आँखों से उमड़ कर आँसू की बूँदें छलक पड़तीं। धड़कते हुए हृदय को ढाढ़स बाँधने और टप-कते हुए आँसुओं को पोछने का सौभाग्य मुझ भाग्यवान् ही को मिला, प्रणयी के आते ही उसके लज्जायुक्त मुखमंडल को आवरण करने का काम भी मेरे सुपुर्द किया गया। प्रणयी युगल के बीच में दोनों को अभिन्न न होने देने का महत्वीय कार्य मेरे लिए खुशी की बात थी। दोनों के बीच में पड़ कर और रस-रंग में गोता लगाकर बसन्त के उत्कृष्ट उल्लास को मैंने भोगा। अब मैं पहले-जैसा नहीं रह गया था। जीर्ण हो चला था। एक दिन उस सख़्तदिल युवती ने मुझे एक बूढ़ी भिखारिन के हाथ में दे दिया। यह था मेरा स्वर्ग से पतन! मेरी आशा का अन्त हो गया। अब उस दीन-दुखिया की सेवा, सादा जीवन, और मुक्ति-मार्ग की चिन्ता में फँसा। उस बूढ़ी के

साथ-साथ मैंने भी कई श्रीमंतों के दरवाजे अपना छोर फैला कर भीख माँगी है। अन्न तो मुट्ठी से भी कम और गालियाँ पेट भर मिला करती थीं। रहने का घर नहीं, खाने को अनाज नहीं, पीने को कोई पानी तक नहीं देता था। भाइयो और बहनो! और धर्म के ढोंगियों! अगर तुम्हारी दया की एक बूँद भी हमारे सूखते हुए कंठ में पड़ जाती तो उस दिन दुनिया-दुनिया रहती और तुम मनुष्य बने रहते।

उस बूढ़ी भिखारिन ने प्यास और भूख से तड़प-तड़प कर खेत में प्राण छोड़ दिये। बेचारी नदी में पानी पीने जा रही थी। चार क़दम भी न चली कि बेहोश होकर मुँह के बल गिर पड़ी। कई लोग उस राह से होकर आ-जा रहे थे; लेकिन किसी के हृदय में उस तड़पते हुए सूखे गले को सींचने की दया न आई। उसके प्राण निकलते समय का कराहना सुन 'यह कैसा असगुन है' कह कर एक बेरहम इन्सान ने अपना मुँह फेर लिया और चलता बना। आज शौक़, फैशन और राग-रंग की आधुनिक सभ्यता के सुरीले रागालाप को सुन-सुन कर मनुष्य के कान में दीन का आर्त्तनाद कैसे पड़ेगा?

अब मैं अकेला हो गया, किसी ने मुझे न अपनाया। वहाँ से उड़ता-फिरता अपनी रामकहानी को फैलाने का प्रयत्न करता रहा; पर मेरी बात सुनने के लिए संसार में हृदय और कान है कहाँ? अपने उजड़े जर्जर जीवन की वीणा के तार बजा कर मैं अपना अन्तिम संगीत गा रहा हूँ*।

वर्णनात्मक निबंध

वर्णनात्मक निबंध में कल्पना का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के निबंधों में किसी वस्तु-विशेष, दृश्य-विशेष या आकृति विशेष का ठीक-ठीक चित्र उतारना होता है। इसके लिये दो बातें अपेक्षित हैं:—

१—लेखक की दृष्टि इतनी सूक्ष्म और वस्तुओं के भीतर पैठने वाली हो कि वह समर्थ विषय या पदार्थ का बहुत सूक्ष्म निरीक्षण करे।

*डी० माकुरियम (हंस से)—रूपरेखा बनाने का प्रयत्न कीजिए।

२—उसकी कल्पना-शक्ति इतनी प्रौढ़ हो कि वह कभी देखी हुई वस्तु को लिखते समय उसका मानसिक चित्र अपनी आँखों के सामने बना कर रख सके। कल्पना-शक्ति जितनी अधिक होगी, मानसिक चित्र उतना ही स्पष्ट और गहरा उतरेगा।

इस प्रकार के निबंध लिखने में इस बात का ध्यान रक्खो—जब तुम किसी वस्तु का वर्णन कर रहे हो तो उस वस्तु या दृश्य को अपने सामने कल्पित कर लो और उसे इस तरह लिखो जैसे तुम उसे ध्यान से देखकर उसका वर्णन किसी मित्र से कर रहे हो। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि तुम्हारी निरीक्षण की शक्ति तेज़ हो। जब तक तुमने किसी वस्तु का (उदाहरण के लिये सुबह, शाम, सन्यासी, महाराजा लो) सूक्ष्म निरीक्षण नहीं किया है तब तक तुम न उसकी कल्पना ही कर सकते हो, न उसका ठीक-ठीक वर्णन कर सकते हो।

निरीक्षण के उपरांत जिस चीज़ की सबसे अधिक आवश्यकता वर्णनात्मक निबंध में पड़ेगी वह चुनाव है। किसी दृश्य को तुम पूरा-पूरा विस्तार से तो दे नहीं सकते। फिर प्रश्न यह होता है कि उसकी कौन-कौन-सी बात निबंध में दी जाय। अधिक विस्तार थका देता है। वर्णन ऐसा हो कि कम शब्दों में अधिक से अधिक स्पष्ट चित्र बनता हो; विस्तार कम हो, उससे इशारा ज्यादा होता हो। निबन्ध का सौन्दर्य दृश्य या चित्र या वस्तु के अंगों के उपयुक्त चुनाव पर है। वर्णनात्मक निबंध फ़ोटोग्राफ़ी से भिन्न है, वह चित्रकला के अधिक निकट है।

वर्णनात्मक निबंध में शब्दों, विशेष कर विशेषणों और विशेषण वाक्यों का चुनाव बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वर्णन 'शब्द-चित्र' होता है। चित्रकार-रंगों का प्रयोग करता है, लेखक शब्दों का। किसी-किसी एक ही शब्द में इतनी शक्ति होती है कि उसके उचित प्रयोग से एक पूरा चित्र हृदय पर उतर आता है।

इस प्रकार के निबन्ध में अलंकारों का प्रयोग भी समीचीन है, विशेषतया उपमा आदि अलंकारों का जो समानता पर आश्रित रहते हैं। इनसे चित्र या दृश्य का प्रभाव कई गुना बढ़ सकता है।

(१) इस बात का ध्यान रक्खो कि तुम्हारा उद्देश्य पाठक के हृदय पर उस वस्तु या दृश्य का चित्र अंकित कर देना है।

(२) दृश्य या वस्तु को पास से देखो, सूक्ष्म रीति से उसका निरीक्षण करो और जैसी दीख पड़े वैसा वर्णन कर दो। अपने वर्णन को काव्यमय न बनाओ, न अतिरंजित करो।

(३) अधिक विस्तार न दो। जहाँ विस्तार से वस्तु का रूप स्पष्ट होता है, वहाँ अवश्य वह अपेक्षित है।

(४) वर्णन के विभिन्न अंग, चाहे वे संक्षेप में दो, चाहे विस्तृत, इस क्रम से रक्खे जाएँ कि उनसे एक स्पष्ट चित्र बनता हो।

(५) चित्र को सफल, स्पष्ट और प्रभाव-पूर्ण बनाने के लिये उपयुक्त शब्दों का प्रयोग करो।

(६) वर्णन में चित्रमयता लाने के लिये उपमा, उत्प्रेक्षा आदि साम्य के आधार पर बने हुए अलंकारों का प्रयोग कर सकते हो।

परीक्षा में जो वर्णनात्मक निबंध दिये जाते हैं वे इस प्रकार विभाजित किए जा सकते हैं :—

(१) प्रकृति के संबंध में

(२) नगर, हर्म्य, प्रासाद, उपवन इत्यादि के संबंध में

(३) मेलों, त्यौहारों और उत्सवों के संबंध में

(४) विशेष जातियों, संस्थाओं या वर्गों के संबंध में

प्राकृतिक दृश्य—

रूपरेखा

(१) साधारण वर्णन

(२) विशेष विवरण

(३) हृदय पर उसका प्रभाव

(४) उसके संबंध में किसी कवि या लेखक का उदाहरण

नगर-वर्णन—

रूपरेखा

(१) स्थिति—क्या किसी नदी पर बसा है, या पहाड़ी की तलैटी में, या समतल पर ?

(२) नगर का इतिहास तथा अन्य कोई महत्त्व—क्या वह ऐतिहासिक स्थल है ? वह किसी व्यवसायी या व्यापारिक केन्द्र के निकट है ? उसका महत्त्व क्या है ?

(३) जलवायु—क्या वहाँ जलवायु शुद्ध रखने का प्रबंध है ?

(४) शिक्षा के केन्द्र—जनता के बौद्धिक विकास के लिए कौन-कौन संस्थाएँ हैं ?

(५) ऐतिहासिक या अन्य प्रकार से रोचक या महत्त्वपूर्ण स्थान हर्म्य, प्रासाद आदि ?

(६) जनसंख्या—कौन-कौन जातियाँ रहती हैं ? उनका परस्पर का संबंध कैसा है ? उनका स्वभाव क्या है ? उनका रुझान किस ओर है ? व्यवसाय आदि क्या हैं ?

(७) नगर के संबंध में अन्य बातें। आस-पास के नगरों से तुलना या प्रांत में उनका महत्त्व।

रूपरेखा

(१) भूमिका

(२) विशेष मेले, त्योहार या उत्सव की ऋतु और तिथि

(३) उसका रूप क्या है ?

(४) वह क्यों मनाया जाता है ? क्या उसके मूल में कोई परंपरा है, और है तो उसका कारण क्या है ?

(५) उसके संबंध में परंपरा से चली आती हुई रूढ़ियाँ, जन-श्रुतियाँ ; उसका महत्त्व

(६) उसकी तैयारी; उसके आयोजन की विधि

(७) राष्ट्रीय जीवन को ध्यान में रखते हुए उससे क्या हानि-लाभ हैं ?

(८) समाप्ति

विशेष जातियों, संस्थाओं और वर्गों के संबंध में—

रूपरेखा

(१) भूमिका

(२) उनका ऐतिहासिक मूल; उस विशेष जाति, संस्था या वर्ग के संगठन के पीछे की भावना और उसका क्रमिक विकास।

(३) वर्त्तमान काल में उससे संबंध रखने वाली विशेषताएँ

(४) राष्ट्रीय जीवन में उसका स्थान

(५) कुछ ऐसे उल्लेख जो उस जाति, संस्था या वर्ग के आदर्शों के ऊपर प्रकाश डालते हैं।

वर्णनात्मक निबंध का क्षेत्र बहुत बड़ा है। सच तो यह है कि हम जो प्रतिदिन बातें करते हैं या लिखते-पढ़ते हैं उसका एक बहुत ही बड़ा भाग वर्णन से संबंध रखता है। इन्द्रियाँ वस्तुओं को जिस रूप में ग्रहण करती हैं, उस रूप को उसी क्रम से दूसरे के सामने उपस्थित कर देना एक बड़ी कला है, परन्तु हममें से लगभग सभी किसी न किसी रूप में यह करते रहते हैं। आप कहीं जाने वाले हैं। ट्रेन छूट गई है। घर लौट रहे थे कि इक्का लौटते-लौटते बचा। बादल घिर रहे थे, बरस पड़े। घर पहुँचते ही आप अपनी इन कठिनाइयों को अपने इष्ट-मित्रों और संबंधियों पर प्रगट करेंगे। आप जो कुछ कहेंगे उसका आशय यही होगा कि आप उन विशेष-विशेष परिस्थितियों का चित्र दूसरे के सामने रख दें। आपका ढंग ऐसा होगा जिसे हमने वर्णनात्मक कहा है।

संसार के कथा-साहित्य का एक बड़ा भाग वर्णनात्मक है। ललित निबंधों का विषय भी बहुधा वर्णनात्मक रहा करता है। इसलिए आपको चाहिये कि आप महान् उपन्यासकारों और कहानी लेखकों की रचनाओं का अध्ययन करें और उनके वर्णनात्मक भागों पर विशेष ध्यान दें। यह अध्ययन आप में सुरुचि उत्पन्न करेगा, आपको बताएगा कि वर्ण्य वस्तुओं के किन भागों पर बल देना होता है और थोड़े से शब्दों में चीज़ का पूरा खाका किस तरह उतर सकता है।

खेलकूद

फुटबाल का खेल

१—भूमिका। २—खेल के मैदान का विस्तार। ३—खेल की आवश्यकताएँ। ४—उसकी योजना। (क) खिलाड़ी मैदान को कई भागों में बाँट लेते हैं। (ख) विभिन्न भाग के खिलाड़ियों के कर्त्तव्य। (ग) खेल के नियम; नियमों के पालन न होने पर प्रतिबन्ध। (घ) रेफ़री, लाइन-मेन; निर्णायक। ५—फुटबाल के खेल के लाभ—(१) शारीरिक। (२) मानसिक। (३) नैतिक। (४) सामाजिक। ६—फुट-बाल के खेल से हानियाँ। ७—अन्य खेलों से तुलना।

मैदान में खेले जाने वाले खेलों में फुटबाल बड़ा ही रोचक और स्वास्थ्य-प्रद है। यों यह भारतीय खेल नहीं है; उसका जन्म इङ्गलैंड और स्काटलैंड में हुआ परन्तु आज संसार भर में उसका प्रचलन है। अन्य खेलों से उसमें झंझट कम है, दुर्घटनाओं की आशंका भी अधिक नहीं है और सामान जुटाने में भी अधिक व्यय नहीं होता।

फुटबाल का खेल घास के मैदान में खेला जाता है। पहले खेल के स्थान को ठीक किया जाता है। स्थान का समतल होना आवश्यक है। लंबाई १०० गज़ और चौड़ाई ६० गज़ हो। इस प्रकार लंबाई चौड़ाई का अनुपात ५—३ होता है और इसी अनुपात से खेल के मैदान का क्षेत्र घटाया या बढ़ाया जा सकता है।

इस खेल की आवश्यकताएँ क्रिकेट और हाकी के खेलों की तरह बहुत अधिक नहीं हैं। एक चमड़े की गेंद जिसके भीतर रबड़ का एक ब्लेडर हो, इस खेल के लिए काफी है। हाँ, दोनों ओर गोल का सूचक स्थान बनाने के लिए दो-दो बासों की ज़रूरत हो सकती है। न होने पर किसी दूसरी प्रकार अस्थाई चिह्न बना कर भी काम निकाला जा सकता है।

खेल के मैदान के बीच में एक विभाजक रेखा खींच दी जाती है, जिससे वह दो भाग में बँट जाता है। इस रेखा को मध्य-रेखा कहते हैं।

इस प्रकार दो रेखायें और होती हैं जिन्हें क्रमशः गोल की रेखा और रक्ष-रेखा कहते हैं ये छोटे-छोटे झंडों से या सफेद चूने से चिह्नित होती हैं।

खेल में दो पार्टियाँ भाग लेती हैं। प्रत्येक पार्टी में ११ खिलाड़ी होते हैं जो खेल शुरू होने पर ६ भागों में बँट जाते हैं—आगे खेलने वाले, बीच के खेलने वाले, पीछे खेलने वाले और गोल-रक्षक। आगे वाले खिलाड़ियों की संख्या ५ होती है। इनका काम यह होता है कि वह गेंद को विरोधी खिलाड़ियों के गोल में बढ़ा दें। बीच वाले भाग में ६ खिलाड़ी होते हैं। इन खिलाड़ियों का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इन्हें दो काम करने होते हैं, यह अपने गोल की रक्षा करने में भी तत्पर होते हैं और आगे बढ़कर अग्रगामियों के पीछे दूसरी पार्टी पर आक्रमण भी करते हैं। साधारण रूप से यह गेंद को आगे खेलने वालों की ओर बढ़ा देते हैं। पीछे खेलने वालों की संख्या होती है। यह गेंद को आगे-खेलने वालों की ओर बढ़ा देते हैं और अपनी ओर के गोल में विरोधी पार्टी द्वारा भेजी गेंद को रोकने की चेष्टा करते हैं। एक आदमी गोल की रक्षा करता है। गोल-रक्षक को अच्छा खिलाड़ी होना चाहिये। वह परिस्थिति को शीघ्रता से समझ सके। वह गेंद को हाथ से छू सकता है या शरीर के किसी भी भाग का उपयोग कर सकता है।

खेल से पहले दोनों पार्टियाँ यह निर्णय करती हैं कि पहले गेंद को कौन पार्टी लेकर आगे बढ़ेगी। इसके लिये पैसा उछाल कर देखते हैं। एक पार्टी मुहर लेती है, एक सन्। जिस मुख से पैसा गिरा, उसके अनुसार एक पार्टी खेल प्रारंभ करती है। इसे "Toss" कहते हैं। गोल-रक्षक के सिवा सभी खिलाड़ी केवल पैरों का प्रयोग करते हैं।

खेल इस तरह शुरू किया जाता है। जिस पार्टी की बारी होती है वह गेंद को "Centre" (मध्य-रेखा पर) में रखती है और वहाँ से उसे प्रहार द्वारा आगे बढ़ाती है। जब किसी भी पार्टी पर गोल हो जाता है तो गेंद को इसी स्थान पर लाया जाता है।

यों इस खेल का समय ६० मिनट है परन्तु भारतवर्ष में ४५ मिनट से एक घंटे के समय तक खेल चलता है। बीच में ५-१० मिनट का एक अवकाश मिलता है।

यदि कोई खिलाड़ी गेंद को हाथ से छू ले तो जिस स्थान पर वह खिलाड़ी गेंद को छूता है, उसी स्थान से मध्यस्थ गेंद को दोषी पार्टी की ओर बढ़ाता है। इसे "Foul" कहते हैं।

इसी प्रकार यदि किसी भी पार्टी का कोई खिलाड़ी दूसरी पार्टी के खिलाड़ी को धक्का दे या पकड़ ले या अन्य किसी प्रकार से उसकी स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाये तो भी दोनों पार्टी के विरुद्ध "Foul" होता है। इस तरह फुटबाल के खेल के कितने ही नियम हैं। खिलाड़ियों को उनका ज्ञान ही आवश्यक नहीं, उन्हें व्यवहार में बरतना होता है। किसी भी एक खिलाड़ी का दोष या भूलचूक सब के माथे रहेगी।

दोनों ओर से एक-एक रैफरी होता है। वह खेल को ध्यान से देखते रहते हैं। यदि नियमों के विरुद्ध कोई भी बात हुई तो वह बीच में पड़ते हैं। अवकाश की सूचना भी वही देते हैं। इनका निर्णय अंतिम निर्णय होता है और प्रत्येक खिलाड़ी को मानना पड़ता है। इनकी सहायता के लिये दो लाइनमेन होते हैं और कहीं दो गोल-निर्णायक भी। पहले यह देखते हैं कि गेंद "Touch Line" के भीतर से होकर गई है या नहीं; दूसरे कि गोल के भीतर से या नहीं!

जो पार्टी दूसरी पार्टी पर अधिक संख्या में गोल कर देती है, वह विजयी पार्टी मानी जाती है। जब कोई पार्टी भी गोल नहीं कर पाती; या दोनों ओर गोल बराबर होते हैं तो पलड़ा बराबर माना जाता है।

इस प्रकार के खेलों से शारीरिक उन्नति होती है, यह तो स्पष्ट ही है। परिश्रम से मांस-पेशियाँ सुदृढ़ होती हैं। खिलाड़ी का श्वास-प्रचलन दौड़ने के कारण अधिक गहरा और व्यवस्थित होता है। इससे उसका रक्त शुद्ध होता है। परन्तु साथ ही उसमें मानसिक सतर्कता भी आती है। खेल में प्रत्येक इन्द्रिय को सतर्क रहना पड़ता है, प्रत्येक आगे के चरण को सोच कर चलना पड़ता है। मनोरंजन तो होता ही है। खेल में प्रत्येक व्यक्ति को अपने निर्धारित कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। कहीं भी उच्छृंखलता को स्थान नहीं। इससे नैतिक बल मिलता है। कड़े अनुशासन पर चलने की टेव पड़ती है। मनुष्य पर कितने प्रतिबंध रहते हैं परन्तु वह आवश्यक है।

इससे यह अच्छा है कि वह मनोरंजन के साथ-साथ ऐसी बातें भी सीख ले जो उनसे अच्छा नागरिक बनने में सहायता दें। कहावत है—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। खेल में यह शिक्षा बड़े स्वाभाविक रूप से आप ही मिलती जाती है। दूसरे पर आश्रित होना और साथ ही दूसरे के प्रति अपनी ज़िम्मेवारी का अनुभव करना आता है।

प्रत्येक वस्तु का काला रुख़ भी होता है। फुटबाल के खेल की कुछ हानियाँ भी हैं परन्तु वह नगण्य हैं। साथ ही, अन्य खेलों की तुलना में वह कहीं अच्छा है। 'हर्रे लगे न फिटकरी, रंग चोखा आए' वाली बात उस पर पूरी लग जाती है। उससे अनायास ही धैर्य, सजगता और सहनशक्ति के गुण प्राप्त होते हैं। सहयोग की भावना का जन्म होता है। कठिन आत्मनियंत्रण की प्रवृत्ति आती है।

हिन्दोस्तानी खेल

१—भूमिका। २—खेल की आवश्यकता; विदेशी खेलों के प्रचार का देशी खेलों पर क्या प्रभाव पड़ता है? ३—हिन्दोस्तानी खेल।

(१) मैदान के खेल—(क) कबड्डी, (ख) गुल्ली-डंडा, (ग) चीलमकट्टा, (घ) आँख-मिचौनी, (ङ) गेंद का खेल, (च) किल-किल-काँटा। (छ) ललक-डंडा आदि प्रान्तीय खेल।

(२) भीतर के खेल—शतरंज, चौसर, पचगुट्टा आदि। ४—कुछ खेलों की हानियाँ।

प्रत्येक देश की अपनी कुछ ऐसी संस्थाएँ होती हैं जिनमें उसकी अपनी जातीय और राष्ट्रीय विशेषताएँ झलकती हैं। वह गई तो सब गया। जनसाधारण के मनोरंजन से उनका जितना संबंध होता है उतना ही उनकी नैतिक और शारीरिक वृद्धि से। हमारे खेलों की संस्थाएँ कुछ इसी प्रकार की थीं। आज या तो वे मर गई हैं, या उनका रूप इतना विकृत हो गया है कि पश्चिम के आदर्शों की गुलामी में पला हुआ शिष्ट समाज उन पर नाक-

भौं सिकोड़ता है। वे मर गई हैं, बिगड़ गई हैं, इसलिए कि पिछली आधी शताब्दी से हम उनकी ओर कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

जीवन में खेल की आवश्यकता को सब स्वीकार करते हैं। एक तो मनोरंजन का साधन, दूसरे स्वास्थ्य-वृद्धि का उपाय। नेतृत्व के अनेक गुण उसमें भाग लेने से आते हैं। खेल मानव-प्रकृति के साथ गुथा हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में खेल पाये जाते हैं। राष्ट्र, जाति और समाज की सबसे नैसर्गिक अभिव्यक्ति उसके खेलों में होती है। विदेशों से उधार लिए हुए खेलों के प्रचार से हमारे देशी खेल नष्ट हो गए हैं। नगर में तो उनका नाम ही नहीं रहा है। हाँ, गाँवों में, जहाँ अभी पश्चिमी सभ्यता के पुण्य-चरण नहीं पहुँच पाए हैं, वे आज भी देखे जाते हैं, और हृदय में एक हिलोर उठा देते हैं।

हिन्दोस्तानी खेलों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक, ऐसे खेल जो मैदान में खेले जाएँ, कबड्डी, गुल्ली-डंडा, चील-झपट्टा आदि; दूसरे ऐसे खेल जो भीतर बैठ कर खेले जा सकें, शतरंज, चौगान आदि। इनमें मैदान के खेलों में शारीरिक परिश्रम होने के कारण वह अधिक उपादेय हैं।

देशी खेलों में कबड्डी का ऊँचा स्थान है। इसे बालक, युवक और वृद्ध सभी खेलते हैं। गाँवों में चलिए। दो-तीन घंटे दिन रह गया है। जवानों की टोलियाँ आती दीखती हैं। उभरे हुए देह, स्वस्थ माँस-पेशियाँ। अच्छा-सा खेत चुन लेते हैं। बीच में लकीर कर लेते हैं या मेंड़ बना लेते हैं। इसे पारी कहते हैं। खिलाड़ी दो टोलियों में बँट जाते हैं। खेल शुरू होता है। एक टोली का खिलाड़ी दूसरी टोली की पारी में घुसता है। "कबड्डी, कबड्डी, कबड्डी......।" वह उस टोली के खिलाड़ियों को छूने का प्रयत्न करता है। उस टोली वाले पैंतरे बदल-बदल कर कि आप छूने में न आएँ, उसे पकड़ में लाना चाहते हैं। वह पकड़ा गया तो मरा; उसने किसी को छू दिया तो वह मरा। यदि किसी प्रकार वह छूट कर अपनी पारी में आ गया तो जी उठा; नहीं तो मरा समझिये। खेल के किसी काम का नहीं। इस को लिए हुए बड़े-बूढ़े आकर खड़े हो जाते हैं। खेत के और

रहे हैं। झुटपुटा हो चला है। ये खड़े हुए बढ़ावा दे रहे हैं। जैसे जवानी लौट रही है।

गुल्ली-डंडा एक दूसरा खेल है। इस खेल में लकड़ी की ८ अंगुल की गुल्ली चाहिए और एक हाथ भर लम्बा डंडा। बस खेल तैयार है। खिलाड़ी दो हों या दस। यह भी दो टोलियाँ पारी-पारी में खेलती हैं। खुले हुए मटैले मैदान में एक लंबा, गहरा, नुकीला गड्ढा खोद लिया। इसे गुच्ची कहते हैं। इस पर गुल्ली रक्खी गई। उसे डंडा से उछाला जाता है। एक पदता है, दूसरा पदाता है। गुच्ची से उछाली गुल्ली को पदने वाले खिलाड़ी ने पकड़ लिया तो पदाने वाला खिलाड़ी हार गया। तब पदने वाला उसकी जगह आता है। अब उसकी पारी है। वह पदाए। इस खेल का मज़ा लेना हो तो प्रेमचंद जी की 'गुल्ली डंडा' कहानी पढ़िए।

एक और खेल लीजिए। चील-झपट्टा। इसमें बालक और युवक भाग लेते हैं। दो तो बाहर रह जाते हैं; बाकी एक दूसरे का हाथ पकड़ कर एक गोल चक्कर बना लेते हैं। उन दो में से एक गोले के भीतर खड़ा होता है, एक बाहर। खेल शुरू होता है। भीतर का खिलाड़ी बाहर के खिलाड़ी को पकड़ना चाहता है, गोल वाले रोकते हैं। इधर वह चील की तरह झपटता है। ज़रा चक्कर में ढील हुई कि वह निकला। फिर बाहर का खिलाड़ी उसका स्थान ले लेता है।

बच्चों के भी कई खेल हैं। एक आँख-मिचौनी है, एक गेंद का खेल है, एक किलकिल-काँटा है। आँख-मिचौनी में एक बालक अपनी आँखें बंद कर लेता है। और सब छिप जाते हैं तो एक बालक चिल्लाता है—'खोल दो। हमें ढूँढ़ो।' बस वह आँख खोल कर चक्कर काटने लगता है। जिसे ढूँढ कर छू लेता है उसे उसकी जगह लेनी होती है। गेंद के खेल में लड़के दूर-दूर खड़े हो जाते हैं। घेरा बन जाता है। एक चोर बीच में रहता है। गेंद घेरे के एक लड़के से दूसरे लड़के के पास उछलती रहती है। वह पकड़ना चाहता है। गेंद को निश्चित स्थान पर आना चाहिये। किलकिल-काँटे में भी दो टोलियाँ रहती हैं। यह लकीरों का खेल होता है। एक टोली की बनी हुई लकीरों को दूसरी टोली वाले काटते फिरते हैं। बिना

खड़ी लकीरें जो रह जाती हैं, उन्हें गिना जाता है। जिस टोली की ऐसी लकीरें अधिक हुईं, वह जीती।

इन खेलों के सिवा जो भारत के सभी प्रांतों में किसी न किसी रूप में अवश्य ही पाए जाते हैं, कुछ ऐसे भी खेल हैं जो प्रांतीय हैं या वर्ग विशेष से संबंध रखते हैं। इस प्रकार के खेल ललक-डंडा, कोड़ामार, कैयामार, आती-पाती, हुडुडु, ननकोटे, दरियाबंध आदि हैं। स्कूलों में रस्साकशी, कबड्डी आदि खेल प्रचलित हैं। यद्यपि विद्यार्थी और शिक्षकों का रुझान विदेशी खेलों की ओर अधिक है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि हमारे देश में लड़कियों के लिये उपयुक्त खेलों की अधिक योजना नहीं हुई है। गुड़का, झंझी आदि कुछ ऐसे खेल अवश्य हैं परन्तु उनका संबंध स्वास्थ्य वृद्धि से इतना नहीं है, जितना केवल आमोद या मनोरंजन से। उनसे कुछ विशेष शिक्षाएँ अवश्य मिली हैं। यह एक दोष है। खेल में व्यायाम का अंश आवश्यक है, जिसके न रहने से खेल खेल नहीं रह जाता।

भीतर के खेलों में लोक-प्रिय शतरंज, चौपड़, पचगुट्टा आदि हैं। इनमें अधिक विकसित मानसिक शक्तियों से काम पड़ता है और इसीलिये ये वयस्कों की चीज़ें हैं। इनका चस्का अच्छा नहीं। यह भी देखा जाता है कि ये भीतर खेले जाने वाले खेल शीघ्र ही जुए का रूप पकड़ लेते हैं। विशेष दिनों में जुए को एक धार्मिक रूप दे दिया गया है, और उन दिनों इन खेलों पर कुटुम्बों के भाग्य का निपटारा ही हो जाता है। इस तरह के दोष सभी देशों के खेलों में घुस आये हैं परन्तु उनसे खेल आप ही पूरे नहीं हो जाते। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें उनके शुद्ध, सात्विक रूप में रक्खा जाए।

भारतीय खेलों की विशेषता यह है कि उनमें व्यय नाम मात्र को नहीं होता। वे प्रकृति के बड़े समीप रहते हैं। उनके खेलने में किसी प्रकार की झंझट-पूर्ण व्यवस्था नहीं करनी पड़ती, न उन्हें जटिल ही बनाना होता है।

ग्राम-जीवन

वर्षा और किसान

१—भूमिका—भिन्न रुचिर्हि लोकः। स्वार्थों का संघर्ष। २—नगर के सहृदयों के लिये मेघ क्या संदेश लाते हैं? ३—वर्षा में किसान के घर के कुछ दृश्य। ४—किसान का वर्षा से रागात्मक संबंध, यह उसकी आशाओं का केन्द्र है। ५—वर्षा ऋतु की असुविधा। ६—अवृष्टि और अतिवृष्टि। ७—वर्षा संबंधी लोक-गीत।

लोकोक्ति है—भिन्न रुचिर्हि लोकः। इससे आगे बढ़ कर हम कहते हैं—मेरे लिए जो अमृत है वही तुम्हारे लिए विष है। जब हम वर्षा ऋतु के रूप को ठीक-ठीक समझते हैं तो इस कथन की सत्यता में विश्वास हो जाता है। निश्चय ही हमारे स्वार्थ भिन्न हैं।

कवियों ने वर्षा की शोभा के वर्णन में सहस्रों छंद लिखे हैं। अलका के मणियों से भरे हुए प्रासाद में बैठी हुई यक्षिणी इसी सुन्दर ऋतु में अनेक प्रेमी यक्ष के लिये व्याकुल होकर मेघमल्लार गाती थी। रामगिरि से निर्वासित, शापित यक्ष का संदेश लेकर दूत के रूप में मेघ उसकी ओर उड़ता हुआ आता है। लोग नौका-विहार को निकल पड़ते हैं या इन्द्रधनुष से रँगे हुए श्यामल आकाश की छटा देखते हैं। वे धन्य हैं। उनके हृदय में वह भूख और मारती है जिसे कवियों और सहृदयों ने प्रेम कहा है।

परन्तु यह है प्रासादों की बात! जहाँ ऊँची अट्टालिकाओं के नीचे धन, वैभव, आह्लाद और प्रमोद की धारा बहती है। उधर चलिये जहाँ फूस के झोपड़ों में टूटी हुई खपरैल के नीचे किसान का कुटुम्ब अपने थोड़े से चीथड़ों को भीगने से बचा रहा है।

एक बार तो करुणा को भी उस पर दया आ जायगी। बच्चे जाड़े से काँप रहे हैं। उनके वस्त्र भीग गये हैं। छत जगह-जगह टपक रही है। इधर से उधर हटते हैं, उधर भी टपकने लगता है। घर के बरोठे में जो कुठिया-चूल्हा है उसे गृहिणी भीगने से बचाती फिरती है। वह बचाए कहाँ तक!

फिर घर क्या है, मिट्टी का लौंदा। पिछली गरमी में सारे कुटुम्ब ने मिल-जुल कर ये दीवारें खड़ी की थीं। ईश्वर जाने, कब बैठ जाएँ!

परन्तु इस वर्षा को बेचारा किसान अस्वीकार भी कैसे कर दे। उसकी जीविका तो यही है। कल बौछार ठीक समय पर न पड़े, तो खेत ऊसर हो जाए। घर में चूहे लोटें। वह भींग रहा है। उसके बच्चे शीत से काँप रहे हैं। आधी रात गई है। सोने को अब नहीं मिलेगा। इसी धरा-उठाई में सुबह हो जायगी। परन्तु वह प्रसन्न है कि कल उसका परिश्रम सफल होगा। कल उसके बोये हुए बीजों में कल्ले फूटेंगे। आह! उसका हृदय प्रसन्नता से नाच उठता है। उसने ईख गोड़ दी है। थोड़े दिन यों ही बूँदा-बादी हुई तो उसके ईख के खेत लहराएँगे। फ़सल अच्छी हुई तो महाजन का कर्ज़ भी चुका देगा, दोनों समय चैन से दो कौर खायेगा। फिर चन्नू-मन्नू दो बच्चे हैं। इस उमर में भी न खायेंगे तो कब? भगवान् ने साथ दिया तो रामदीन ग्वाले से एक पछाँही गाय मोल ले लेगा। बच्चे के शरीर पर कुछ मांस तो दीखेगा। द्वार पर एक गाय बँधेगी—यह क्या मालिक की कम कृपा होगी? वह दिन कब आयेगा?

बेचारे किसान की सारी आशाएँ वर्षा के चारों ओर चक्कर काटती रही हैं। वही उसकी रोटी का आसरा है। कल वर्षा कम हो या न हो तो उसके ढोर-डंगर सूख-सूख कर मर जाएँगे, तब घास-पात कुछ नहीं उगेगी।

इस ऋतु में डाँस, मच्छर और कितने ही विषैले कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं। जहाँ देखो वहाँ गीला है, गंदगी है, मक्खियाँ भिनक रही हैं। वर्षा हुई। कच्ची सड़क बह गई। घुटनों तक देह डूब जाती है। चलना दूभर है। बच्चों को मलेरिया ने घेर लिया। अगले गाँव में अस्पताल है। जाए कैसे? नदी बढ़ी हुई है। बीच में एक नाला भी पड़ता है। चिट्ठी-पत्री की बात ही क्या? पखवाड़े में कहीं डाक-मुन्शी आता है।

वर्षा अधिक हुई तो भी मौत। नदी में बाढ़ आ जाती है। खेत पख-वाड़ों पानी में डूबे रहते हैं। बाढ़ उतरती है तो फूटे हुए कल्ले गल चुके होते हैं। उपजाऊ मिट्टी धुल जाती है। आज वह बाढ़ में बह गया। कल मवेशी बहाव में ऐसे पड़े कि बेचारा किसान मीलों खोजता फिरा। न देख

चल सकती है, न गाड़ी। कच्चा-पक्का खाते-खाते जठराग्नि मंद पड़ गई। अब तो राम का ही आसरा है। अकाल पड़ेगा।

वर्षा से किसान के जो रागात्मक सम्बन्ध हैं उनका पूरा चित्र उन लोकगीतों में साफ उतरा है जिन्हें इस ऋतु में हम गाँवों में सुन सकते हैं। नगर के सहृदय मेघ को दूसरी दृष्टि से देखते हैं, विशेषकर धनी-मानी। वह उसे साहित्य और परंपरा के भीतर से देखते हैं। किसान के तो ये जलधर जीवनधर हैं।

हमारे गाँव

१—भूमिका। २—गाँव के बसने के स्थान, वातावरण। ३—गाँवों का संगठन। ४—गाँव के एक घर का चित्र। ग्रामीण जीवन की कुछ बातें। ५—गाँवों की जनसंख्या का बटवारा किस प्रकार होता है? विभिन्न पेशे के लोग और उनका गाँवके सङ्गठन में स्थान। नाई-बारी, पण्डित-पुरोहित आदि। ६—गाँव का सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन।

हमारी जन-संख्या का ९० प्रतिशत भाग गाँवों में रहता है। कहने में तो यह बात छोटी-सी है परन्तु इससे निकलने वाले निष्कर्ष बड़े महत्त्व-पूर्ण हैं। नगर वाले इसे दूर तक नहीं समझते। वे स्वयम् सभ्यता के मापदंड बने हुए हैं। परन्तु जहाँ राष्ट्र की बात होती हो वहाँ दस प्रतिशत की सुविधा-असुविधा को इतनी महत्ता नहीं, जितनी नब्बे प्रतिशत की। हमारा देश कितना प्रगतिशील है, यह देखने के लिए विदेशी यह जानना चाहेंगे कि हमारे देश का अधिक बड़ा भाग, जो निस्संदेह गाँवों में रहता है, संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से कितना आगे बढ़ गया है।

हमारी इकाई हमारे कुटुम्ब की संस्था है। कुटुम्ब का एक मुखिया होता है। सारे दूसरे लोग उसके कहने पर चलते हैं। कुटुम्ब की संपत्ति बहुधा पैत्रिक होती है। और सब भाइयों का उस पर समान अधिकार होता है। कुछ इसी तरह की पंचायती संस्था [illegible]

एक गाँव में लगभग २०० लोग रहते हैं। वे छोटे-छोटे फूस या मिट्टी के झोपड़े बना लेते हैं और ये बहुधा उस जगह होते हैं जहाँ पास में नदी, झील, तालाब या कुँआ हो।

गाँव में रहने वालों का जीवन सरल और मितव्ययी होता है। घर बहुधा छोटा होता है, पुराने आदिमकाल के ढङ्ग का बना हुआ, फ़र्श मिट्टी का, जिसे पखवाड़े दो-पखवाड़े में गोबर से लीपा जाता है। बिछाने को चटाई या पीढ़े। बैठने को चौकियाँ। लेटने को घर की बुनी हुई खाटें जो दस दिन में ही झूल जाती हैं। थोड़े से काँसे और पीतल के बर्तन एक ओर डलिया में रक्खे होते हैं। भीतर कोठे में दो-एक लकड़ी के सन्दूक और एक-आध ट्रङ्क होते हैं। इनमें भड़कीले, सस्ते कपड़े और जर्मन सिलवर, काँसे, चाँदी और लाख के ज़ेवर रहते हैं। मतलब यह है कि गाँव वालों की आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं और सुगमता से पूरी हो जातीं हैं। किसान की आमदनी ही क्या? खेत में जो अनाज हुआ उसमें से बहुत-सा महाजन का कर्ज़ चुकाने में चला जाता है। थोड़ा दूसरे वर्ष बोने के लिए डाले रखते हैं। बाक़ी से साल भर मुँह चलेगा। खेत के एक भाग में तरकारियाँ बोई हुई हैं। रोज़ काट लाना, रोज़ खाना। इस परिस्थिति में वह नगर के नौकरी-पेशे, हाथी के दिखाई देने वाले दाँतों की तरह भारी-भरकम, लोगों का ठाठ कैसे बनाए।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में गाँव का संगठन कुछ भिन्न है, परन्तु यों सामान्यतः कोई न कोई संगठन अवश्य रहता है, कम-से-कम इतना तो रहता ही है कि एक मुखिया रहे जिसके द्वारा छोटे-छोटे हलवाहों से लगान वसूल किया जा सके। अधिकांश गावों में ये व्यक्ति जरूर होते हैं—चौकीदार, अनाज-रक्षक, लुहार, मोची, बढ़ई, हलवाई, महाजन, नाई-बारी, ज्योतिषी। ये किसी-न-किसी रूप में गाँव की सेवा करते हैं।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण नाई-बारी हैं। वह गाँव भर की राजनीति का पंडित होता है। लोचन बारी हरेक कुटुम्ब का कच्चा चिट्ठा जानता है, सात पुरुखों से लेकर इस पीढ़ी तक का गुनगान कर सकता है। इतना पुरोहित पं० माताबदल भी नहीं जानते। उसे चलता-फिरता समाचार-पत्र ही समझिए।

वह बाल ही नहीं बनाता, मुंडन संस्कार और श्राद्ध में भी भाग लेता है। विवाह के लिए इधर से उधर और उधर से इधर चिट्ठी-पत्री ले जाता है।

फिर ज्योतिषी जी हैं। ये पुरोहित भी हैं, पंडित भी हैं, शायद महाजन भी हैं। कौन काम ऐसा है जिसमें इन्हें न पूछा जाय। मरने में यह, जीने में यह! इनके पत्र की गति कहाँ नहीं!

गाँव का सामाजिक जीवन अधिक उन्नत नहीं होता। यों चौपाल में बैठकर हुक्का पीते हुए चौधरी के सामने एक छोटा-मोटा दरबार प्रतिदिन देख पड़ेगा। विशेष कर जाड़े में जब चौधरी मनसुख के घर के आगे अलाव लगती है। बरसात में अलहैतों के चारों ओर भी मंडली जम जाती है। स्त्रियाँ विशेष उत्सवों के समय मिलती जुलती हैं। नीच जात की स्त्रियाँ हार पर, पैंठ में। कौटुम्बिक जीवन में स्त्री की कोई आवाज़ नहीं है।

प्रकृति-वर्णन

पार्वतीय दृश्य

(१) भूमिका—पर्वत में भी आत्मा है। (२) पर्वत का महाकाकार; खड्ड, कगार, चोटियाँ (शिखर) बदलते हुए प्राकृतिक दृश्य; कभी धूप, कभी वर्षा। (३) चाँदनी रात में पहाड़। (४) वर्षा का एक दृश्य। (५) एक महान् इन्द्रजालिक का इन्द्रजाल। (६) स्निग्ध श्यामा क्वाचिदपरतो।

एक स्थान पर पढ़ा था—पर्वतों में भी आत्मा रहती है। पढ़ कर भुला दिया। यह भी कोई याद रखने की बात है। अब उस बार जब सहसा पहाड़ पर पहुँच ही गये तो बहुत दिनों से विस्मृत के पिछले कोष में पड़ा हुआ वह पाठ उमड़ा। ऐसा लगा कि हाँ पर्वत जड़ नहीं है, उसके एक आत्मा ज़रूर है, जो देखने चले तो आत्मा को स्पर्श कर लेती है और उसे पागल-सा बना देती है।

पर्वत के दृश्यों में जो आकर्षण रहता है उसका विश्लेषण करना कठिन है। पहले तो स्वयम् पहाड़ ही है; इतने बड़े, ऊँचे और ठोस; जिन पर

ऊबड़-खाबड़ खड्ड और ऊँची चोटियाँ, जिनमें सदा अनिर्वचनीय आकर्षण रहता है। अभी उन पर बादलों की छाया है—

पपीहे की यह पीन-पुकार,
निर्झरों की भारी झरझर;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरुगम्भीर गहर····
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर।

अभी वह धूप में नहा उठे हैं—

लो, चित्रशलभ-सी पंख खोल
उड़ने को है सस्मित घाटी

अभी शांत, गम्भीर जैसे सृष्टि का सारा मौन लेकर बैठे हैं; तपस्वी हैं; क्षण भर में हँस रहे हैं, खिल रहे हैं। पहाड़ों पर प्रकृति छोटी बालिका की तरह क्षण-क्षण बाद हँसती-रोती है। कभी तो हलकी-हलकी बौछार पड़ने लगती है; कभी आपके सामने से धुएँ का एक भूत-सा उमड़ता आता है और आपके चारों ओर थोड़ा मँडरा कर और आपको भिगोकर चला जाता है। फिर कभी बिजली चमक रही है, मेघ गम्भीर गर्जन कर रहे हैं।

चाँदनी रात में पहाड़ों पर जादू हो जाता है। उनकी रेखाएँ स्पष्ट हो जाती हैं; घाटी-घाटी में भेद नहीं दीखता। जैसे मक्खन के बने हों। दिन में यही चीज़ कितनी ऊबड़-खाबड़ लगती थी।

पहाड़ की चोटी पर देवदारु आदि के वन होते हैं। उनके घने झुंड उन्हें बहुत सुन्दर बना देते हैं। जाड़ों में उन पर रुई के गाले की तरह हलकी बर्फ़ जम जाती है। वर्षाऋतु में इनके ऊपर घुमड़ते हुए बादल कितने सुन्दर लगते हैं। कभी वह इन्हें छूते हुए निकल जाते हैं, कभी इन्हें ढक लेते हैं। दृश्य देखने से सम्बन्ध रखता है।

झरने गिर रहे हैं। उनका जल मोतियों की तरह स्वच्छ है। ऐसा जान पड़ता है जैसे चाँदी की एक चादर बन गई हो। चित्र-विचित्र पंखों वाले पक्षी, रंग-बिरंगी तितलियाँ, मूँगे-मोती के रङ्ग के सैकड़ों फूल; दूर छोटी

पहाड़ियों के पीछे नीले आकाश में उगता हुआ सूर्य। कौन हृदय यह दृश्य देखकर आनन्दित नहीं होगा?

नीचे चरणों में एक बड़ा-सा ताल है जैसे दर्पण हो। पहाड़ की सारी शोभा इसमें प्रतिबिम्बित देख लीजिये। प्रकृति का प्रत्येक भाव-परिवर्तन इसमें इस तरह झलक उठता है कि मनुष्य मुग्ध हुए बिना रह ही नहीं सकता।

ईश्वर की सृष्टि कितनी विचित्र है! पर्वत उस महान् स्रष्टा की महत्ता की पुकार है। इनमें उसका विशाल हृदय रूप पाता है। हमें प्रकृति के महान् ऐश्वर्य का दर्शन होता है। यहाँ प्रकृति और पुरुष की आँख-मिचौनी का खेल बराबर चलता रहा है। एक महान् इन्द्रजालिकी का हस्त-लाघव देखने को मिलता है।

कभी इन पर्वतों में हमारे ऋषियों के तपोवन रहते थे। जहाँ प्रकृति के सामीप्य में हमारे महर्षि-गण आत्मा की गहराइयों में उतरते थे और शांत-गम्भीर चिन्तन के बाद जड़ और प्रकृति, आत्मा और अनात्मा का सम्बन्ध स्थापित करते थे। भवभूति ने दण्डकारण्य का वर्णन इस प्रकार किया है :—

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोग रूक्षाः।
स्थाने-स्थाने मुखरककुभो झंकृतै निर्झराणाम्॥
एते तीर्थाश्रम गिरि सरिद्गर्भकान्तारमिश्राः।
सन्दृश्यन्ते परिचित भुवो दण्डकारण्य भागाः॥

(ये परिचित भूमि वाले दण्डकारण्य के भाग देख पड़ते हैं। कहीं हरी-हरी घास से स्निग्ध श्याम भू-खंड हैं, और कहीं भयंकर रूखे दृश्य हैं। स्थान-स्थान पर झरते हुए झरनों की झनकार से दिशाएँ गूँज रही हैं। कहीं तीर्थ हैं, कहीं आश्रम हैं, कहीं पहाड़ हैं, कहीं नदियाँ हैं और बीच में जंगल हैं।)

चाँदनी रात

(१) चाँदनी रात कितनी आनन्ददायिनी है? (२) प्रागैतिहासिक काल से नीलाकाश और तारों का मनुष्य पर प्रभाव; तारों के पुरोहित; नक्षत्र-पूजा; ज्योतिष-विज्ञान। (३) चन्द्रमा; चन्द्रमा सम्बन्धी

जन-प्रसिद्धि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। (४) विज्ञान और प्रकृति का सौन्दर्य। क्या सचमुच विज्ञान ने सौन्दर्य का तिलिस्म तोड़ दिया है? (५) मनुष्य की मूल सौन्दर्य-भावना। (६) तारों से भरा आकाश और मनुष्य। (७) चाँदनी रात का सौन्दर्य और कवि।

चाँदनी रात कितनी आनन्ददायिनी है। पूनों के आकाश की सुन्दरता का वर्णन करना कठिन हो जाता है। उसमें एक अलौकिक वैभव आ जाता है। हीरों की तरह चमकते हुए सितारे नीली चादर पर टँके होते हैं। कुछ बहुत ही चमकीले, कुछ धुँधले। बीच में आकाश गंगा जैसे अबीर या चाँदी का बुकनी छिड़क दी गई हो। चाँद धीरे-धीरे ऊपर उठता है और सोते हुए संसार पर दूध की नदी बहाने लगता है।

नीले आकाश से झाँकने वाले इन ज्योति बिन्दुओं ने मानव को आदिम काल से मुग्ध कर रक्खा है। हजारों वर्ष पहले ही मनुष्य यह विश्वास करने लगा था कि संसार और उसके प्राणियों की गति विधि पर नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। हम सितारों के खिलौने हैं। वे खेल-खेल में हमें हँसा देते हैं, रुला देते हैं। सभ्यता के उस आदि युग में 'तारों के पुरोहित' होते थे, तारों की प्रतिष्ठा में मंदिर खड़े किये जाते थे और उन्हें शांत करने के लिए बलि का आयोजन किया जाता था। आज का कवि जब कहता है—

अब पिपीलिका के विवरों से
निकलो हे असंख्य! अम्लान

तो वह उस आदिम मनुष्य की प्रवृत्ति के वशीभूत होता है जो शरत्-चाँदनी में बीज बोने से पहले घुटनों पर झुक जाता था और नक्षत्रों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि उपस्थित करता था। अनादि काल से ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र मनुष्य के अन्तर की रहस्यभावना को उत्तेजित करते रहे हैं। अज्ञात और रहस्यमय सौन्दर्य भय की सृष्टि करता है और आदिम युग की नक्षत्र-पूजा का मूल कारण हमें चाँदनी रात के अपार्थिव सौन्दर्य में मिल जाता है।

धीरे-धीरे जब मनुष्य ने अनेक ज्ञान-विज्ञानों का विकास कर लिया तो उसके अंध-विश्वास में थोड़ी कमी हो गई परन्तु वह जड़ से निकल नहीं गया। उसने ज्योतिष-विज्ञान की नींव डाली। आज इस विज्ञान ने इतनी

जन-प्रसिद्धि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। (४) विज्ञान और प्रकृति का सौन्दर्य। क्या सचमुच विज्ञान ने सौन्दर्य का तिलिस्म तोड़ दिया है ? (५) मनुष्य की मूल सौन्दर्य-भावना। (६) तारों से भरा आकाश और मनुष्य। (७) चाँदनी रात का सौन्दर्य और कवि।

चाँदनी रात कितनी आनन्ददायिनी है। पूनों के आकाश की सुन्दरता का वर्णन करना कठिन हो जाता है। उसमें एक अलौकिक वैभव आ जाता है। हीरों की तरह चमकते हुए सितारे नीली चादर पर टँके होते हैं। कुछ बहुत ही चमकीले, कुछ धुँधले। बीच में आकाश गंगा जैसे अबीर या चाँदी का बुकनी छिड़क दी गई हो। चाँद धीरे-धीरे ऊपर उठता है और सोते हुए संसार पर दूध की नदी बहराने लगती है।

नीले आकाश से झाँकने वाले इन ज्योति बिन्दुओं ने मानव को आदिम काल से मुग्ध कर रक्खा है। हजारों वर्ष पहले ही मनुष्य यह विश्वास करने लगा था कि संसार और उसके प्राणियों की गति विधि पर नक्षत्रों का प्रभाव पड़ता है। इन सितारों के खिलौने हैं। वे खेल-खेल में हमें हँसा देते हैं, रुला देते हैं। सभ्यता के उस आदि युग में 'तारों के पुरोहित' होते थे, तारों की प्रतिष्ठा में मंदिर खड़े किये जाते थे और उन्हें शांत करने के लिए बलि का आयोजन किया जाता था। आज का कवि जब कहता है—

अब पिपीलिका के विवरों से
निकलो हे असंख्य! अम्लान

तो वह उस आदिम मनुष्य की प्रवृत्ति के वशीभूत होता है जो शरत्-चाँदनी में बीज बोने से पहले घुटनों पर झुक जाता था और नक्षत्रों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि उपस्थित करता था। अनादि काल से ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र मनुष्य के अन्तर की रहस्यभावना को उत्तेजित करते रहे हैं। अज्ञात और रहस्यमय सौन्दर्य भय की सृष्टि करता है और आदिम युग की नक्षत्र-पूजा का मूल कारण हमें चाँदनी रात के अपार्थिव सौन्दर्य में मिल जाता है।

धीरे-धीरे जब मनुष्य ने अनेक ज्ञान-विज्ञानों का विकास कर लिया तो उसके अंध-विश्वास में थोड़ी कमी हो गई परन्तु वह जड़ से निकला नहीं गया। उसने ज्योतिष-विज्ञान की नींव डाली। आज इस विज्ञान ने इतनी

उन्नति कर ली है और विज्ञान की अनेक शाखाओं से इतना दृढ़ संबंध जोड़ लिया है कि उसके बिना हम प्रकृति और मानव-जीवन के कितने ही रहस्यों का उद्घाटन ही नहीं कर सकते।

बच्चा रोने लगा। माँ ने धमका कर कहा—देख रे, रोया तो बुढ़िया से पकड़ा दूँगी। बच्चे ने रोना बंद कर दिया। उसने पूछा—कहाँ है बुढ़िया? "वह चाँद में, देख, चरखा कात रही है। काली-काली बुढ़िया चरखा कातती है। अब रोयेगा?" बच्चा आश्चर्य से चाँद के काले धब्बों को देखने लगा। माँ ने लोरी गाई—"दूर चाँद में बैठी बुढ़िया चरखा खूब चलाती है।" बच्चा सो गया।

अब विज्ञान ने उन्नति कर ली है। वह अंधविश्वासों के कुहर को हटा कर दम लेगा। बच्चा अब बड़ा होकर किशोर बन जाता है तो उसका शिक्षक उसे बताता है—'यह बुढ़िया नहीं है यह बड़े-बड़े पहाड़ हैं। घाटियाँ हैं। चाँद पर कभी लोग रहे होंगे। उसमें नहरें बनी हैं जिनमें जमा हुआ पानी है।' उसकी सहायता के लिये बड़ी-बड़ी शक्तिशाली दूरबीनें हैं।

परन्तु क्या सचमुच विज्ञान ने सौन्दर्य का तिलिस्म तोड़ दिया है? एक ही उत्तर है, नहीं।

विज्ञान बताएगा—चाँद पृथ्वी का उपग्रह है। उपग्रह की एक परिभाषा है। उपग्रह ऐसा पिंड है जो कभी ग्रह का भाग था परन्तु अब उससे छूट कर, उसे केन्द्र बना कर, उसकी आकर्षण-शक्ति में बँधा, उसके चारों ओर घूम रहा है। वह कहेगा—पृथ्वी का ही उपग्रह नहीं है। और-और ग्रहों के पास भी चाँद है। मंगल का अपना चाँद है। शनि के तो कई चाँद हैं जो अलग-अलग वृत्तों में उसकी परिक्रमा किया करते हैं।

परन्तु मनुष्य की सौन्दर्य-भावना की तृप्ति इन शुष्क, परन्तु सत्य, बातों से नहीं होती। वह चाँदनी रात की विभूतियों को लेकर अपना एक संसार बना लेता है। वह गाता है—

शांत स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल। अपलक अनंत नीरव भूतल॥
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल।
लेटी हैं शांत, क्लान्त, निश्चल।

वह कवि हो जाता है। उसके हृदय में किसी के लिये टीस उठती है। चाँद में वह किसी के मुख की परछाईं देखने लगता है। वह प्रेमी हो जाता है। उसके हृदय में एक नया स्वप्न जग उठता है।

यह सच है कि चाँदनी रात जादू कर देती है। किसी पूनों की रात को ताज की तरफ टहलते हुए निकल जाइये। आप जादूगरनी रात का हस्तलाघव देख सकेंगे। यह विशाल, कठोर और दृढ़ पृथ्वी जैसे द्रवीभूत हो गई हो, जैसे दूध होकर वह बह रही हो। उस समय हम प्रकृति की एक अनैसर्गिक छटा देखते हैं और अपना हृदय उन्हें सौंप देते हैं।

तारों ने मनुष्य में क्या-क्या भाव पैदा किये हैं। किसी देश के साहित्य को देखिये तो आपको अनेक विचारधाराएँ मिलेंगी और उनका संबंध रात के अलौकिक सौन्दर्य से होगा। तारों और आकाश को देखकर हृदय आनन्द से भर जाता है। मनुष्य अपने को महान समझने लगता है। आखिर इतने जीवधारियों में वही तो है जिसने प्रकृति के हृदय को इतने पास से देखा है और उसे प्यार किया है। तारों से भरे हुए आकाश को देखकर विस्मय होता है। मनुष्य—स्वार्थी मनुष्य, इसे इतना अवकाश कहाँ कि अपने संघर्षों के बीच से समय निकाल कर कुछ क्षण प्रकृति को दे सके। वह है भी कितना क्षुद्र, कितना दुर्बल! उसके ऊपर जो आकाश है वह कितना विस्तृत है, कितना सुन्दर है। फिर भी यह क्षुद्र मनुष्य यह आकांक्षा करता है कि मंगल में अपना राज्य स्थापित करे; उसके दुर्बल गीत शनि में गूँजें।

नीले आकाश में उठते हुए चाँद को किसने नहीं देखा है। नीचे की लताओं, बेलों और वृक्षों के छेदों को रंग कर वह सारे परिचित संसार को एक अभिनव रूप दे देता है। एक अपरिचित, अनिर्वचनीय विश्व की सृष्टि हो जाती है। सभी उसे देखते हैं परन्तु कवि चिल्ला उठता है—

आ गया नील-नभ-शतदल पर
चाँदी का अलि
गंजित अंबर-

बह गई पवन ज्यों चंदन भर,
खुल गई गगन से करतल पर
ज्योत्स्ना की कलि !

और तब चाँदनी रात का रहस्यपूर्ण सौंदर्य और निखर जाता है।

ऋतु-वर्णन

भारतवर्ष की ऋतुएँ

१—हमारे देश की मुख्य ऋतुएँ। २—बसन्त। ३—ग्रीष्म। ४—वर्षा। ५—शरद्। ६—शिशिर और हेमन्त। ७—प्रकृति और हमारे देश के कवि, दार्शनिक और धर्म प्रतिष्ठाता।

हमारे देश में ६ ऋतुएँ मुख्य मानी गई हैं—ग्रीष्म, पावस (वर्षा), शरद, हेमन्त, शिशिर और बसन्त—इन्हें ही षट्-ऋतु कहते हैं। प्रत्येक ऋतु का समय दो मास है। परन्तु इनमें भी चार ऋतुएँ ही अधिक स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं—ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर और बसंत।

वैसे ये सब ऋतुए अपने-अपने समय पर सुन्दर हैं परन्तु बसन्त ऋतु सर्वश्रेष्ठ है, यह कहना भूल नहीं है। इस समय प्रकृतिवधू नया परिधान पहन लेती है। कचनार और अनार में नए-नए फूल लगते हैं। टेसू और पलाश से वन दावानल का सन्देह होता है। रसाल में बौर लग जाते हैं। कोकिल ऋतुराज बसन्त के स्वागत के लिये पञ्चम स्वर में बसन्त गाती है। वह बसन्त-समीर बहने लगता है जिसके लिए रसिकराज बिहारीलाल ने कहा है—

रनित भृंग घन्टावली, झरत दान मधुनीर।
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर-कुञ्ज-समीर॥
लपटी पुहुप-पराग-पट, सनी स्वेद मकरंद।
आवत नारि नवोढ़ लौं सुखद वायु गतिमंद॥

बसन्त (चैत्र) में ही अनाज पकने का समय आता है। कृषकों के आनंद का क्या ठिकाना! आबाल-वृद्ध-वनिता सभी को कृषि फूली हुई देखकर

अपार आनन्द होता है जैसे पृथ्वी पर राशि-राशि पीत स्वर्ण उड़ेल दिया गया हो।

बसन्त बीतते ही ग्रीष्म ऋतु आ जाती है। तप्त वायु (लू) चलने लगती है। धूल उड़ कर आकाशमण्डल को आच्छादित किए रहती है। बसन्त का सारा आनन्द सुख-स्वप्न हो जाता है। सारा संसार यज्ञ-कुण्ड-सा लगने लगता है। कहावत है कि गर्मी के ताप के कारण सर्प, मयूर तथा हिरण और व्याघ्र अपने स्वाभाविक वैर-भाव भुला कर एक साथ रहते हैं। इस कवि-प्रसिद्ध की सत्यता के सम्बन्ध में तो कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु गरमी अवश्य इतनी भयंकर पड़ती है कि—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन मन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह॥ बिहारी

ऐसे समय में स्त्री-पुरुषों का प्राण जल-विहार में रहता है। परन्तु ग्रीष्म से महत्त्वपूर्ण ऋतु भी कोई नहीं। इसी ऋतु में सूर्य के उत्ताप के कारण समुद्र का पानी भाप बनकर ऊपर उठता है और वर्षा ऋतु में प्यासी पृथ्वी को तृप्त करता है। यदि ग्रीष्म ऋतु न हो तो वर्षा होना असंभव है। भयंकर अकाल के कारण एक ही अनावृष्टि में जो उत्पीड़न उपस्थित होता है, उसी से उस परिस्थिति का अनुमान किया जा सकता है जब ग्रीष्म ऋतु न होती और समुद्र से भाप नहीं उठती। इसी ऋतु में आम और अन्न पकते हैं। पकने के लिये भी गर्मी चाहिए।

ग्रीष्म का राज्य भी अधिक स्थाई नहीं होता। वर्षा ऋतु आते ही ग्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता का नाश हो जाता है। सघन-श्यामल-मेघ आकाश को आच्छादित कर देते हैं। तुलसीदासजी ने इनका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

वर्षा काल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाये॥
दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बर्सहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाए॥

बूँद अघात सहैं गिरि कैसे । खल के वचन सन्त सह जैसे ॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई । जस थोरे धन खल बौराई ॥
भूमि परत भा डाबर पानी । जिमि जीवहि माया लपटानी ॥

सारी भूमि दूर्वामय हो जाती है । पपीहा बोलने लगता है । मयूर नृत्य करने लगते हैं । कजरी-सावनी, मल्ल-युद्ध, आल्हा—ये सब उत्सव-समारोह और आनन्द-विनोद वर्षा को ही एक महान् घटना का रूप दे देते हैं । यह उचित भी है । भारत का हृदय उसकी कृषि में है, जो पूर्णतः मेघों की कृपा पर जीती है ।

वर्षा के बाद शरद आती है । शरद ऋतु की चाँदनी रात हमारे देश के लिए एक ऐसा सौन्दर्य लाती है, जिसकी सुषमा किसी भी देश को प्राप्त नहीं । सूरदास ने शरद ऋतु की चाँदनी रात में ही कृष्ण-गोपियों के रास का आयोजन किया है—

सारद निसि देखि हरि हरषि पायो ।
बिपिन वृन्दावन सुभग फूले सुमन रास रुचि श्याम के मनहिं आयो ।
परम उज्जल रैनि छिटक रही भूमि पर सद्य फल तरुन प्रति लटकि लागे ॥
तैसोइ परम रमनीक जमुना पुलिन त्रिविधि बहै पवन आनन्द जागे ।
राधिका-रमन बन भवन सुख देखिकै अधर-धरि बेनु सुललित बजाई ॥
नाम ले ले सकल गोप कन्यान के सवन के भवन वह ध्वनि सुनाई ।

अगस्त उदय हो जाता है । मार्ग का जल सूखने लगता है । सरिता-सरित-तड़ाग निर्मल हो जाते हैं । कुमुद विकसित होने लगते हैं । पृथ्वी और आकाश के बीच में चाँदनी की गली चाँदी की धारा बहती है ।

शरद के बाद शिशिर और हेमन्त का आगमन होता है । इन ऋतुओं में जाड़े की वृद्धि और अंत में उसका ह्रास होता है । इन ऋतुओं में, दीन-दुखियों को बड़ा कष्ट होता है । जिनके पास भोजन-वस्त्र है, उन्हें किस वस्तु की कमी है ? निर्धन की पूरी झोपड़ी में शीत-पवन तीर की तरह जिह्वा निकाले हुए प्रवेश करता है । रातें बड़ी होती हैं । काटे नहीं कटतीं । फिर भी हमारे देश में जाड़ा इतना उग्ररूप धारण नहीं करता जितना योरोपीय

देशों में। हाँ, पार्वत्य हिम-प्रदेशों में हिमपात होता है जिसके कारण वहाँ अत्यन्त भीषण शीत का सामना करना पड़ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश में ऋतुओं का एक सुन्दर चक्र चलता रहता है। बारी-बारी से प्रत्येक ऋतु हमारे सामने आती है और उसके साथ प्रकृति की अनेक विभूतियाँ हमारा मनोरंजन करने के लिए उपस्थित होती हैं। ऋतुओं का इतना सुन्दर वैभव संसार के अन्य किसी देश को प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि हमारे देश के कवि, दार्शनिक और धर्म-प्रतिष्ठाता सभी, समय-समय पर प्रकृति की ओर मुड़े हैं और उन्होंने उससे आनन्द (रस), दार्शनिक सिद्धान्तों और नीति-संबंधी आदर्शों की प्रेरणा पाई है। भारतीय कवि प्रकृति से इतना मिल-जुल कर चलता है कि उपमा-उत्प्रेक्षा, विथिका-वातावरण, रस-सृष्टि संयोग और विप्रलम्भ (वियोग) शृंगार के उद्दीपन के रूप में उसने सहस्रों पृष्ठों में प्रकृति का चित्रण किया है। हमारे साहित्य का यह कोष संसार के साहित्यों में अद्वितीय है। भागवतकार ने प्रकृति का प्रयोग अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में किया है। नैतिक सिद्धान्तों और आदर्शों को प्राकृतिक घटनाओं में चरितार्थ करने की परिपाटी हमारे यहाँ बहुत प्राचीनकाल से चली आती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी काव्य-साहित्य नीति-साहित्य से भरा हुआ है। किसी कवि ने संसार से चिढ़ कर कहा—

"ग्रीष्मकाले दिनं दीर्घं शीतकाले तु शर्वरी।
परोपतापिनः सर्व्वे प्रायशो दीर्घजीविनः॥"

(जिनका स्वभाव दूसरों को क्लेश पहुँचाने का है, वे प्रायः दीर्घजीवी होते हैं। नहीं तो ग्रीष्म काल में दिन और शीतकाल में रात्रि क्यों इतनी दीर्घ होती है।) तो किसी दूसरे ने आशीर्वाद के लिए प्रकृति का सहारा लिया—"पौषे निशा निराहारा भवन्तु तव शत्रवः।" (आपके शत्रुगण पौस मास की रात्रि को अनाहार व्यतीत करें।)

वर्षा-ऋतु

१—भूमिका—आषाढ़स्य प्रथमदिवसे। २—ग्रीष्म के दिन (छाहौं चाहत छाँह)। ३—वर्षा का शब्दचित्र; एक दृश्य। ४—वर्षा और मानव-हृदय पर उसका प्रभाव। वर्षा प्रकृति का मातृरूप है। ५—शृङ्गार के उद्दीपन मेघ। ६—गाँव के दृश्य। ७—वर्षा की उपयोगिता।

आषाढ़ के घने, जामुनी रंग के ऊदे-से बादल आकाश में उमड़ रहे हैं। जान पड़ता है, थोड़े समय में नीलिमा का नाम भी नहीं दिखाई देगा। पश्चिमी हवा के झोंके रोओं में हर्ष उठा देते हैं। मित्र ने कहा—आषाढ़स्य प्रथमदिवसे……। ध्यान हो आया—इसी तरह विंध्य के किसी शिखर पर खड़े होकर महाकवि कालिदास ने 'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः' वाली मेघमाला उत्तर की ओर जाती हुई देखी होगी। वर्षा का यह वैभव उनकी रचना में अमर हो गया है।

हमारे देश में जितनी भी ऋतुएँ होती हैं उनमें यह वर्षा की ऋतु अद्वितीय है। पृथ्वी शस्य श्यामला हो जाती है; भगवान के वरदहस्त की तरह आकाश उस पर झुकता है। कल जहाँ गरम लू चल रही थी, वहाँ आज मिट्टी की परिचित, सोंधी गंध से भरी हुई दक्षिणी पवन है। जहाँ जेठ-वैशाख की चिलचिलाती हुई धूप थी, वहाँ मेघों की शांत-शीतल छाया है। मन करता है—घर से निकल जाइए; नदी के किनारे चलिए; कहीं शिला पर बैठ कर ऊपर कुदकते हुये मेघों के मेमनों की चुहल देखिये; याद हो तो मेघदूत की पंक्तियाँ गुनगुनाते जाइये। इस ऋतु में प्रकृति दूर नहीं है, उसे खोजने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। वह आपके घर मेहमान बन कर आई है।

यही पृथ्वी कल तक कितनी कठोर थी; उसकी निःश्वासें कितनी भयंकर थीं। कहीं चलिये, चैन नहीं। पसीने से देह तर, प्यास से होंठों पर पपड़ी जमी हुई है। घर ऊपर से तप रहे हैं। दीवारें बाहर से तप रही हैं। दुपहर का सन्नाटा है। पंखा करते-करते हाथ दुखा लीजिये। गर्मी न हुई आफ़त हुई, भैंसें तालाब को पल भर नहीं छोड़ रही हैं; पक्षी कोटरों में बन्द छाया में विश्राम ले रहे हैं। केवल कहीं-कहीं से कुट-कुट बढ़ई (एक पक्षी) की

'हू हू ही' आती है। कविवर बिहारी ने ऐसी ही गरमी का वर्णन इस प्रकार किया है :—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन मन माँह।
देख दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहत छाँह॥

परन्तु यह कल की बात थी। आज तो विधाता ने करुणा करके अपने कमंडल से दो छींटे डाल दिये हैं। न पहली उमस है, न पहला ताप। मदन की ध्वजा की तरह काले-काले बादल आकाश में फहरा रहे हैं। अब धीरे-धीरे वह इकट्ठा हो रहे हैं। अब वर्षा होगी।

पावस की पहली फुआर पड़ने लगी। मेघों में ऐसी गड़गड़ाहट होती है कि जान पड़ता है, जैसे ऊपर महारथियों के रथ युद्धभूमि की ओर दौड़ रहे हैं, शंख बज रहे हैं, टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में पल-पल में बिजली चमक उठती है। यह मेघपुरी का भ्रूविलास है। उधर सतरंगा इन्द्र-धनुष भी दिखाई पड़ा। बालकों ने शोर मचा दिया। लोग ऊपर ही एकटक देख रहे हैं। सफ़ेद बगुलों की पाँति उड़ी जा चली रही है। काले बादल की पृष्ठ-भूमि पर वह कैसी सुन्दर लगती है। पंख गिरते हैं, पंख उठते हैं। उधर सामने पंख से पंख मिला कर सारस की जोड़ी उठी। ऊपर धीमे गरजते हुए बादल देव-सभा के गंधर्व की तरह मंद स्वर में कुछ कह रहे हैं। भारत के इस वैभव को कौन प्यार नहीं करेगा?

पनघट पर भीड़ लगी है। कमर पर घड़ा रख कर पनहारी ने बादल की ओर देखा। एक बौछार मुँह पर आई। अरे, वह तो टलती नहीं। वह उधर क्या देख रही है? गाँव को छोड़ कर जाते हुए बटोही के कानों में इन्द्र-धनुष की टङ्कार पड़ी। अरे, वह तो ठिठक गया। आँगन में खड़ी हुई 'भ्रू-विकारानभिज्ञ' ग्रामवधुओं ने मेघ की ओर देखा। उनके हृदय में एक हूक उठी। पपीहे ने उसकी प्रतिध्वनि की—'पी कहाँ।'

वर्षा ऋतु में प्रकृति का रूप अत्यंत सुहावना होता है। हमारे कवियों ने बसंत को ऋतुराज कहा है। इसमें अत्युक्ति भले ही न हो, उन्होंने एक प्रकार से वर्षा ऋतु के प्रति अन्याय किया है। बसंत से वह किस प्रकार कम है? उसमें हाव-भाव नहीं सही; वह पति-परिता है। उसमें बाल-चापल्य

नहीं है, वह गम्भीर है। वह प्रकृति का प्रेयसी रूप नहीं, मातृरूप है। वह सुजलाम्, सुफलाम्, शीतलाम् है। वह पुण्य-पयोधरा माता है। उसके दूध से पृथ्वी उर्वर होती है, पेड़ों में अंकुर फूटते हैं, बौर लगते हैं। अमराइयों में कोयल कूकने लगती है।

हमारे साहित्य शास्त्रियों ने मनुष्य के ऊपर पड़े प्राकृतिक हलचल के प्रभाव की खूब विवेचना की है। वर्षा शृङ्गार रस का उद्दीपन है। वियोग शृङ्गार की तो यह प्राण ही है। घन की उमड़ के साथ हृदय में आदिरस मौजें मारने लगता है। इसी से विद्यापति की नायिका कहती है :—

मास अषाढ़ उनत नव मेघ।
पिअ बिसलेख रहो निरथेघ॥

(अषाढ़ का महीना आ गया। नए मेघ आकाश में घुमड़ते हुये चढ़ रहे हैं। हाय, मैं अपने प्रेमी के विछोह में निरवलंब हूँ!)

गाँवों में जाइये। पहर-पहर बाद झड़ी लग रही है। नीम के पेड़ों में झूले पड़े हैं। पेंगें बढ़ रही हैं। कुमारियाँ, युवतियाँ, बुढ़ियाँ सभी गीतों में मस्त हैं। एक ओर साँझ को अलाव को घेर कर चौपाल में अल्हैत आल्हा गाता है। एक टोली कजरी गाती हुई निकलती है। कहीं मल्लार है तो कहीं हिंडोर। ढोलकें बादलों से होड़ कर रही हैं।

गाँव के बाहर किसान हल की मुठिया पकड़, भीग-भीग कर, खेत में गहरी लीक डाल रहा है। उसकी श्यामा कन्या गा रही है—"यहीं बरस जा, यहीं बरस जा, मेरे बीर-बाँकुरे बदरा।"

हमारा देश कृषि-प्रधान है। मेघ में हमारे प्राण अटके हैं। इतने बड़े देश के लिये जो नदियाँ हैं, वे अधिक नहीं। अभी महाराष्ट्र में वर्षा कम हुई है और भयंकर अकाल की आशंका से लोग घबड़ा रहे हैं। वर्ष भर की रंगरेलियों का सेहरा इसी ऋतु के सिर पर बँधता है।

वसन्त

१—भूमिका—बाल वसंत वदन भए बाओल। २—शिशिर के अंत और वसंत के आगमन के दृश्य। ३—वसंत का मनुष्य के

हृदय और स्वभाव पर प्रभाव। ४—इस ऋतु से संबंधित कुछ उत्सव। ५—विशेष

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने वसंत का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

बाल वसंत तरुन भए धाग्रोल,
बढ़ए सकल संसारा॥
दखिन पवन घन अंग उगारए,
किसलय कुसुम-परागे।
सुललित हार मंजरि घन कज्जल,
अखितौ अञ्जन लागे॥

(बालक वसंत अब तरुण युवक हो गया है। वह चञ्चल होकर सारे संसार में दौड़ता फिरता है। दक्षिण पवन किशलय और पुष्प-पराग लेकर उसके शरीर में उबटन लगाता है। मंजरी का सुन्दर हार गले में है। मेघ ने उसकी आँखों में काजल लगा दिया।)

फाल्गुन के महीने के साथ ही शिशिर का अंत हो जाता है। शीत से ठिठुराई हुई प्रकृति एक बार अंगड़ाई लेकर उठ खड़ी होती है। उसमें नींद के बाद की नई स्फूर्ति आ जाती है। इस समय प्रकृति पर एक अभिनव शोभा छा जाती है, कवि पद्माकर के शब्दों में—"बनन में बागन में बगरयो वसंत है।"

किरनों का रंग पीला हो चला है। खेतों में पीली-पीली सरसों झूम रही है। रंग-बिरंगे फूलों से उपवन-वन चित्रकार की चित्रशाला-सा देख पड़ता है। अमराइयों में आम के नए खिले बौरों की गंध लेकर दक्षिण-पवन झूमता हुआ चला जाता है। इसी के लिए बिहारी ने कहा है—

रनित भृंग घन्टावली, झरत दान मधुनीर।
मंद-मंद आवत चल्यो, कुञ्जर कुञ्ज कुटीर॥

प्रकृति का मुग्धा रूप हमारे सामने आता है। पुरुष को रिझाने के लिए यह नए साज से सज गई है।

बाग में कोयल कूकी—कुहू, कुहू। दूर पपीहे ने पुकारा—पिउ, पिउ। हृदय झूम उठा। उसने अनायास ही वसंत रागिनी में गाना शुरू कर दिया। सामने माधवी और चंपा गले मिल रही हैं। पलाश में लाल-रंग की नई कोपलें इतनी फूटी हैं कि वह जैसे लाल रंग में स्नान करके आया हो। सूर्य की किरनों में एक अजीब उन्माद है। जिसे देखिये उसमें उत्साह भरा हुआ।

वसंत के आते ही प्राणियों में परिवर्त्तन हो जाता है। जड़ चेतन हो जाता है और चेतन किसी नई प्रकार की दैवी या अमानवीय स्फूर्ति का अनुभव करता है। न जाने क्यों, उसका हृदय किसी साथी के लिए तड़पने लगता है। उसके हृदय में प्रेम की टीस उठती है। उसे फूलों-पत्तों में छिपे हुए पुष्प-धनुर्धर का आभास-सा होता है। उसे देख कर वह चिल्ला उठता है—अरे अनंग यह तुम हो।

तुमने भौंरों की गुञ्जित ज्यों,
कुसुमों का लीलायुध थाम।
अखिल भुवन के रोम-रोम में,
केशर-शर भर दिए सकाम।

सब संसार 'लाज-हौसले के टीले' पर झूलने लगता है। वह अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोदों को जन्म देता है। उसकी सौन्दर्यप्रियता जाग उठती है। अनेक प्रकार की मन-मुग्धकारी क्रीड़ाएँ आरम्भ होती हैं। जीवन पर जैसे एक चटकीले गहरे वासन्ती रंग की यवनिका पड़ जाती है।

वसंत ऋतु ने मनुष्य के हृदय के तन्तुओं को इतना छेड़ा है, जितना कदाचित् वर्षा को छोड़ कर किसी भी ऋतु ने नहीं। इसी से सभी देशों और जातियों में इससे सम्बन्ध रखने वाले उत्सव और त्योहार होली इसी समय मनाया जाता है। यह अवश्य है कि उसका सम्बन्ध पौराणिक और धार्मिक प्राचीन दन्तकथाओं से गुँथा हुआ है परन्तु उस दिन जो धान्य और बैल द्वारा अग्नि की पूजा की जाती है, उसे देखते हुए उसके मूल कारण की गहराई तक पहुँच जाना असम्भव नहीं है।

बंगाल में फाल्गुनी उत्सव भी मनाया जाता है। वसंतारम्भ में वसंतोत्सव की धूम-धाम रहती है। पीली धोतियाँ, पीले कुरते, पीले पाग। हमारे भीतर बाहर जो है, वसंत के रंग में रंग जाता है। इस ऋतु में मनुष्य प्रेम और सौन्दर्योपासना का पाठ सीखता है। उत्सव, त्योहारों और अन्य अनेक रूपों में वह अपने हृदय के माधुर्य का सब से सुन्दर प्रकाशन करता है।

कवि-सम्मेलन

सभा समारोह

१—भूमिका। २—कार्यारम्भ। ३—कवियों का कविता पाठ। ४—सभापति का भाषण। ५—कवि-सम्मेलन की उपयोगिता। ६—कवि-सम्मेलन की नई हानियाँ। ७—कवि गोष्ठी, कुछ विचार।

निमंत्रण पत्र में समय ७ बजे शाम दिया हुआ था। हिन्दुस्तानी स्वभाव के अनुसार इसके एक घन्टा बाद ८ बजे मान लेने में कोई हर्ज नहीं था। हमारे पूर्वजों ने समय को अनन्त और आत्मा को अमर माना है। फिर घड़ियों-पलों का हिसाब क्या देना। सोचा, लिखा चाहे जो हो, आठ से पहले शुरू नहीं होता।

वहाँ पहुँचा तो मेरा अनुमान ठीक निकला। हमारी प्रकृति गंभीर है। हम यूरोप की तरह मिनट-मिनट का हिसाब नहीं देंगे। चल-फिर कर जब सभी को एक स्थान पर पहुँचना है तो आगे-पीछे क्या? देर क्या? जहाँ पहुँचने मे ही सार्थकता और अबेर-सबेर पहुँचना निश्चित है वहाँ शीघ्रता क्यों की जाय? कार्य प्रारम्भ हो ही रहा था। सेक्रेटरी भूमिका-स्वरूप कुछ कह रहे थे। वह लड़कों में से कोई थे। श को स ट को त करके बोलते थे। वह कह रहे थे—पूज्य श्री निराला जी को सभापति बनाया जाये, मैं यह प्रस्ताव रखता हूँ। उनके एक सहपाठी ने उठ कर कहा—मैं अनुमोदन करता हूँ।

इन महाशय का क़द और डीलडौल फ़ारसी कहानियों के देव जैसा था। चौड़े कंधे बबकाई नज़र। नाक में बोलते थे। लड़के हमसे भी मिले

पड़ती हैं। खड़ी बोली कविता-क्षेत्र की सम्राज्ञी बन गई है। स्वयम् काव्य में गंभीरता, गेयता और व्यंजना के दर्शन होने लगे हैं। अब वह वाह-वाह की उतनी चीज नहीं, जितनी मनन की। कम-से कम आज की कविता से आनंद उठाने के लिए रुचि का परिष्कार तो आवश्यक ही है।

फिर इस प्रकार के सम्मेलनों से कुछ हानियाँ भी हैं—कवि जनता में लोकप्रिय होना चाहता है, इससे वह उसकी रुचि की ओर विशेष ध्यान देने लगता है। यही वजह है कि कभी-कभी अत्यंत निकृष्ट, संयमहीन, निम्न शृङ्गार से भरी कविताएँ वाह-वाही के लिये लिखी जाती हैं। उनसे साहित्य कलुषित होता है। दूसरे, जनता विषय की ओर इतना ध्यान न देकर कंठ-स्वर की ओर ध्यान देती है। हमारे साहित्य में गीत-काव्य ही बढ़ रहा है। गंभीरता का अंश कम हो चला है। अच्छे काव्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह गेय भी हो। कभी-कभी अपढ़, असंस्कृत श्रोताओं के हो-हल्ले से श्रेष्ठ कवि का उत्साह भी भङ्ग हो जाता है।

अधिक अच्छा यह हो कि कवि-सम्मेलन का स्थान कवि-गोष्ठी ले ले। चुने हुये सहृदय साहित्यमर्मज्ञ निमंत्रित किये जाएँ। कविता पाठ के साथ विभिन्न धाराओं और काव्य की प्रगतियों पर विचार प्रकट किए जाएँ। आलोचनात्मक निबंध पढ़े जाएँ। हाँ, जनता से संबंध रखने के लिए कभी-कभी ऐसे कवि-सम्मेलन भी हों जिनमें कोई भी शरीक हो सके। आवश्यकता इस बात की है कि कवि जनता की रुचि को परिष्कृत करे और उसे ऊँचा उठाए न कि आप उतर कर उसका साधुवाद लेने के लिए निम्नकोटि की भँड़ेती करने लगे।

उत्सव-त्योहार

हिन्दू-त्योहार

१—भूमिका। २—हिन्दुओं के मुख्य त्योहार—कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी, विजयदशमी (दशहरा), दुर्गा-पूजा, सरस्वती-पूजन, रक्षा-

बन्धन, गणेश-चतुर्थी, दीपमालिका (दिवाली) और होली। ३—चार प्रसिद्ध त्योहार और उनका वर्णाश्रम से सम्बंध। ४—रक्षा-बंधन। ५—विजय-दशमी। ६—दीपमालिका। ७—होली।

त्योहार एक प्रकार से सामाजिक उत्सव हैं, परन्तु उनका मूल कभी किसी धार्मिक अनुष्ठान में होता है, कभी किसी ऐतिहासिक घटना में, कभी किसी सामाजिक आयोजना में। वस्तुतः हिल-मिल कर खेल-कूद करना, आनन्द मनाना और उत्सव समारोह करना मनुष्य का स्वभाव है। इसी स्वभाव के वश में होकर वह त्योहारों का आयोजन करता है। उसे ऐसे अवसर भी मिल जाते हैं जिन्हें वह त्योहार का रूप दे सके।

हिन्दुओं के त्योहारों की संख्या बड़ी लम्बी है। साल में कोई महीना ऐसा नहीं आता जब किसी न किसी वर्ग का कोई-न-कोई तीज त्योहार न हो। परन्तु मुख्य त्योहार कुछ थोड़े ही हैं। ये हैं—कृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, विजयदशमी (दशहरा), दुर्गापूजा, सरस्वतीपूजा, रक्षा-बन्धन, गणेश-चतुर्थी, दीपमालिका (दिवाली) और होली। वास्तव में इन त्योहारों में सभी प्रकार के त्योहार आ जाते हैं। कृष्ण-जन्माष्टमी और रामनवमी ऐतिहासिक त्योहार हैं, क्योंकि राम और कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं जिनमें बाद में अवतार की भावना की गई। दुर्गापूजा और गणेश चतुर्थी पौराणिक त्योहार हैं। दुर्गा और गणेश पौराणिक भावना के मूल रूप हैं। सरस्वती-पूजा का मूल विद्याध्ययन और कला की उपादेयता को स्वीकार करना है। रक्षा-बंधन का मूल भी पौराणिक है, यद्यपि इसे ऐतिहासिक महत्त्व मिल चुका है। दीपमालिका और होली की प्रतिष्ठा कदाचित् ऋतु परिवर्त्तन को दृष्टि में रख कर की गई है, यद्यपि होली में पौराणिक कथायें भी सम्मिलित हो गई हैं।

वैसे चार प्रसिद्ध त्योहार रक्षा-बन्धन, दशहरा, दिवाली और होली हैं। इनमें से प्रत्येक एक वर्ण का प्रधान त्योहार कहा जाता है, यद्यपि सारा हिन्दू-समाज ही उसे मिल कर मनाता है। इस दृष्टिकोण से रक्षा-बन्धन ब्राह्मणों का, दशहरा क्षत्रियों का, दीपमालिका वैश्यों का और होली शूद्रों का त्योहार

है। परन्तु इस विभाजन से हम कोई निश्चित् भेद-प्रभेद स्थापित नहीं करते। सभी त्योहार सभी हिन्दू बहुत कुछ समान-भाव से मनाते हैं।

रक्षा-बंधन श्रावण की पूर्णिमा को पड़ता है। इस दिन ब्राह्मण प्रत्येक यजमान के घर जाता है और मंत्र पढ़ता हुआ (येन बद्धो बली राजा आदि) यजमान के दक्षिण कर के मणि-बंधन के स्थान पर एक पवित्र-सूत्र (राखी या रक्षासूत्र) बाँधता है। रक्षाबन्धन के दिन यजमान और पुरोहित नवीन वस्त्राभूषण धारण करते हैं। मिष्टान्न और पकवान खाये-खिलाये जाते हैं। सायंकाल को आमोद-प्रमोद का आयोजन होता है। रक्षा-बंधन के सम्बन्ध में पौराणिक कथा यह है कि एक बार देवता और दैत्यों में बारह वर्ष तक युद्ध होता रहा। जब दैत्यों ने देवताओं पर विजय प्राप्त कर ली तब इन्द्र दुखी होकर इन्द्राणी के पास आया। इन्द्राणी ने दूसरे दिन ब्राह्मणों को बुलाया और स्वस्ति-वाचन के साथ इन्द्र के हाथ में रक्षा-सूत्र बाँधा। इसके प्रताप से इन्द्र दैत्यों पर विजयी हुये। जिस दिन इन्द्राणी ने यह अनुष्ठान किया था, उस दिन श्रावणी-पूर्णिमा थी। इसीलिये श्रावणी-पूर्णिमा के दिन रक्षा-बंधन का त्योहार मनाया जाता है।

विजयदशमी (दशहरा) का त्योहार कुँआर शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। इस त्योहार के साथ पौराणिक और सामाजिक अनेक भावनायें सम्बद्ध जान पड़ती हैं। इसके नामकरण का संबंध राम और रावण के युद्ध से माना जाता है। किंवदन्ती यह है कि इसी दिन भगवान् रामचन्द्र ने विजय प्राप्त की थी इसीलिए क्षत्रिय इसे विशेष रीति से महत्व देते हैं। भगवान् रामचन्द्र ने सूर्यवंशी क्षत्रिय कुल में ही जन्म लिया था। क्षत्रिय राज्यों में विजयदशमी का उत्सव बड़े राजसी समारोह से मनाया जाता है। सेना का प्रदर्शन होता है। कहीं-कहीं दुर्गा पर भैंसे की बलि चढ़ती है। साधारण क्षत्रिय गृहस्थ विजयदशमी के दिन अस्त्र-शस्त्र पूजते हैं। परन्तु यद्यपि इस त्योहार का विशेष सम्बन्ध क्षत्रियों से है, हिन्दू मात्र इसमें भाग लेते हैं। वैश्य अपनी बहियाँ पूजते हैं। संध्या हो जाने पर रावण-वध का अभिनय किया जाता है और रावण की लकड़ी-कागज़ की विशालकाय मूर्ति को राम द्वारा छिन्न-भिन्न करा कर उसमें आग लगा दी जाती है। बंगाल में

इसी समय दुर्गा-पूजा का उत्सव होता है। वहाँ के हिन्दू यह विश्वास करते हैं कि राम की विजय का कारण दुर्गा माता हैं। युद्ध से पहले भगवान् श्री रामचन्द्र ने उन्हीं की अभ्यर्चना की थी।

हिन्दुओं का सबसे आकर्षक त्योहार दीपमालिका (दीपमाला या दिवाली है।) दीपावली का त्योहार कार्तिक कृष्ण तेरस से शुक्ल पक्ष की दूज तक मनाया जाता है। कार्तिक कृष्ण तेरस का नाम 'धन-तेरस' है। इस दिन बर्तनों का क्रय-विक्रय खूब चलता है। लोगों का विश्वास है कि वर्ष भर में इस दिन तो अवश्य ही कोई पीतल-चाँदी का बर्तन मोल लेना चाहिये। इस दिन लोग अपने-अपने द्वार पर दीपक जला कर रखते हैं और यमराज का पूजन करते हैं। बाज़ारों की शोभा देखने योग्य होती है। बर्तनों से लदे हुए ठेले गली-सड़कों में घूमते होते हैं और उनके साथ लोगों की भीड़ लगी होती है। 'धन-तेरस' का दूसरा दिन 'नरक चौदस' कहलाता है। कहा जाता है कि इसी दिन भगवान् कृष्ण ने बकासुर का वध किया था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इसी दिन भगवान् नृसिंह का अवतार हुआ था। इस दिन घरों को गोबर से खूब लीपा-पोता जाता है। सायंकाल को घर में दीपक का आलोक किया जाता है। तीसरे दिन लक्ष्मीपूजन का आयोजन होता है। यही "दीपावली" का मुख्य दिन है। इस दिन घर-बाहर, बाजार-हाट सब जगह सहस्त्रों दीपावलियों का प्रकाश जगमगा उठता है। लोग आकाशदीप (कंडील) टाँगते हैं। बिजली के सफेद, हरे, नीले, पीले, लाल लट्टू हृदय पर जादू कर देते हैं। कहीं-कहीं बिजली के झरने बना कर प्रदर्शन किया जाता है। लोगों का विश्वास है कि इसी रात को लक्ष्मीजी लोगों पर प्रसन्न होकर उनके घरों में निवास करने आती हैं, अतः वे रात भर लक्ष्मी की पूजा में बिताते हुए जागते रहते हैं। चौथा दिन "गोवर्धन पूजा" का है। इस दिन भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठा कर इन्द्र के भेजे हुए प्रलयमेघों से ग्वाल-बालों की रक्षा की। यह पूजा उसी समय से भगवान् कृष्ण द्वारा ही प्रतिष्ठित हुई। इस पूजा का आनन्द तो "गोवर्धन पर्वत" पर ही आता है परन्तु वैसे घर-घर गोबर के गोवर्धन बनाए जाते हैं और उनकी पूजा की जाती है। पाँचवें दिन के दो नाम हैं—"भैयादूज" और

"यमद्वितीया"। यह बहनों का त्योहार है। बहिनें भाई के मस्तक पर तिलक लगाती हैं, उन्हें मिष्टान्न देती हैं। भाई बहिनों को उपहार देते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास है, जो "यमद्वितीया" के दिन यमुना में नहाता है वह यमदूतों के चक्कर में नहीं पड़ता। इसलिए इस दिन छोटा-मोटा पर्व भी हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दीपावली का त्योहार एक संश्लिष्ट त्योहार है। अनेक पौराणिक कथाओं और सामाजिक रीति-रिवाजों ने इसे जन्म दिया है और समाज के अनेक वर्गों की इच्छाओं को रूप देता है। वास्तव में यही भारतवर्ष का सर्वप्रधान त्योहार है।

होली फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाई जाती है। इसका संबंध प्रह्लाद-होलिका की पौराणिक कथा से है। कहा जाता है कि होलिका में यह शक्ति थी कि अग्नि उसका बाल बाँका नहीं कर सकती थी। वह प्रह्लाद की बुआ थी। जब हिरण्याक्ष ने देखा कि उसका पुत्र प्रह्लाद किसी तरह समझाने पर नहीं मानता तो उसने होलिका को आज्ञा दी कि तू प्रह्लाद को गोद में लेकर अग्नि में जा बैठ। परन्तु आश्चर्यघटना यह हुई कि प्रह्लाद बच गया और होलिका जल मरी। होलिका का त्योहार शूद्रों में अधिक मनाया जाता है, संभव है यह मूल रूप में कोई अनार्य त्योहार रहा हो।

होली

१—भूमिका—"शूद्रों का त्योहार"। २—त्योहार का अवसर—फाल्गुन की पूर्णिमा। ३—त्योहार का मूल। (क) वसंतारम्भ। ऋतु-परिवर्तन के अवसर पर यज्ञ-यागों के रूप में नवधान्य से अग्निपूजा की प्राचीन प्रथा। (ख) पौराणिक रूप। हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद की कथा। (ग) मध्य युग में कृष्णावतार से इस त्योहार का संबंधित होना। फाग। रास। ४—वर्णन। (क) छोटी होली का वर्णन। होली की पूजा। (ख) बड़ी होली। रंग और अबीर का खेल। परस्पर का भेंट करना। कुछ चित्र। (ग) कुछ विशेष बातें। ५—लाभ और हानियाँ। अनेक दोष। इनका परिष्कार कैसे हो? ६—क्या यह त्योहार राष्ट्रीय जीवन में कोई महत्व रखता है?

होली हिन्दुओं का बहुत महत्वपूर्ण त्योहार है। यों तो उसे शूद्रों का त्योहार कहा जाता है परन्तु भाग उसमें सभी वर्ण लेते हैं। उसमें रसिकता की मात्रा अन्य सभी त्योहारों से अधिक है और इसीलिए वह अधिक लोकप्रिय है।

यह त्योहार वसंत के प्रारम्भ में मनाया जाता है। यह बहुधा फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन पड़ता है।

बहुत प्राचीन काल से होली का त्योहार इसी तरह चला आ रहा है। इसके मूल में कौन-सी भावना काम कर रही है, यह कहना कठिन है। जिस रूप में हमें यह आज मिलता है, उस रूप में इसके सम्बन्ध में अनेक पौराणिक कथाएँ हैं। पहले, यह वसंत के प्रारम्भ में होता है। इसमें नए पके धानों, गेहूँ की बालों और ईख के द्वारा अग्नि की पूजा की जाती है। इससे जान पड़ता है कि इसका सम्बन्ध कदाचित् उन उत्सवों से है जो ऋतु-परिवर्त्तन के समय किये जाते हैं। संभव है, आदि ऐतिहासिक या पूर्वैतिहासिक काल में इसके पीछे यही मनोविज्ञान रहा हो; देवता के अनुग्रह को मानते हुए उसे खेत की फ़सल का भाग देना अनेक असभ्य जातियों में भी आज तक चलता है। वे भी इसी तरह अग्नि के चारों ओर इकट्ठे होकर उसे भोग देते हैं, चेहरे लगा कर उसके चारों ओर नाचते हैं और संगीत और वाद्य का आनन्द उठाते हैं।

परन्तु देखा यह गया है कि यद्यपि संसार में मनाये जाने वाले अनेक त्योहारों का मूल प्रकृति-पूजा या प्रकृति-सम्बन्धी देव-पूजा है फिर भी थोड़े समय चलने पर उनमें अनेक पौराणिक कथाएँ मिल जाती हैं। होली के संबंध में यही बात हुई है। कदाचित् महाकाव्य युग के बाद नृसिंह अवतार की कथा का जोड़ उससे बिठाया गया और फिर मध्ययुग में कृष्णो-पासना के प्राधान्य के कारण कृष्णावतार से इसका गठबंधन हुआ। इस पिछले प्रभाव से उसमें रस-प्रियता की वृद्धि हुई।

सतयुग में हिरण्यकश्यप नाम का दुष्ट, बलवान और नास्तिक राजा था। वह अपने को ईश्वर घोषित करता था। उसका पुत्र प्रह्लाद रामभक्त था। उसने पिता को ईश्वर मानने से इन्कार कर दिया। राजा ने उसे भाँति-भाँति

कठोर पीड़ाएँ दीं परन्तु बालक प्रह्लाद अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। अंत में हिरण्यकश्यप ने उसे अपनी बहन होलिका को सुपुर्द किया। होलिका को यह वरदान था कि वह अग्नि में बैठ कर जीवित रह सकती थी। एक प्रचंड अग्नि का आयोजन हुआ। होलिका प्रह्लाद को लेकर उसमें घुसी। परन्तु आश्चर्य! वह भस्म हो गई। प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हुआ। धर्म और सत्य की जय हुई। यह कथा हमारी धार्मिक धारणाओं पर अच्छा प्रकाश डालती है।

कृष्ण और गोपियों का संबंध चाहे जिस अध्यात्म-भाव की पुष्टि करे परन्तु एक प्रकार से प्रेम के लौकिक पक्ष का अच्छा चित्रण है। प्रेमी-प्रेमिकाएँ वसंत की चुहल में भाग लेते हैं। कृष्ण गोपियों से होली खेलते हैं। ब्रज की गलियाँ अबीर गुलाल, और रंग से भर जाती हैं। संयोग-शृङ्गार के सुन्दर चित्र हमारे सामने आते हैं। साथ ही गोवर्धन पूजा के रूप में कृष्ण का लोक-रक्षक रूप भी हमारे आगे आता है। इन्द्र को पूजा नहीं मिलती। क्रोध में भर कर वह ब्रज-भूमि को नष्ट करने के विचार से उस पर घोर वर्षा करते हैं। तब कृष्ण अनामिका पर गोवर्धन पहाड़ उठा कर गोप-गोपालकों की रक्षा करते हैं। लोकरंजन के साथ हमारे ऋषि लोक-सेवा के आदर्श को कभी नहीं भूले हैं।

परन्तु होली का जो एक रूप हमारे राष्ट्र के सामने आज है वह रसिकता की ओर ही अधिक झुकता है और इसी कारण उसमें अनेक दोष आ गये हैं।

होली आई। लोगों के हृदय में रंग चढ़ा। टेसू के रङ्ग घर आने लगे। आज छोटी होली है। रात को होली जलेगी। लड़के मुहल्ले-मुहल्ले ईंधन इकट्ठा करते दौड़ते हैं। यहाँ से उपले लाए, वहाँ से लकड़ियाँ। किसकी होली सब से ऊँची जले, यही प्रतियोगिता है। रात को होली जली। लोगों ने गन्ने लिये, उनके आगे जौ की बालियाँ बाँधी और उसकी परिक्रमा देते हुए बालों को अग्नि में जलाने लगे। पंडित भी हैं। कहार-चमार भी हैं। ढोलक बज रही है। चौधरी ताड़ी या ठर्रा पिए हुए है, झूम रहा है। काला-पीला मुँह बनाए गाते-बजाते लोग होली पूज रहे हैं।

छोटी होली को लोग अपने घरों में नमकीन पकवान आदि तैयार करते

हैं। दूसरे दिन दोपहर तक होली खेली जाती है। सबके रङ्ग से सराबोर हो जाती हैं। जहाँ देखो—अरर कबीर! फूहड़ गालियाँ चल रही हैं। इसने उसका मुँह लाल किया; उसने इस पर रङ्ग डाला। कल तक शत्रु थे। आज गले मिले। होली ने बिछुड़े मिला दिये।

दोपहर होते-होते यह हल्ला कम हो जाता है। लोग कपड़े बदलते हैं। शाम को इष्ट-मित्रों और संबंधियों से मिलने और उनका कुशल-क्षेम पूछने जाते हैं। नमकीन और मिष्ठान्न से उनका सत्कार किया जाता है। गाँव से गँवई-गनारों की टोलियाँ आती हैं। गँवारू नाच होता है। लोग बड़े चाव से उसे देखते हैं। कहीं-कहीं रास-मंडलियाँ और नौटंकियाँ रात-रात भर खेल करती हैं। इन खेलों में से बहुत कृष्ण और प्रह्लाद से संबंध रखते हैं। भङ्ग छनी हुई है। हलके तन्जेब के सस्ते विदेशी कपड़े पहिने लोग नाच पर मस्त हो रहे हैं, किसी गायक की टीप के स्वर में की गई आलाप पर झूम रहे हैं।

हिन्दू त्योहारों में जनता को परस्पर निकट लाने की बड़ी शक्ति है, विशेष कर इस एक त्योहार में। इसका तो उद्देश्य ही यह हो गया है कि इस एक दिन पुराने द्वेषों को भूल कर नए सिरे से प्रेम के संबंध स्थापित किये जायें। यदि इसका परिष्कार हो सके तो कदाचित् कोई भी त्योहार हमारे हृदय के इतने निकट न हो जितना यह। इसका कारण यह होगा कि इसका रूप अभी तक बाह्याडंबरों और झूठे आचारों से बिगड़ नहीं पाया है।

रंग खेलो। कीचड़ मत उछालो। गाओ-बजाओ। गालियों पर न उतर आओ। खेलो-कूदो। जुआ मत खेलो। खाओ-पियो। शराब पीकर नालियों में मत लोटो। जिस दिन हम अपने उत्सवों का ठीक रूप समझ कर उन्हें शुद्ध कर सकेंगे उस दिन हम सबसे बड़ी राष्ट्र-सेवा करेंगे। आनन्दोपभोग का नाम उच्छृङ्खलता नहीं है, इसे समझ लेने पर हम परस्पर की सहानुभूति को आगे बढ़ाएँगे; उत्सवों में नवीनता का समारोप करेंगे और राष्ट्र जीवन में शक्ति भर देंगे। यदि हम एक दिन कल्लू कहार से भी गले मिल लेते हैं तो दूसरे दिन उसे इतना नीच, अस्पृश्य और क्षुद्र क्यों समझने लगते हैं? हम रास मंडलियाँ और फूहड़ नाच तो देखते हैं, परन्तु उन दिनों रंगमंच पर नाटक क्यों नहीं खेलते? क्या हम यूरोप के ऑपेरा की तरह कोई चीज़ इस

अवसर के उपयुक्त तैयार नहीं कर सकते ? क्या हमारे त्योहारों और हमारे प्रतिदिन के जीवन में मेल होना असम्भव है ?

दुर्गा-पूजा

१—बंगप्रांत के हिन्दुओं का सर्वप्रधान धर्मोत्सव। २—दुर्गा-पूजा का समय; "वासंती और शारदीया"; दुर्गा-पूजा के संबंध में किम्वदंतियाँ, ३—दुर्गा-पूजा की प्राचीनता, अनेक शास्त्रों और पुराणों के प्रमाण। ४—शरद्काल में बंगदेश की शोभा। ५—दुर्गोत्सव के नव दिन। ६—विजयदशमी और दुर्गा की प्रतिमा का विसर्जन। ७—उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में।

दुर्गा-पूजा का थोड़ा-बहुत आयोजन सारे भारतवर्ष में होता है परन्तु बङ्गप्रांत के हिन्दू का यह सर्व-प्रधान धर्मोत्सव है। इस उत्सव की आबाल वृद्ध नरनारी सभी अत्यंत उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हैं। पूजा के दिनों में प्रत्येक हिन्दू-हृदय में अभूतपूर्व आनन्द-स्रोत प्रवाहित होने लगता है। सारा हिन्दू-समाज दशभुजी दुर्गा की पूजार्चना में लग जाता है।

दुर्गोत्सव वर्ष में दो बार होता है। एक बार वसंत के प्रारम्भ में और दूसरी बार शरद् ऋतु में। किम्वदन्ती यह है कि पहली पूजा लङ्काधिपति भगवान् रामचन्द्र की पूजा की याद दिलाती है। ऋतुओं के नाम पर पहली पूजा को "वासन्ती" और दूसरी को "शारदीया" कहते हैं। आजकल शरद्-कालीन दुर्गापूजा "शारदीया" ही अधिक प्रचलित है। यही वह पूजा है जो त्रेतायुग में श्रीभगवान् रामचन्द्र ने रावण के बध के लिए की थी।

परन्तु दुर्गा की पूजा बहुत प्राचीन है। अनेक शास्त्रों में उसका उल्लेख है। सतयुग में सुरथ नाम का एक प्रबल पराक्रमी राजा राज्यच्युत हो गया था। वह अपने भ्रष्टराज्य की पुनः प्राप्ति के लिए भगवती की अर्चना करता था। एक अन्य शास्त्र में यह लिखा मिलता है कि भगवान् मेधस् ऋषि की आज्ञा से समाधि नाम का एक वैश्य पृथ्वी के दुःख दैन्य के नाश के लिए इस प्रकार की पूजा करता है। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गा का विशेष महत्त्व है। उन्होंने दैत्य-विनाश के लिये भूतल पर अवतार लिया। देवताओं ने

उन्हें सामरिक परिच्छेद से सुसज्जित किया। उन्होंने भयंकर अट्टहास के साथ युद्धभूमि में प्रवेश किया जिससे दैत्यों के हृदय में भय का संचार हुआ और उनके अद्भुत पराक्रम के सम्मुख महिषासुर और उसका दैत्य-दल तृण के समान नष्ट हो गया। कालिकापुराण में भी यही कथा है, अन्तर केवल इतना है कि मार्कण्डेय पुराण की दुर्गा 'सहस्रभुजा' हैं, कालिकापुराण की 'दसभुजा'। यही 'दसभुजा' आज पूज्या हैं।

शरदकाल में बंगदेश की शोभा अनिर्वचनीय हो जाती है। आकाश निर्मल रहता है। पृथ्वी "शस्य श्यामला" हो जाती है। नदियाँ निर्मल जल से भरी कल-कल शब्द करती हुई बहती हैं। प्रकृति के इस ईषत् हास-विलास के बीच में जगदंबा का आगमन होता है। सारी प्रकृति बंगदेश का उत्साह सजा कर "आगमनी" के लिए तैयार हो जाती है। कर्णधारी नाव खेते हुए "आगमनी" के गीत गाते हैं। बाउलों के माँ के गीतों से बंगाल के गाँव-गाँव मुखरित हो उठते हैं। पूजा की छुट्टियाँ होती हैं। अध्यापक, कर्मचारी, रोजगारी, विद्यार्थी इत्यादि सब इस अवसर पर घर आते हैं।

दुर्गोत्सव नौ दिन रहता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से उत्सव प्रारंभ होता है। पञ्चमी की तिथि तक यह साधारण रूप से चलता है। फिर सारा बंगाल ढाकों, ढोलों, नगाड़ों, शङ्खों, घन्टों, करतालों से निनादित हो उठता है। पुरोहितगण बिल्ववृक्ष के नीचे दुर्गा का बोधन-कार्य समाप्त करते हैं और अधिवास की पूजा करते हैं। षष्ठी की रात बीतते ही माँ महाशक्ति (दुर्गा) का शुभागमन होता है। पुरोहित पूजा का कार्य समाप्त करके चण्डी-पाठ शुरू करते हैं। होम का महत् आयोजन होता है। होमकुण्ड में घृतसिक्त बिल्वदल द्वारा अखंड आहुति प्रदान करते हैं। इस पूजापाठ, आमोद-प्रमोद और उत्सव समारोह में महासप्तमी, महाष्टमी और महानवमी के दिन बीत जाते हैं। विजयदशमी आती है।

इस दिन दुर्गा कैलाश को प्रयाण करेंगी अतः भक्त-हृदय आकुल हो उठता है। लोग चन्दन-सिक्त बिल्वदल और पुष्पांजलि माता के चरणकमलों में अर्पित करते हैं और उन पर अपनी मनोकामना प्रकट करते हैं। भक्तगण मन्त्रोच्चार करते हुए दुर्गा-मण्डप की प्रदक्षिणा करते हैं। इसके उपरांत दुर्गा

की प्रतिमा बड़े समारोह के साथ गंगा में विसर्जित की जाती है। विसर्जन से लौटने पर लोग शांति जल ग्रहण करते हैं और छोटे-बड़ों को प्रणामपूर्वक आलिंगन करते हैं। नाना प्रकार के आनन्दोत्सव और आनन्द-प्रमोद के प्रसंग उपस्थित किए जाते हैं।

उत्तर भारत के अन्य प्रान्तों में दुर्गा को प्रसन्न करने के निमित्त व्रत रक्खे जाते हैं। वहाँ विजयदशमी वाला दिन विशेष धूम-धाम से मनाया जाता है। उसका संबंध श्री भगवान् रामचन्द्र जी की लंका विजय से होता है। प्रायः सभी बड़े नगरों में रामलीला होती है और विजयदशमी के दिन रामचन्द्र की सेना बड़े समारोह और ठाठ-बाट के साथ नगर की प्रमुख सड़कों पर घुमाई जाती है।

मेला-वर्णन

कुम्भ का मेला

१—भूमिका—मेलों पर कुछ विचार। २—मेले की तैयारी; जनता का उत्साह। ३—मेले का दिन। स्नान पर्व रात के समय साधुओं के स्नान करने का वर्णन। ४—दिन का मेला; अनेक दृश्य—(क) डेरे; (ख) विभिन्न प्रांतों के मनुष्य; (ग) मनोरंजन के साधन; (घ) अखाड़े इत्यादि। ५—असुविधाएँ; (क) अखाड़े में लड़ाइयाँ; (ख) हैजा प्लेग इत्यादि बीमारियों की आशंका; (ग) भीड़ के कारण उत्पन्न असुविधाएँ। ६—'भारत की आत्मा पहचानने के लिए आवश्यक अंग।' इस प्रकार के मेले राष्ट्रीय जीवन में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं।

हमारे इस विशाल देश में यात्रा करने के साधन आज जितने सुलभ हैं उतने प्राचीन काल में नहीं थे, परन्तु हमारे पूर्व पुरुषों ने यह ज़रूर समझ लिया था कि देश की सांस्कृतिक एकता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न भागों की जनता परस्पर संपर्क में आती रहे। कदाचित् इसीलिए मेलों की योजना हुई होगी। देश के चारों कूटों पर तीर्थ स्थानों की

स्थापना हुई और अनेक स्थानों को धार्मिक महत्त्व दिया गया। इन स्थानों पर एक वर्ष या किन्हीं वर्षों के अंतर पर बड़े समारोह पर मेले होते, व्यापार की वस्तुओं का आदान-प्रदान होता और विभिन्न धार्मिक भावनाओं का एक दूसरे के पास आ कर एक दूसरे को समझाने का मौका मिलता।

दूसरे देशों में जहाँ संस्कृति की नींव व्यापार, आर्थिक स्थिति अथवा अन्य ऐसी ही लौकिक बातों पर रक्खी है, हमारी संस्कृति की जड़ में धर्म की पारलौकिक भावना है। इसी से हमारे लगभग सभी मेलों के मूलों में धर्म है। कुम्भी और कुम्भ के मेले भी कुछ इसी प्रकार के हैं। इनमें कुम्भी का मेला ६ वर्ष पश्चात् होता है, कुम्भ का १२ वर्ष।

यह मेला प्रयाग के संगम पर लगता है। इस अवसर पर संगम में स्नान करने का बड़ा महत्त्व है। भारत के विभिन्न भागों में लोग बड़ी उत्सुकता से उस दिन की राह देखते हैं जब वे इन मेले में भाग लेने के लिए चल पड़ें। साधुओं, वैरागियों और संन्यासियों के अखाड़े पूरे साज-बाज के साथ महीनों पहले चल पड़ते हैं और पखवाड़ों पहले उनके डेरे गंगा संगम के आसपास पड़ जाते हैं।

कुम्भ के दिनों की हलचल का वर्णन करना बड़ा कठिन है। आगे नागा और वैरागियों के डेरे होते हैं। जिस-जिस विशेष संप्रदाय से यह लोग संबंध रखते हैं, उस-उस विशेष सम्प्रदाय की ध्वजाएँ इनके डेरे पर फहराती होती हैं। बीच में महंत का अखाड़ा होता है। तम्बुओं के आगे चिमटे गड़े रहते हैं, धूनियाँ सुलगती हैं। कहीं घोड़े रहते हैं। उनकी गद्दी के पीछे ५०-५०, १००-१०० गाँव लगे होते हैं।

उनके पीछे अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के साधुओं के डेरे होते हैं। बीच-बीच में सेवा-समितियाँ और बालचर-संस्थायें देखभाल के लिये। लाखों की भीड़ की देखरेख करना कोई सरल काम नहीं है, इसमें सरकार और जनता की सेवा-समितियों को सहयोग देना पड़ता है। सब के पीछे साधारण यात्रियों के डेरे रहते हैं। अनेक यात्री स्थान की कमी के कारण पंडों के घरों में टिक जाते हैं।

कुम्भ का दिन आता है। बड़ी रात से डेरों में चहल-पहल होने लगती

है। दूकानें रात भर खुली रहती हैं संगम तक नावें लग जाती हैं। बाँस-रस्सियों का एक जाल बिछाया जाता है जिससे कोई दुर्घटना न हो। पहले नागे उठते हैं फिर वैरागियों का दल चलता है और उनके पीछे परंपरा से चलते हुए क्रम के अनुसार विशेष-विशेष वर्ग के साधु। अभी रात होती है अतः मशालों, गैसों और लैम्पो के प्रकाश में नागा-महंत संगम पर डुबकी लेता है। फिर सहस्रों मंत्रों के घोष के साथ उसके साथी नागे, फिर वैरागी। भारत की धर्मप्राण आत्मा के दर्शन उसी समय होते हैं।

दिन फूटता है। साधु लोग नहा चुके होते हैं। अब गृहस्थों की बारी है, वे चलते हैं। बच्चे, युवक-युवतियाँ, बूढ़े। तरह-तरह की दूकानें सजती हैं, कोई यहाँ किनारे पर डुबकी लगा रहा है, कोई नाव पकड़े संगम पर झूल रहा है। पुलिस और सेवा-संस्थाएँ प्राण-पण से जनता की सेवा में लगी हुई हैं।

कभी-कभी कोई विशेष अखाड़ा अन्य अखाड़े से पहले संगम पर नहाने का दावा करता है। उस समय परिस्थिति बड़ी विषम हो जाती है। चिमटे हथियार बन जाते हैं। ऐसे बजते हैं कि न पूछो। पुलिस और जनता के नेता किसी तरह बीच में पड़ कर शांति की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी किसी महन्त का कोई लाडला हाथी बिगड़ जाता है। ऐसी सैकड़ों छोटी-बड़ी दुर्घटनाओं की सम्भावना रहती है। परन्तु सबसे बड़ी असुविधा नहाने के दिन होती है। कभी-कभी मेले में कोई बूढ़ा या बूढ़ी, बच्चे इत्यादि कुचल जाते हैं, परन्तु इतने बड़े मेले में कोई कितनी सुविधा की आशा करे।

कुम्भ की सबसे निराली चीज़ भीड़ है। देश के सभी प्रांतों के वस्त्र यहाँ मिलेंगे। यह मराठी है, यह गुजराती है, वह बंगाली। भगुआ कपड़ों और झंडों से गंगा का जल दूर तक दिखाई नहीं पड़ता। और इतना कि कान बहरे हैं। हाथ छूटा कि मील भर दूर जा पड़े। अब साथी लाख करें ढूँढ़ने की चेष्टा व्यर्थ है। गंगामाता की कृपा हुई तो मिले; नहीं तो भाग्य का भरोसा करके अकेले घर लौट जाइये और वहाँ उनकी राह देखिये।

मेले में मनोरंजन का अच्छा प्रबन्ध रहता है। नाटक कम्पनियाँ होती

मदारी भी दीख जाता है। कहीं-कहीं हनुमान अखाड़े और बजरंग टोली में पहलवानी भी होती है। हज़ारों आदमी अखाड़े को घेर कर खड़े हुए तमाशा देखते होते हैं।

धर्मप्रचार की तो बात ही न पूछिए। साधुओं के डेरों के आगे तुलसी और बाल्मीकि की रामायण की कथा बैठी होती है; कहीं अद्वैतवादी वेदांती का व्याख्यान होता है। कहीं आर्यसमाज गायक 'वेदों का डंका आलम में' गाता हुआ; सुर-बेसुरा, गाना नक्की। परन्तु भक्त जमे हुए मजे ले रहे हैं, जैसे इन्द्र के गन्धर्व का गाना सुनते हों।

यह सच है कि इस प्रकार के बड़े मेले में भाग लेना असुविधाजनक है। हैजे की आशंका रहती है। अधिकारियों के प्रयत्न करने पर भी शुद्ध जल-वायु नहीं मिलता। रोग जड़ पकड़ लेते हैं। परन्तु यदि भारत का ठीक-ठीक स्वरूप पहचानना है तो ऐसे अवसरों की अवहेलना नहीं की जा सकती। यही मेले प्रयत्न करने पर राष्ट्रीय जीवन के उन्नायक हो सकते हैं। यहीं से ऐसे विचार फैलाए जा सकते हैं जो दूर-दूर के प्रांतों में जड़ जमाएँ और जो हमारी संस्कृति को नया मौलिक रूप दे सकें।

संस्था-वर्णन

बालचर-संस्था

१—भूमिका। २—बालचर-संस्था का जन्म और विकास। ३—संस्था का संगठन। ४—बालचरों की वेश-भूषा। ५—देश की प्रगति में बालचर-संस्था का स्थान। ६—बालचर संस्था का भविष्य।

बालचर-संस्था एक बिल्कुल नवीन चीज़ है। २०वीं शताब्दी से पहले इसका कहीं भी अस्तित्व नहीं था। उस समय तक कदाचित् ही किसी को यह विचार हुआ हो कि देश के भावी युवकों, किशोरों और बालकों को संगठित करके उनसे किसी ऊँचे काम की आशा की जा सकती है। आज प्रत्येक सभ्य देश में बालचर संस्थाएँ हैं जो अपने-अपने ढङ्ग पर समाज और राष्ट्र की सेवाएँ कर रही हैं।

इस संस्था का जन्म दक्षिण अफ्रीका में हुआ। उस समय अफ्रीका के इस भाग में बूअर-युद्ध हो रहा था। यह १६०६ की बात है। उस समय बड़ी अवस्था के रंगरूटों की कमी होने के कारण सर बैडन पावल का ध्यान इस ओर गया कि बालचरों की एक सेना बनाएँ और उनसे गुप्तचर तथा स्वयं-सेवक का काम लें। मि० पावल फ़ौज के अनुभवी व्यक्ति थे। उनमें अच्छे संगठनकर्त्ता के सभी गुण थे। थोड़े ही समय में उन्होंने बालचरों की एक बड़ी संख्या इस काम के लिए तैयार कर ली। इसने बूअर-युद्ध में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

बूअर-युद्ध समाप्त हो गया। जिस काम के लिए बालचर संस्था का जन्म हुआ था, वह हो गया था। परन्तु सर बैडन पावल दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने प्रयोग को दूसरी दिशा दी। यदि एक संस्था युद्ध के दिनों में सेवाकार्य कर सकती है तो, वह शांति के दिनों क्यों चुप बैठी रहे? महामारी है, दैवी प्रकोप है, मेले-उत्सव हैं—सभी ऐसे अवसरों पर देश या प्रांत की सरकार को नागरिकों से कोई विशेष सहायता न मिलने के कारण असुविधा रहती है। यह संस्था इस प्रकार के कामों में हाथ बटा सकती थी। उन्होंने बालचर-संस्था का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्हें आशातीत सफलता हुई। थोड़े ही समय में लगभग सभी राष्ट्रों में इस तरह की संस्थाएँ खुल गईं।

भारतीय बालचर-संस्था का जन्म महायुद्ध के समय हुआ। श्रीमती ऐनीबीसेंट ने इसकी संस्थापना की। अब तो दूर-दूर के नगरों में बालचर हैं। अनेक स्कूलों में अधिकारी इस प्रकार की संस्था का संचालन करते हैं।

बालचर संगठन का आधार सैनिक संगठन है। स्वयम् इसके प्रवर्तक श्री बेडन पावल सेना के एक व्यक्ति थे। अतः कुछ नैतिक सिद्धान्तों को आधार मान कर उन्होंने इसी सैनिक ढङ्ग पर इस संस्था को खड़ा किया।

१० वर्ष की आयु इस संस्था में प्रवेश करने की आयु है। इससे छोटे बालक भरती नहीं होते। बालचरों के दस नियम हैं। उन्हें ईश्वर के प्रति, राजा के प्रति, देश के प्रति कर्त्तव्य पालन करने की शपथ खानी पड़ती है। वह प्रत्येक अवस्था में दूसरे की सेवा करने में तत्पर रहता है। ८-८ बालचरों का एक पैट्रोल होता है जो एक नायक पैट्रोल-नायक के अनुशासन में होता है।

इस बालचर कूद पड़े। उसके प्राण बच गए। रोगियों और पीड़ितों की परिचर्या करना तो एक साधारण बात है।

देश के स्वतन्त्र होने पर बालचर संस्था का और भी विकास होगा। उस समय यह संस्था कितनी शक्तिशाली होगी, यह अनुमान किया जा सकता है। परतन्त्रता के कारण राष्ट्र के आत्म-विश्वास की हानि उसकी जीवित-जागृति संस्थाओं के विकास में बाधा डालती है। स्वतंत्र राष्ट्र में इस प्रकार की संस्थाएँ ठीक जलवायु पाकर प्रकाश की ओर पनपती हुई बढ़ती हैं। देश के नारी-जीवन में जागृति हुई है, उसके कारण अब बालिका-बालचर-संस्थाएँ (Girl Guides) भी जन्म ले रही हैं। संक्षेप में, इस संस्था की सर्वतोन्मुखी उन्नति में आज भाग लेने वाले बालक विशेष रूप से सहायक होंगे।

नगर-वर्णन

प्रयाग

१—भूमिका। २—ऐतिहासिक महत्त्व, हिन्दू धर्म और संस्कृति का प्राचीन केन्द्र। ३—विभिन्न संस्कृतियों का सामञ्जस्य। ४—प्रयाग, चौक और सिविल लाइन्स। ५—देखने योग्य कुछ चीजें। ६—वर्त्तमान समय में नगर के महत्त्व के कारण। ७—नगर का भविष्य।

भारतवर्ष गाँवों का देश है। उसकी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग खेती के सहारे जीता है, और इसीलिए किसी एक बड़े केन्द्रीय स्थान में रहने की अपेक्षा छोटे-छोटे गाँवों के रूप में इधर-उधर छिटका रहता है। परन्तु बहुत प्राचीन काल से ही कुछ नगर भी होते आए हैं। यह बहुधा ऐसे स्थान पर बसे हैं जहाँ या तो व्यापार की विशेष सुविधाएँ थीं या जिनका किसी कारण से ऐतिहासिक या धार्मिक महत्त्व था।

ऐसा एक नगर प्रयाग है। यह गंगा-यमुना के संगम पर बसा है। प्राचीन काल में यातायात के साधन सुलभ नहीं थे। सारा देश प्राकृतिक वनों से ढका था। ऐसे समय में यात्रा नदियों द्वारा ही हो सकती थी। धीरे-धीरे कृषि आदि कारणों से इन नदियों ने धार्मिक महत्त्व प्राप्त कर लिया।

सभ्यता का नया युग आया। प्रयाग तीर्थ-स्थान हो गया। तब से आज तक यह आर्यसभ्यता और संस्कृति का केन्द्र है। 'हरिद्वारे प्रयागे च गंगा-सागर संगमे' वाले श्लोक में गंगा की धार्मिक महत्ता के कारण इस नगर की प्रतिष्ठा की बात कही गई है। यही नहीं, इस एक नगर ने अनेक प्राचीन राज्यों का उत्थान-पतन देखा है; इसमें कितने ही राजा महाराजाओं का अभिषेक हुआ है।

आज का प्रयाग पिछले समय के प्रयाग से बहुत भिन्न है। एक समय था, जब इस स्थान पर धर्मजिज्ञासु और महात्मा रहा करते थे, यह संकुल विद्याओं का केन्द्र था। अशोक इस स्थान पर धर्म-संगति बुलाता था; धर्म के आदेशों के प्रचार के लिये लाट बनवाता था। हर्ष प्रत्येक वर्ष इसी स्थान पर सहस्रों मुद्राओं का दान किया करता था। उस समय की कथाओं में जिस आर्य-बौद्ध-संस्कृति की झलक मिलती है, वह अब उन रूपों में वहाँ नहीं है।

मध्यकाल में मुसलमानों ने इलाहाबाद नाम से इससे सटी हुई बस्ती बनाई। इस संस्कृति की छाप अकबर के क़िले और ख़ुसरोबाग के मक़बरों के रूप में आज भी हमारे सामने है।

प्रयाग का भाग संस्कृति की दृष्टि से अधिक प्राचीन है। इस पर उतरने के लिये इसी नाम का स्टेशन है। परन्तु नगर का प्रधान भाग इलाहाबाद जन्कशन के पास पड़ता है। इस प्रधान भाग में हमें यूरोपीय संस्कृति के भी दर्शन होते हैं; विशेष कर भवन-निर्माण में। सिविल लाइन्स की ओर निकल जाइये। आप यूरोप के किसी सुन्दर, समृद्ध नगर की छटा वहाँ पा जाएँगे।

आज भी इलाहाबाद संस्कृति का केन्द्र है। यहाँ एक विश्वविद्यालय है; हाईस्कूल और इंटर शिक्षा के केन्द्र हैं; कई कालिज हैं। संस्कृत की पढ़ाई के लिये निःशुल्क पाठशालाएँ हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रधान केन्द्र यहीं है; प्रत्येक वर्ष सैकड़ों छात्र यहाँ से विद्याध्ययन करके प्रांत के दूसरे भागों में जाते हैं।

नगर में देखने योग्य बहुत-सी चीज़ें हैं। अशोक की लाट और अकबर के क़िले का उल्लेख पहले ही हो चुका है। अन्य वस्तुओं में म्युनिसिपल

अजायबघर, हाई कोर्ट, यूनिवर्सिटी, लीडर प्रेस, मोतीलाल जी का आनन्द भवन और स्वराज्य भवन हैं। इस समय प्रांत के नगरों में इसके अधिक महत्वपूर्ण होने के दो कारण हैं। एक तो यह शिक्षा का केन्द्र है; दूसरे यहाँ हाई कोर्ट और दूसरी ऊँची अदालतें हैं। प्रांत की सरकार के अनेक दफ्तर इलाहाबाद में हैं। कल तक यह नगर प्रांत की राजधानी था। आज लखनऊ को राजधानी बना दिया गया है, परन्तु अभी इससे संबंध नहीं टूट सका है। अखिल भारतीय कांग्रेस-महासमिति के कार्यालय भी यहीं हैं। इस प्रकार यह नगर प्रांत के सांस्कृतिक और राजनैतिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

सिविल लाइन्स की तरफ निकल जाइये—अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का रूप आँखों के सामने उभर आयेगा। यहाँ ऊँचे-ऊँचे सिविलियन रहते हैं। विदेशी ढंग के बँगले हैं, मोटर हैं, अंग्रेजी समाज है; देशी कहलाना अपमान समझा जाता है। चौक के आसपास घूमिये—एक ओर इस्लामी संस्कृति की बू—पुलाव-कोर्मा की दूकानें, गंदी, सकरी गलियाँ, टोंटीदार लोटे। दूसरी ओर हिन्दू संस्कृति का शंखनाद, सकरी गलियाँ, छुट्टे हुए साँड़, लूले-लँगड़े साधु। कदाचित् किसी भी अन्य नगर में संस्कृतियों का इतना विरोधी रूप पास-पास नहीं मिलेगा।

लगता ऐसा है, निकट भविष्य में यह नगर और उन्नति करेगा। इसके पास ही बमरौली हवाई जहाजों का स्टेशन है। उत्तरी भारत के मध्य में होने के कारण यह नगर हवाई मार्ग के लिये महत्वपूर्ण है। पूर्व की ओर जाने वाले वायुयानों को यहाँ ठहरना आवश्यक हो जाता है।

प्रयाग का एक भाग ऐसा भी है जहाँ बड़े-बड़े मठ-मंदिर और महन्तों के अखाड़े हैं, [illegible] है। कुम्भ और माघी के अवसर पर [illegible] स्वरूप आता है। उस समय यह नगर अपने धार्मिक [illegible] रूप में हमारे सामने प्रकट होता है।

भवन-वर्णन

ताजमहल

१—एक भक्ति। २—वर्णन बाह्य दृश्य—(क) प्रधान द्वार, (ख) संग्रहालय; (ग) उपवन; फव्वारे का सौन्दर्य; (घ) उठे हुए ऊँचे चबूतरे पर बने हुए मीनारों के बीच में गुम्बद; प्रधान समाधि-भवन का वर्णन; उसकी वास्तुकला। ३—आभ्यन्तरिक दृश्य—(क) पच्चीकारी और चित्रकारी; (ख) समाधियाँ; (ग) अन्य उल्लेखनीय बातें। ४—पूनों की चाँदनी में ताज का दृश्य। ५—उसके द्वारा उत्पन्न मनोभाव। मृत्यु और कला के युद्ध में कला की जय। ६—रविबाबू की ताजमहल शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ।

काश्मीर के कवि ने एक स्थान पर लिखा है :—"अरी ओ मेरी शालामार की बुलबुल, मैं तुझे अपने गीतों में अमर कर दूँगा। मौत के काले हाथ तुझे मुझसे कैसे छीनेंगे?" यह उसने अपनी प्रेमिका को सम्बोधित करके लिखा है। शाहजहाँ कवि नहीं था; परन्तु उसने वही कर दिखाया जिसके लिए प्रत्येक प्रेमी व्यर्थ का दावा करता है। उसने अपनी प्रिय पत्नी मुमताज को अमर कर दिया है। उसके शव के ऊपर उसने यह सुन्दर समाधि बनाई जिसका जोड़ संसार में कहीं भी नहीं है।

ताजमहल आगरे के लाल किले से दो मील दूरी पर यमुना के तट पर बना है। एक ओर नदी है, तीन ओर बगीचे हैं। ताज की छाया नदी की लहरों की गोद में सोई रहती है; बगीचों की गंध उसे थपकियाँ देती है।

यह भवन बाईस वर्ष में बन सका था। बाईस हजार आदमी इस पर काम करते थे। शाहजहाँ आप यहाँ आ जाता और उसे बनते हुए देखता। जब वह ऊँचा उठने लगा तो उसने लाल किले के एक ऊँचे बुर्ज से उसे देखना जारी रक्खा। ऐसा था वह प्रेमी जिसका प्रेम और विरह पत्थरों में मूर्त होकर शताब्दियों से अपनी मूक कथा कह रहा है। करोड़ों रुपया उसके बनने में लगा। शाहजहाँ ने भारत और ईरान के अच्छे से अच्छे शिल्पी और कलाकार बुलाए, उन्हें काम दिया, उनके द्वारा अपने स्वप्न को रूप दिया।

प्रवेश लालपत्थर का है। इसके ऊपर एक नौबतखाना है। यह इतना सुन्दर है कि यही शाहजहाँ की प्रेयसी को अमर कर सकता था। इसमें से होकर हम एक खुली हुई जगह में आते हैं। रास्ते के दोनों ओर छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं। इनमें सैनिक रहते होंगे। कुछ दूर जाने पर हमें बायें हाथ को ताजमहल का मुख्य द्वार मिलता है। यह स्फटिक का बना हुआ है और देखने में बड़ा विशाल जान पड़ता है।

द्वार पर अरबी में कुरान के पारे लिखे हुये हैं।

इस दरवाजे के भीतर एक छोटा-सा संग्रहालय है जिसमें मुगल सम्राटों के कुछ पुराने चित्र, तीर-कमान, तलवारें और कुछ विचित्र ढंग के पात्र रक्खे हुए हैं। पथप्रदर्शक आपके साथ हो लेता है और बड़े रोचक ढंग से आपको इनके संबंध में बताता है।

इस टूटे द्वार में होकर हम एक सुन्दर उपवन में आते हैं। इस स्थान से ताज बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। प्रधान द्वार से ताज की ओर एक चौड़ा रास्ता बना है। इसके दोनों ओर आऊ के पेड़ खड़े हैं जो पंक्तिबद्ध सैनिकों से जान पड़ते हैं। बीच में पानी बह रहा है। यह पानी फुब्बारों का है। पतली बारीक धारों में छूटता हुआ पानी कैसा सुन्दर जान पड़ता है। इसके बाद हम एक सुन्दर तालाब के पास आते हैं। उसके किनारे बेंचें पड़ी हैं जिन पर बैठकर यात्री सुस्ता सकते हैं। इसमें उछलती हुई रंगीन मछलियाँ और खिले हुए कमल कैसे सुन्दर मालूम होते हैं। इस स्थान पर खड़े होकर पूरा ताज आपके सामने आ जाता है। दोनों ओर कटी-छटी घास के मैदान हैं। किनारे-किनारे सुन्दर जाति के पौधे और फूलों के वृक्ष लगे हैं जो मन को लुभा लेते हैं।

हमारे सामने ताज का चबूतरा है। इस चबूतरे पर समाधि-भवन बना है। यह स्फटिक का है। प्रत्येक कोने पर एक छोटा-सा मीनार है, इसके बीच में ताज का गुम्बद है जिसके ऊपर सुनहरी चोटी है। दूर से देखने पर यह ऐसा लगता है जैसे क्षितिज पर एक बड़ा-सा मोती रक्खा हो। इस महान् सौन्दर्य और वैभव के आगे मनुष्य का हृदय नत हो जाता है। गुम्बद पर

फूल-पत्ते बने हैं। इसकी हर एक चीज़ बड़ी भव्य और कलापूर्ण है। प्रत्येक अंग में इतना अनुपात है कि आश्चर्य होता है।

इस गुम्बद के नीचे शाहजहाँ और मुमताज़ महल की कब्रें हैं। ये असली कब्रें नहीं हैं। असली कब्रें नीचे तहखाने में हैं परन्तु ठीक उनके ऊपर यह नकली कब्रें बनाई गई हैं। पथप्रदर्शक आपको नीचे सीढ़ियों से ले जाकर टार्च के प्रकाश में ये असली समाधियाँ दिखायेगा। ये ऊपर की कब्रों से भी कहीं अधिक सुन्दर हैं।

हम फिर ऊपर आते हैं। हमारे चारों ओर बड़ी बारीक और कलापूर्ण पच्चीकारी की गई है। कहीं कुरान की आयतें हैं; कहीं फूलों के गुच्छे हैं; कहीं बेलें और फूल-पत्ते अपने प्राकृतिक रंग में हैं। इनमें बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग किया गया है और उन्हें इस तरह से स्थापित किया गया है कि वह एक विचित्र प्रकार के प्रकाश को विच्छुरित करते हैं।

चाँदनी रात में ताज पृथ्वी की वस्तु नहीं रह जाता। एक अलौकिक, पार्थिव सौन्दर्य उस पर खेलने लगता है! चाँद की किरनें गुम्बद पर लगे हुए रत्नों पर पड़ती हैं और सारा प्रकोष्ठ दीप्त हो उठता है। उस समय प्रशंसा के कोई शब्द मुँह से नहीं निकलते! संसार के दूर-दूर के भागों से लोग ताज का यह सौन्दर्य देखने के लिये आते हैं। इस सौन्दर्य के पीछे जो करुणा प्रेम-भावना मिलती है उसने इसे और स्निग्ध बना दिया है। उसे क्या लेखनी प्रकट कर पायेगी?

मृत्यु! तुम अमर हो। हमारे सारे क्षुद्र प्रयत्नों के ऊपर तुम्हारी गंभीर, श्यामल छाया है। प्रेम मृत्यु को प्राप्त होता है; प्रेमी और प्रेमिका का पार्थिव शरीर नष्ट हो जाता है। हृदय की भावनाएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। उन्हें आकार नहीं मिलता, नहीं मिलता। हाय!

एक पुरुष ने एक स्त्री से प्रेम किया था। वह करुण प्रेम आज शताब्दियाँ बीतने पर भी मूक और अश्रुपूर्ण हमारे सामने आ जाता है। कला उसे काल के शाप से अक्षुण्ण बनाए रखती है। परन्तु ताज की कला तो उस प्रेमी शाहजहाँ के हृदय का प्रतिबिम्ब ही है। काल के कपोल पर प्रेमी सम्राट् का अश्रु जमकर पत्थर हो गया परन्तु उसके हृदय के क्रन्दन ने उसको

जो सौन्दर्य दे दिया वह इस पृथ्वी का तो नहीं है। इसीलिए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है :—

हे सम्राट, कवि,
एइ तव हृदयेर छवि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्‌भुत,
छन्दे गाने,
उठियाछे अलक्षेर पाने
जेथा तव विरहणी प्रिया
रयेछे मिशिया

(हे सम्राट्! हे कवि! यह तो हृदय की छवि है। यह तेरा नया मेघदूत है। यह अपूर्व है। अद्‌भुत है। यह छन्द और गीत में उस अलक्ष्य की प्राप्ति में उठा रहा है जहाँ तेरी विरहिणी प्रिया का करुणापूर्ण अधिवास है!)

यात्रा-वर्णन

नाव की यात्रा

१—भूमिका—यात्रा का विचार कैसे उठा? २—तैयारी। ३—किसलिये? ४—यात्रा का वर्णन (क) आपस की चुहल। (ख) घाटों का दृश्य। (ग) प्राकृतिक दृश्य। ५—यात्रा की सुविधाएँ-असुविधाएँ। ६—वापसी। ७—लौटते समय के बदले हुए दृश्यों का वर्णन। ८—नाव द्वारा यात्रा के संबंध में कुछ विचार। ९—एक दार्शनिक दृष्टिकोण।

छुट्टियों का इससे अच्छा उपयोग क्या हो सकता है कि आदमी यात्रा करे और प्रकृति का आनन्द ले। साथ में मित्र हों तो फिर बात ही क्या! बड़े दिन की छुट्टियाँ समाप्त हुई जा रही थीं। एक दिन बदली थी। हम दिन भर ताश खेले थे। थक गए थे। एक साहब एक प्रोफेसर साहब की बात सुना रहे थे जो इतने दार्शनिक थे कि अपने नोटों को कापी छाक के

बच्चे में डाल आए। इसी होहल्ले में यह तय हुआ कि वृन्दावन चला जाय, और अभी चला जाय, और नाव से।

एक ने कहा—चलो रामआसरे को भी ले लो। बड़ा गमदूस है। न कहीं आता है, न जाता है। घोंघू! तय रहा। एक सज्जन रामआसरे को खोजने चले। एक बाजी "Sixty Six" की और हुई। रामआसरे आ गया। कहने लगा—लिए तो जाते हो, पर कहे देता हूँ कि जहाँ ये चरण पड़े वहाँ मरण निश्चय है। इस पर सब उसके ऊपर कूद पड़े। उसे घेर कर कहकहा लगाने लगे।

राय हुई, कुछ खाने को साथ लिया जाय। गरम गरम कचौड़ियाँ हों, मिठाई हो। चाँदनी रात थी। बादल हट चुके थे। हेमंत के बादल ही कितने टिकाऊ होते हैं। तब हम विश्रान्त घाट की तरफ चले।

घाट पर पहुँच कर हमने पुकारा—कोई है? थोड़ी देर में हम माँझियों से घिरे हुए थे। वे परस्पर झगड़ रहे थे। हरएक चाहता, उसे मल्लाही मिले। सचमुच बड़े संघर्ष का समय है। आखिर एक से पट गई। दो रुपये में वापसी।

नाव पर एक माँझी था, एक मल्लाह। हम छः थे बड़े आराम से बैठ सकते थे। चाँदनी में नाव छोड़ दी गई। माँझी ने लग्गी से नाव ढकेलते हुए आगे झुक कर कहा—ए........ए हो! नाव नदी में सरक गई और उसकी आवाज़ की प्रतिध्वनि अगले किनारे से हमारे पास लौटने लगी।

अब हम धारा के बीच में थे। हमारे बदन में ठंडी हवा लग रही थी। रामआसरे लोई लपेटे था। हमने उसे खुलवा कर पैरों पर डाल लिया। नदी के किनारे-किनारे घाट बने हुए थे और उनके पीछे मन्दिरों के कलश ऊँचे उठ कर आकाश को छूते थे। जहाँ देखिए चाँदी बिखरी हुई है। लहरों पर चाँदनी नाच रही है। दूर के पेड़ों में जुगनू जल-बुझ रहे हैं। नाव धीरे-धीरे बह रही थी; लहरों से हलकी छपछप की आवाज़ आती थी। शेष सब शांत था। मथुरा मंदिरों और घाटों के लिए प्रसिद्ध है। वे पीछे छूटे जा रहे थे।

हमने माँझी से कहा—हाँ भाई, धीरे हाथ से। सरजू ने अपनी जेब

से बाँसुरी निकाली। "वाह यार, तुम तो इसे खूब लाए।" वह उसे बजाने लगा। तिलक कामोद की कोई गत थी।

हम प्रकृति का आनन्द लेते हुए बह रहे थे। बंसी के स्वर हमारे कानों में गूँज रहे थे। यह जैसे पृथ्वी न हो, स्वर्ग हो या मानसरोवर हो और हम राजहंस हों।

नदी में किसी ने बहुत से दीपक बहा दिये। वह लहरों पर उतरा रहे थे। रामआसरे ने झुक कर एक को पकड़ना चाहा तो नाव उलटने लगी। "बड़े मनहूस हो," सरजू ने बाँसुरी रोक कर कहा, "डुबाओगे?" रामआसरे ने कहा—मरने से डरते हो, छिः! हमने कहकहा लगाया—वाह, यह भी खूब रही। जान मँगनी की है? तभी हमारे एक साथी ने कहा—आओ, मुझे एक कहानी याद आ रही है। एक ऐसी ही यात्रा की कहानी है।

"क्या विषय है?"

"भूत!"

रामआसरे ने ठहाका लगा कर कहा—"भूत! बाबा......"

हमारा साथी कहानी कह रहा था। कैसे नाव के पीछे-पीछे पानी पर एक सफेदपोश आदमी दौड़ता हुआ आ रहा था। कैसे उसने नाव रुकवा ली। कैसे नाव में मिनमिना कर वह बोला और खाना माँगा। रामआसरे ने कहा—"झूठ है।

सरजू ने बड़ी गंभीरता से सिर हिलाया। वह बाँसुरी पर विहाग की धुन निकालने लगा। दूसरे लोग वही भूत की बात करते रहे।

वृन्दावन पहुँच कर हम नाव से उतरे। रात भर घूमने-फिरने का विचार था। खाना साथ था। कहीं जगह ढूँढ़ कर उसे भी खाना था।

झुटपुटा हो रहा था कि हम लौटे। रात को नदी का जो दृश्य हमने देखा था उसने हमें मुग्ध कर लिया था। अब जो दृश्य हमारी प्रतीक्षा कर रहा था वह उससे कहीं सुन्दर था। पूर्व की ओर से प्रकाश फूटा। दिशाएँ लाल होने लगीं। नदी तट पर मंजन-स्नान करते हुए लोग दिखाई दिये। पास के मंदिरों में शंखध्वनि और घंटानाद होने लगा। हमारा हृदय सुख से भर गया।

जब हम मथुरा के घाट पर उतर रहे थे तब तक सूरज का थाला ऊपर उठ आया था। रात के शीत के बाद किरनों से मिलती हुई गर्मी कितनी भली थी! ओ३म् का झंडा लगाए कई नौकाएँ जल में फिर रही थीं। वैरागियों का एक दल वृन्दावन जा रहा था।

उस दिन हमारा बड़ा मनोरंजन हुआ। यदि यात्रा करनी हो तो नाव से करे। रेल और मोटर तो चलते हुए-घर समझिए। इनकी शैतानी आँखों में प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का आनन्द कहीं मिल सकता है! पहले नावों में यात्राएँ होती थीं; तरह-तरह की सुन्दर नावें इसीलिए बनती थीं कि उन पर बैठ कर जल-विहार किया जा सके। पानी के श्यामल विस्तार का आँखों पर बड़ा ही आह्लादमय प्रभाव पड़ता है। ठंडी, स्वच्छ हवा; पक्षियों का कलरव; आपस की चुहल। भारतवर्ष बड़ी नदियों का देश है। बंगाल को तो नदियों का घर ही कहना चाहिये। वहाँ की नदियाँ तो समुद्र जैसा बड़ा पाट लिए होती हैं। जिसने नदी के ऊपर उगते हुए और डूबते हुए सूर्य को नहीं देखा, उसने कुछ भी नहीं देखा।

फिर यह जीवन एक धारा के समान ही तो है जिसका आदि दूर है, अंत दूर है। दोनों अज्ञात हैं। हम जितने प्राणी हैं, वे छोटी-बड़ी यात्रा ही तो कर रहे हैं। अंत तक कौन पहुँचा है? इस कालिन्दी के उद्‌गम को किसने देखा है?

विवेचनात्मक निबंध

विवेचनात्मक निबंध का अर्थ यह होता है कि लेखक किसी विषय पर अपना मत प्रगट करे और उस मत को तर्क और दृष्टान्तों से पुष्ट करे। यदि विषय ऐसा हो जिस पर मतभेद है या मतभेद हो सकता है, तो लेखक अपना जो मत स्थिर करे उसका विरोधी मत भी दे दे और उसकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना भी कर दे। जहाँ तक संभव हो, विषय को स्पष्ट करने के लिए जो दृष्टान्त दिए जायँ वे ऐसे हों जिससे साधारण पाठक परिचित हों। नहीं तो तर्क और विवेचना की नीरसता में पाठक के खो जाने की आशंका है।

विषय की विभिन्नता के अनुसार इस प्रकार के निबंध कई भागों में बाँटे जा सकते हैं। विवेचनात्मक निबंध के लिए यही आवश्यक है कि उसमें किसी भी विषय पर संक्षेप में गंभीर विवेचन हो और इस विवेचन में तर्क और भावना की मात्रा भी, जितनी ज़रूरत हो, रहे। फिर चाहे विषय की दृष्टि से वह तर्क किसी सिद्धान्त को पुष्ट करता हो या किसी ऐतिहासिक या वैज्ञानिक जिज्ञासा को तृप्त। ध्यान देने की बात यह है कि विचारावली का विकास स्पष्ट हो; उसमें साहित्य का रङ्ग रहे परन्तु वह विषय प्रतिपादन में बाधक न हो; विषय के अनुसार भाषा बदलती रहे परन्तु साधारणतः सरल, सुबोध और अलङ्कारहीन हो।

(क) विचारात्मक निबंधों में पहले मनोविज्ञान के आधार पर लिखे निबंध आते हैं। ये निबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) ऐसे निबंध जो रूपकों के सहारे लिखे गये हों।

(२) मानसिक प्रवृत्तियों पर अथवा उनके आधार पर लिखे निबंध।

(३) मनोवैज्ञानिक आलोचनात्मक निबंध।

विद्यार्थियों को इन सभी प्रकार के निबंधों में दक्ष नहीं होना है। उन्हें केवल दूसरी प्रकार के निबंध लिखने का अभ्यास करना होगा। क्रोध, दया, परोपकार आदि मानसिक वृत्तियों पर निबंध लिखने का अभ्यास उन्हें होना चाहिए। परन्तु उन्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार के निबंध लिखने में विस्तृत ज्ञान अपेक्षित है। उन्हें इस दिशा में अपना अध्ययन बढ़ाना होगा। साथ ही उन्हें कवियों और लेखकों की ऐसी पंक्तियाँ याद रहनी चाहिए जिन्हें वे सावधानी के साथ गूँथ सकें।

(ख) दर्शन-सम्बन्धी निबंध।

इस श्रेणी के निबंध परीक्षा की परिधि के बाहर हैं।

(ग) साहित्य सम्बन्धी निबन्ध

साहित्य से संबंध रखने वाले अनेक विषयों पर निबंध लिखे जाते हैं। विषय और उसके दृष्टिकोण के अनुसार इस प्रकार के निबंध के कई भेद हो जाते हैं :—(१) विवरणात्मक।(२) ऐतिहासिक। (३) कलात्मक। (४) विश्लेषणात्मक। (५) भाषा-विज्ञान सम्बन्धी। (६) तर्क-प्रधान विचारात्मक।

(च) इतिवृत्तात्मक निबंध

इस प्रकार के निबंध में किसी भी विषय पर इतिवृत्तात्मक ढंग से लिखा जाता है। विषय अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न हो सकता है, या अर्थशास्त्र या भूगोल या इतिहास या विज्ञान; कोई भी ठीक रहेगा। बात यह है, निबंध में विषय की अपेक्षा शैली की समानता पर विभाजन अधिक अच्छा हो सकता है।

ऊपर के विभाजन को देख कर घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विभाजन बहुत दूर तक कृत्रिम है; कारण, कि विषय हजारों हो सकते हैं। यह अवश्य है कि शैली में भी थोड़ा भेद रहता है। ऐतिहासिक विचारात्मक निबंध और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर लिखे हुये निबंध के रूपों में अन्तर होगा; थोड़ा थोड़ा शैली में भी, परन्तु इन दोनों में ही विचारों को सरल ढंग से सामने रखने की चेष्टा होगी। यह भी आवश्यक नहीं है कि साहित्य का पुट आये ही।

विवेचनात्मक निबंध के इतने अनेक रूप होने के कारण यह असंभव है कि उसके लिए कोई एक रूपरेखा दी जा सके। प्रत्येक निबंध के लिए अलग रूपरेखा होगी। उसके बनाते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि विचारों का तारतम्य टूटने न पाये और आपका दृष्टिकोण सुलझा हुआ रहे। विषय के उठाने के समय यह ध्यान रहे कि वह ठीक ढंग से आरम्भ किया गया हो। उसका विकास स्वाभाविक हो। जब निबंध अंत हो तो यह लगे कि आपने अपने दृष्टिकोण को सफलता से सामने रक्खा है और आपकी ओर से जो कुछ कहा जा सकता है वह आपने कह दिया है। एक बात और। इस प्रकार के निबंधों के नीरस, शुष्क, अव्यवस्थित, और आत्मक [illegible] कि शैली [illegible] विचार [illegible] होगा। [illegible]

शैली ही निबंध को आकर्षक नहीं बनाती। और भी बातें हैं। उसमें एक स्पष्ट विचार हो। विचार कुछ इस ढंग से रखे जायें कि उनमें नवीनता झलके। उनके द्वारा विषय पर एक ऐसा प्रकाश पड़ता हो जिसकी साधारण मस्तिष्क आशा ही न करता हो। विचारों का एक अपना आक-

र्पण होता है। विवेचनात्मक निबंधों को स्वयम् विषय-प्रतिपादन के ढङ्ग से रोचक और आकर्षक बनाया जाता है और यहीं लेखक को अपनी सारी मानसिक शक्तियों के साथ सतर्क होना होता है। वह क्या कहे, यह तो इतनी बड़ी समस्या नहीं है। उसे अपने विषय के लिये काफ़ी सामग्री मिल जायगी। परन्तु वह कहे कैसे? थोड़ी-से-थोड़ी साहित्यिक कला का प्रयोग करके वह अपने निबन्ध में पाठक की रुचि कैसे पैदा करे? उसकी उत्सुकता अंत तक कैसे बनाए रक्खे?

अंत में, निबंधों के साथ जो रूपरेखाएँ हैं उनका निबंध से मिला कर अध्ययन करते चलिए। इससे आपको यह पता लगेगा कि भिन्न-भिन्न प्रकार के निबंधों में भावना और विचार का विकास कैसे हो रहा है। यदि आप चाहें तो कुछ निबंधों को अपने ढंग पर लिखने का अभ्यास कर सकते हैं। यह सोचिए कि यदि आपके विचार वही हों जो निबंधकार के हैं या आपके पास भी वही सामग्री है तो इस ढङ्ग को छोड़ कर दूसरा आकर्षक ढङ्ग क्या होगा और उसके अनुसार आप कैसी रूपरेखा तैयार करेंगे।

ग्राम्य-जीवन

ग्राम्य जीवन के आनन्द

१—भूमिका—हमारे नगर गाँवों के ऋणी हैं। २—गाँवों की स्वच्छ हवा। ३—प्रकृति का सामीप्य। ४—छल, कपट, धूर्तता आदि से बचा हुआ मनुष्य का नैसर्गिक जीवन। ५—समाप्ति।

आज संसार की सभ्यता के इतिहास में गाँवों को कहीं भी स्थान नहीं है, परन्तु राजनैतिक महत्त्व और संस्कृति का दावा करने वाले किसी भी नगर से पूछिए—तुम्हारे मुख पर जो यह स्वास्थ्य की लाली है, क्या यह तुम्हारी है? क्या यह उधार नहीं ली गई है। यह निश्चय है कि यह अपने को गाँवों का ऋणी बताएगा।

किसी बड़े व्यवसायिक नगर से कुछ मील हट कर देश के भीतर चले जाइये। आप पर एक नया रहस्य खुलेगा। पहली बात लीजिये। कहीं शहर

का गुल-शोर, धूल। कहाँ गाँव की शांति। नगर में साफ़ हवा सोने के मोल में नहीं मिलती। यहाँ मुफ़्त। सुबह हो, मुँह पर दो चुल्लू पानी डाल कर कहीं किसी तरफ़ को निकल जाइये, कहीं घूम-फिर आइये। शाम हो, निकल पड़िये। खेतों के बीच पगडंडी है। दोनों ओर खेत लहरा रहे हैं। दो-दो पुरसे भर ईख इठला रही है। आप पगडंडी पर कोसों बढ़ते चले जाइये। बनियों ने शहर के पानी पर जिस तरह मुहर लगा दी, उसी तरह उनकी ऊँची अट्टालिकाओं ने गरीबों की हवा का गला घोंट दिया। यहाँ प्रकृति के किसी चीज़ पर टैक्स नहीं लगती।

दूसरी बात यह है कि नगर का मनुष्य प्रतिदिन अधिक सभ्य होता जा रहा है। उसके जीवन में प्रकृति का कोई स्थान नहीं। नगर के शौक़ीन निवासी 'पिकनिक' और पार्टियों के समय ही प्रकृति से भेंट करते हैं। और ऐसे अवसरों पर भी असुविधा के विचार से एक नगर अपने ऊपर ढो लाते हैं। जब वे सैर को निकलते हैं तो चलते हुए बंद घरों में। सभ्यता की इस दौड़ में मनुष्य को मुड़ कर प्रकृति की नित नवीन शोभा को देखने को समय कहाँ है! तभी तो अंग्रेज़ी के एक वर्तमान कवि ने कहा—Alas! we have no time to stay and stare (हाय, हमें इतना समय कहाँ कि ठहर भर जाएँ और एकटक देखें)।

हाँ, नगर वालों के भी अपने उद्यान हैं। तरह-तरह के देशी-विलायती फूल हैं। परन्तु उसमें न वह शान है, न वह रंग। वे अच्छी तरह काटे-तराशे रंगे कागज़ के फूल हैं। उनमें जंगल में खिली हुई बनबेला की सी महक कहाँ!

गाँव वह दर्पण है जिसमें आज भी हमारी प्रकृति का प्रत्येक रंग झलक जाता है। बरसात है तो दूर तक भरे हुए नदी-नालों की शोभा देखिए। बसंत है तो पीली सरसों के खेत लहलहाते नज़र आ रहे हैं। हमारे कितने ही त्योहार ऋतुओं से संबंध रखते हैं। यह कितना अच्छा है कि उन्हें उनके स्वाभाविक रूप में प्रकृति के बीच गाँवों में खेला जाता। ये वहीं की चीज़ हैं। आम में झूला पड़ा है। सखियाँ झूम-झूम कर चुनरी के गीत गा रही हैं। लोग पीली पागें बहरे हुए चले जा रहे हैं। हाथों में लाल मेंहदी है। आरसी

में जहाँ नगर के लोग पत्थरों के मकानों में तप रहे हैं वहाँ यहाँ लोग मिट्टी की बनी हुई, फूस की छाई, ठंडी कोठरी में लोट लगा रहे हैं। शाम को चौपाल पर इकट्ठे होकर घर-बाहर की जो चर्चा चलाई तो बड़ी रात गए उठे। यह आनन्द कहाँ है नगर में? वहाँ आदमी अपने-अपने लिए जीते हैं। उन्हें इतना अवकाश कहाँ कि एक जगह बैठ कर इस तरह एक दूसरे का दुख-सुख सुनें। शहर में आकर आदमी अकेला हो जाता है। इसी से धीरे-धीरे उसका हृदय मर जाता है। वह स्वयम् निर्जीव मशीन की तरह हो जाता है जिसे किसी से लगाव नहीं है, बस निरंतर चलना।

शहर में छल, कपट, धूर्तता और विश्वासघात का राज है। स्वार्थ इतना बढ़ा है कि दो पुरुषों के स्वार्थ टकरा जाए बिना रह ही नहीं सकते। जो सहयोग और सहानुभूति है बची है तो गाँव में रह गई। शहर में पड़े पड़े कोई दो [illegible] पानी नहीं देता। [illegible] तो पहले मन में [illegible]—कहीं आ [illegible] गाँव में [illegible]। ओढ़ा और आदर से स्वागत कर लिया। गाँव में अतिथि आया है। ठंडा पानी निकालिए। गुड़ गागर जो हुआ, अपने हैं।

ग्राम निवास अथवा नगर निवास?

१—भूमिका—सभ्यता का विकास; गाँव और नगर की उत्पत्ति और उनकी अनेक संस्थाओं का इतिहास। २—प्रो० [illegible] का मत। ३—ग्राम्य जीवन के आनन्द। ४—नगर निवास के [illegible]। तस्वीर का दूसरा रुख। ५—निकट भविष्य में।

प्रारम्भ में मनुष्य ने खेती-बारी करना सीखा। खेतों के आस-पास मिट्टी-फूस के झोंपड़े बना कर वह बस गया। इस प्रकार गाँवों का सूत्रपात हुआ। प्रत्येक गाँव अपने में पूर्ण। इसके बाद धीरे धीरे सभ्यता का विकास हुआ। शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ। कुछ गाँव महत्त्व पाकर बड़े-बड़े नगरों में बदल गए। इनकी जनसंख्या अधिक होती थी और सारी जनता सीधे ढंग से खेती नहीं करती थी। वह पास के गाँवों से [illegible] पदार्थों का क्रय करती थी।

धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ गाँव और नगर में महान अन्तर हो गया। नगर का महत्त्व बढ़ा कारण कि वह राजशक्ति का केन्द्र होता गया। आज यह अंतर इतना अधिक है कि गाँव के निवासी को हम देहाती कह कर पुकारते हैं; उसे अपने से हेय समझते हैं। गाँव में ईंट या मिट्टी के मकान होते हैं, नगर में चौके या पत्थर के। गाँव खुले होते हैं। नगरों में कबूतरों के दरबों की सी दशा होती है। अब बीसवीं सदी में यह अंतर कल-पुर्जे के कारण और अधिक हो गया है। गन्दे नाले, कारखानों की चिमनियाँ धुँआ उगलती हुई, एक ओर वैभव और ऐश्वर्य से जगमगाती हुई अट्टालिकाएँ, दूसरी ओर दरिद्र, बौने, मिट्टी के लौंदे, जिन्हें मनुष्य का घर कहते हुए लाज आती है।

समाज-विज्ञान का प्रत्येक विशारद आपको बताएगा कि आज संसार भर में जनता गाँवों को छोड़-छोड़ कर नगर में बसने जा रही है। प्रो० ई० ए० रास का यही मत है। यह संक्रमण पिछली शताब्दी से प्रारम्भ हुआ है। इस एक शताब्दी में नगरों की जन-संख्या ५-६ गुनी बढ़ी है। स्त्री-पुरुष के आपेक्षिक अनुपात में भी अन्तर पड़ा है जिसके कारण हमारे नगर नैतिक पतन के अड्डे हैं।

ग्राम में रहने से अनेक आनन्द मिलते हैं। पहली बात यह है कि वहाँ मनुष्य प्रकृति के अधिक निकट रहता है। जहाँ देखिये, वहाँ लहलहाती हुई घास; आमों से लदी हुई अमराइयाँ। साफ हवा-पानी। हरे-भरे खेत और वनस्पति की शोभा मनुष्य के अन्तर में एक कोमल भाव को जगा देती है, यही कारण है कि ग्रामनिवासियों की प्रवृत्ति का झुकाव स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि की ओर इतना नहीं होता जितना नागरिकों का। कलें मनुष्य को निर्जीव बना देती हैं; प्रकृति का सम्पर्क उसकी मनुष्यता को जाग्रत करता है। तभी तो गाँव की अपेक्षा नगर में पाप इतने अधिक होते हैं और उनकी भीषणता भी अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है।

गाँव का जीवन भी सादा और अकृत्रिम होता है। यद्यपि आज शहरों की कितनी ही बुराइयाँ भी वहाँ पहुँच गई हैं। गाँव समृद्ध हुआ तो दूध, दही, मक्खन अच्छी मात्रा में मिलता है। नगर में यह चीजें न तो उतनी

शुद्ध ही मिल सकती हैं, न सभी उन्हें पा सकते हैं। वहाँ तो मिट्टी भी सोने की तोल तुलती है।

परन्तु चित्र का दूसरा रुख भी है। नगरों के बिना सभ्यता टिक नहीं सकती। जान पड़ता है कि हमें सभ्य होने का मूल्य भी चुकाना पड़ता है। परन्तु अब विज्ञान की उन्नति के साथ यात्राएँ सुगम हो गई हैं। थोड़े से पैसों में हम गाँव में जाकर स्वच्छ जल-वायु का उपभोग कर सकेंगे। एक बात और है। प्रत्येक ऊँची भावना के विकास के लिए अनेक प्रकार का ज्ञान उपलब्ध करना होता है। गाँव में इसके साधन नहीं। नगर में पुस्तकालय हैं, कला-भवन हैं, अनेक ज्ञान-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं। इसीलिए रिचर्ड का कहना है कि कलाओं के विकास के लिए नागरिक जीवन की उन्नति होना आवश्यक है।

परन्तु गाँव में विज्ञान की वह सुविधाएँ नहीं जो नगर में हैं। वहाँ अशिक्षा का साम्राज्य है। जनता निरक्षर भट्टाचार्य है। उसका मानसिक विकास कुछ भी नहीं। अदालतों में रुपया फूँकना रोज का व्यवसाय है। वर्षा के दिनों में कीड़े-मकोड़े और बीमारी के कीटाणुओं के मारे गाँव नरक का साम्यवाची हो जाता है। न अच्छे चिकित्सालय हैं, न पानी निकलने का प्रबंध है। सड़कें कच्ची, कीचड़ से भरी। प्रकृति ने उसे जो कुछ दिया है, वह लोगों की मूर्खता से नष्ट और कलुषित हो जाता है और नगर की अनेक सुविधाओं की वहाँ पहुँच नहीं।

निकट भविष्य में नगर और गाँव पास आयेंगे। गाँवों की ओर सारे संसार का ध्यान जा रहा है। वहाँ आधुनिक विज्ञान के पहुँचते ही उनकी काया पलट जायेगी। उससे गाँव स्वर्ग होंगे। नगर और गाँव एक दूसरे पर अवलंबित रहेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि गाँवों पर नगरों का आक्रमण इस प्रकार न हो कि उनकी अनेक मौलिक प्रथाएँ बिगड़ जाएँ और उनकी सारी बुराइयाँ उसमें घर कर लें। पश्चिम में रेल, मोटर और बिजली का प्रवेश गाँवों में भी हो गया है। एक दिन हमारे यहाँ भी ऐसा होगा और उस दिन राष्ट्र में एक नया जीवन आ जायगा।

मानव के विकास के लिए नगरों की अपेक्षा गाँवों का हाथ अधिक

होगा। भारत के मनीषियों ने इसे समझा था और इसी से उन्होंने वानप्रस्थ अवस्था की योजना की थी, जब मनुष्य प्रकृति और परमात्मा के सम्पर्क में अपनी आत्मा का विकास कर सकता था। प्रो० गिडिंग्स लिखते हैं—हमारी कच्ची वस्तुएँ गाँवों से आती हैं; इसी तरह अछूते मौलिक विचार और मौलिक भावनाएँ भी गाँवों की ही देन हैं।

ग्राम-सुधार

१—भूमिका। २—यथार्थ को दृष्टि में रख कर इस क्षेत्र में बढ़ने की आवश्यकता। ३—मि० ब्रेइन का कहना। ४—रूढ़िगत अंध-विश्वास। ५—साफ पानी, साफ हवा और साफ सड़कों की व्यवस्था। ६—गाँव के मनोविनोद। ७—ग्राम पुस्तकालय कुरीतियों के प्रति साहसपूर्ण प्रचार। ८—नवीन संस्थाओं की योजना।

ग्राम-सुधार के लिए जो भी योजना हो उसमें सबसे पहले यह ध्यान रखना होगा कि किसान हद-दरजे गरीब है, उसमें माल लेने की शक्ति कुछ भी नहीं है और पहले उसकी आर्थिक सहायता करने की राह निकाली जाय। आज गाँव की जो दशा है उसे देखते हुये गाँव के निवासी से यह आशा करना हास्यास्पद है कि वह अपने रहन-सहन के ढङ्ग को ऊँचा बनाए। स्वास्थ्य की बात लीजिए। रुपया पास नहीं है, आप कहते हैं स्वास्थ्य बढ़े। यह बात असंभव होगी क्योंकि स्वास्थ्य की प्रत्येक योजना में रुपये की जरूरत रहेगी। हमें तो यह आश्चर्य होना चाहिये कि इतनी अस्वाभाविक और विरोधी परिस्थितियों में ग्रामीण अपना स्वास्थ्य बनाए रखते हैं।

परन्तु गाँव की आर्थिक उन्नति कैसे हो? पंजाब के ग्राम-सुधार विभाग के अध्यक्ष मि० एफ० एल० ब्रेइन का कहना है कि यदि खेती के ढङ्ग को अधिक वैज्ञानिक बना दिया जाय तो जमीन से करोड़ो रुपये अधिक आमदनी हो सकती है। यदि खाद ही अधिक मिले तो अकेले पंजाब प्रांत में ६-७ करोड़ अधिक आय हो। खाद के लिए हम अत्यंत अवैज्ञानिक वस्तुओं का प्रयोग करते हैं और वह भी उचित मात्रा में नहीं। उपलों का ईंधन के

लिए काम में लाया जाता है। यदि गोबर को खेतों में खाद की तरह दे दिया जाय, तो खेती कहीं ज्यादा और कहीं अधिक अच्छी हो। परन्तु इस बात को लोग नहीं जानते।

गाँव के रहनेवालों को स्वच्छ हवा का इतना मूल्य नहीं जान पड़ता, वे कहते हैं कि यदि मकानों में हवादान अधिक हुए तो चोरी का डर रहेगा। फिर जाड़े में क्या किया जाय? तब तो हवादानों से ठंढी हवा अंदर आयेगी और किसान के पास इतने कपड़े कहाँ कि अपने को शीत से बचाए और साफ़ हवा का मज़ा ले? बात यह है कि सुधारक को एक ऐसी ज़मीन पर बीज बोना है जो बहुत पहले से कलुषित हो चुकी है। उसे रूढ़िगत विचारों और अंधविश्वासों के विरुद्ध लड़ना है। और यह एक दिन का काम नहीं। उसे अपनी सारी शक्तियाँ उस ओर लगानी होंगी। मच्छरदानियों को ही लीजिये। गाँव में अस्वस्थ जलवायु के कारण रोगों के कीटाणु इतनी मात्रा में होते हैं कि उनसे किसी दूसरी तरह छुटकारा पाना असम्भव है और मच्छर-दानियाँ सस्ते दामों में गाँवों में बुनी जा सकती हैं। गाँवों में इनका प्रचार होना चाहिये। जुलाई, अगस्त, सितम्बर के महीनों में कुनैन की गोलियाँ भी मुफ़्त बाँटी जाएँ। सुधारक को धीरे-धीरे और दृढ़ता के साथ आगे बढ़ना है क्योंकि अविश्वास और संदेह पर विजय पाने के लिए संतोष की अपेक्षा होती है। एक बार किसान व्यक्तिगत अनुभव से एक बात समझ लेगा तो फिर वह उसके लाभ जान जायगा।

साफ़ पानी की समस्या भी बहुत बड़ी है। बहुधा गाँवों में कुएँ नहीं होते। वर्षा ऋतु में तालाबों में जो पानी इकट्ठा हो जाता है, उसे ही वर्ष भर लोग पीते हैं। जो कुएँ हैं भी, वे या तो ज़मींदार अपनी मिलकियत बनाए हुए हैं या वह ऐसी ढालू जगह पर बने हैं जिस पर से गंदा पानी उनके भीतर जाता है। बहुधा इन कुओं के ऊपर मन भी नहीं रहती। इस समस्या को इस प्रकार हल किया जा सकता है कि प्रत्येक गाँव में एक पंचायती कुआँ हो जिसकी मन पक्की हो और जिस पर ढकना रहता हो। उसमें कच्चे बर्तन न डाले जाएँ। हैंडपम्प भी लगाए जा सकते हैं। इस दिशा में समृद्ध किसानों को उत्साह दिलाया जाय।

गाँव के मनोविनोद के लिए क्या हो ? अब प्रांतीय सरकारों ने प्रत्येक बड़े गाँव में एक रेडियो की स्कीम निश्चित की है। सभी रेडियो स्टेशन गाँव-संबंधी प्रोग्राम भी देने लगे हैं। परन्तु इसमें व्यय अधिक होगा, मनोरंजन कम। आवश्यकता यह है कि गाँव के अपने खेलों की योजना की जायें, प्रतियोगिताएँ हों; उनमें पुरस्कार दिये जायें। हमें तो गाँव की प्रत्येक संस्था को पुनर्जीवित करना है। नगर के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था गाँवों के लिए हो ही नहीं सकती, उसे तो गाँवों की चीज़ ही होना चाहिये।

परन्तु सबसे बड़ी समस्या है, लड़के-लड़कियों की शिक्षा की। भारत-सरकार को इसकी व्यवस्था के लिए फंड अलग रखना चाहिये। प्रान्तीय सरकारें भी कुछ करें। अब प्रांतीय सरकारों ने ग्राम पुस्तकालयों की आयोजना की है। यह एक अच्छी बात हुई परन्तु हमें सतर्क होकर ऐसा साहित्य भी तो पैदा करना चाहिये जो गाँव वाले पढ़ सकें। यह उन्हीं की भाषा में हो तो अच्छा। शहर की भाषा गाँव पर एकदम कैसे लादी जा सकेगी ?

ग्राम सुधार का सबसे आवश्यक अंग यह है कि कुरीतियाँ मिटाने के लिए प्रोपेगेंडा (प्रचारवृत्ति) का आश्रय लिया जाये। शादी-विवाह और अनेक उत्सवों-त्योहारों में झूठी प्रतिष्ठा और लोक-लाज के वश में होकर किसान अपने कोठे-कुटिए भी बेच देता है। दस वर्ष की कमाई बेटे-बेटी के विवाह में लग गई। महाजन तैयार है, कर्ज़ा ले, उसे चुकाता-चुकाता मर जाय। किसान इस कर्ज़े का ऐसा आदी हो जाता है कि ब्याज देना ही अपने जीवन का लक्ष्य समझ लेता है, मूल के लौटाने का तो उसे स्वप्न में भी ध्यान नहीं रहता।

गाँवों में पंचायतें हों। वह इन दुष्प्रवृत्तियों को रोकें। सहायक-समितियाँ हों। वह किसानों को सस्ती, निश्चित दर पर रुपया दें और उसे लौटाने की रीति बतायें। इस तरह वे महाजनों और सूदखोर पंडितों के चंगुल से निकल सकेंगे। तभी वे स्वस्थ वातावरण में साँस लेंगे। उन्हें राजनैतिक शक्ति का ज्ञान होगा और वे अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सतर्क होंगे।

एक आदर्श गाँव की कल्पना

१—भूमिका। २—चित्र के कुछ पहलू; लौकिक (आर्थिक) नैतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक। ३—सुधारक की कुछ कठिनाइयाँ। ४—आदर्श गाँव के कुछ दृश्य; कुछ समस्याएँ और उनका संभाव्य हल। ५—नई व्यवस्थाओं का रूप। ६—समाप्ति।

शताब्दियों बाद आज भारतवर्ष ने अपने सच्चे स्वरूप को समझा है। उसने यह जान लिया है कि उसकी सच्ची शक्ति उसके गाँवों और उनके देहाती निवासियों में अंतर्हित है। मिश्र, यूनान, रोम आदि प्राचीन देशों की सभ्यता गिर गई; हमारी अभी बनी है। बात यह थी कि वे सभ्यताएँ बड़े-बड़े नगरों के चारों ओर उठी थीं; उनके नष्ट होते ही वे बैठ गईं। उनकी जड़ पृथ्वी में बहुत गहरी नहीं पैठी थी। इसलिए आज राष्ट्र-निर्माण का विचार करने वाले व्यक्ति के आगे सबसे पहले इन्हीं उपेक्षित झोपड़ियों का प्रश्न आता है, जिन्हें हम गाँव कहते हैं।

सुधारक के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तु-स्थिति को अच्छी तरह समझ ले। परन्तु साथ ही उसकी कल्पनाशक्ति इतनी अच्छी होनी चाहिये कि उसके सामने प्रत्येक दूषित वस्तु का वह रूप आ सके जो सुधार के बाद अस्तित्व में आयेगा।

उसे दो क्षेत्रों में विचार करना होगा—उसके आदर्श चित्र में मनुष्यों को क्या-क्या आर्थिक और लौकिक सुविधाएँ होंगी? उनके मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए क्या व्यवस्था रहेगी?

आज आर्थिक दृष्टि से गाँव कहाँ है? किसान महाजनों के क़र्ज़ में सिर तक डूबा हुआ है, छुटकारे की कोई सूरत नहीं। फसलें अच्छी नहीं होतीं। हो कहाँ से? देहाती नये वैज्ञानिक यंत्रों और रासायनिक खादों का प्रयोग न तो जानता है, न गाँठ में पैसा ही इतना है कि उनको मोल लेकर बरते सदियों तक जुत-बोकर ज़मीन की उर्वरा शक्ति जैसे नष्ट-सी हो गई है। फिर लगान देना ही है। जहाँ रैयतवारी ढङ्ग से लगान वसूल किया जाता है, वह तो ख़ैर सरकार से किसी तरह निपट जाती है; रो-धो कर पैसा दो पैसा छूट भी

आशा रहती है, परन्तु जहाँ ज़मींदारी अमल है वहाँ यह बीच का मध्यस्थ किसान को खोखला किए जाता है। इधर महँगी है। काम कैसे चलाए?

अतएव परिस्थितियों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारक के हाथ-पैर बँधे हैं; वह क्या करे? उसके पीछे धनाभाव के कारण कोई सुशृङ्खलित योजना तो हो ही नहीं सकती। आदर्श गाँवों का आविर्भाव तो स्वराज्य में ही संभव है? परन्तु वह गाँव के सुधरे हुए रूप की ही कुछ कल्पना कर सकता है।

कल्पना के इस चित्र में लौकिक सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान रहेगा। गाँव के लोगों के बीच में ऐसे आदमी रहेंगे जो उन्हें कृषि के नए व्यावहारिक प्रयोगों से सूचित करें। किसान नए यंत्रों का भी प्रयोग करेगा। यंत्रों, खादों और मवेशियों की समस्या कुछ इस प्रकार रहेगी। गाँव में एक पंचायत-घर होगा। वह एक ऊँचे स्थान पर, गाँव से कुछ दूर बना होगा। इसमें वे अधिक मूल्य के यंत्र रखे जायँगे जो महँगी के कारण किसान मोल नहीं ले सकता। प्रत्येक किसान इनका प्रयोग कर सकेगा और फ़सल होने पर कुछ थोड़ा इस सुविधा के बदले में देगा। यहीं सस्ते, उपयोगी रसायन भी रहेंगे। इस प्रकार प्रत्येक आवश्यक और बहुमूल्य चीज़ पंचायती होगी। हाँ, सस्ते, प्रतिदिन के काम के यंत्र और इसी प्रकार की अन्य चीज़ें तो व्यक्ति मोल ले सकेगा, मोल लेगा।

आदर्श गाँव के ग्रामीणों के घर और उनकी सड़कों की समस्या पर विशेष ध्यान दिया जायगा। यह चेष्टा होगी कि घर खुले हुए हों, सस्ते हों, एक ही तरह के हों। उनका पानी बाहर की नालियों में सुगमता से जा सके। बीच में आँगन होगा, दोनों ओर कमरे (कोठे) होंगे। उनका शौचालय एक नियत ढङ्ग का होगा। शौच के लिए गहरा गड्ढा होगा जिस पर मिट्टी डाली जा सकेगी। सुधारक को इस ओर विशेष ध्यान देना होगा। सड़कों की समस्या भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह चाहे कच्ची मिट्टी की ही हो परन्तु इनकी बनावट ऐसी रहे कि उनका ढाल नालियों की ओर हो और वर्षा के दिनों में ऐसी बाढ़ न आ जाए जैसी आजकल गाँवों में आ जाती है।

गाँव में सहयोग कमेटियाँ होंगी। ये बहुत थोड़े सूद पर किसानों को

रुपया देगी। उनकी सूद की दर सरकार निश्चित करेगी और वह सब स्थानों पर एक-सी होगी। सरकार की ओर से बीज-वितरण करने एवं समय पर सलाह देने के लिए अच्छा आयोजन होगा। शासन की दृष्टि से आजकल से भिन्न अवस्था होगी। प्रत्येक गाँव छोटा-मोटा प्रजातन्त्र होगा, उसकी अपनी पंचायत होगी। वर्ष-वर्ष भर बाद उसके सदस्यों का चुनाव होगा। वही गाँव के छोटे-बड़े सभी आवश्यक झगड़ों का फैसला करेगी। जो बड़े-बड़े अपराधी केन्द्रीय सरकार तक जाएँगे उनमें भी उनके सदस्यों की बात सुनी जायगी।

शिक्षा और व्यवस्था का सारा बन्दोबस्त इसी पंचायत के हाथ में रहेगा। प्रारम्भिक और मिडिल शिक्षा के लिए अलग-अलग विद्यालय होंगे। ये खुली हुई जगह में होंगे। वहाँ खेल-अखाड़ों का भी प्रबंध रहेगा जिसमें गाँव के वयस्क और युवक भी भाग ले सकेंगे। गाँव का पुस्तकालय भी यहीं होगा इससे सारे ग्रामनिवासियों को निःशुल्क पुस्तकें पढ़ने को मिलेंगी। आस-पास जहाँ दस-बीस घरों के गाँव उठ खड़े हुए हैं उन्हें प्रत्येक इतवार के दिन किताबें भेजी जायेंगी। प्रत्येक गाँव में दो-तीन दैनिक पत्र जरूर आयेंगे जिनसे प्रतिदिन जनता को संसार की प्रगति का ज्ञान होगा।

कुछ इस प्रकार सुधारक का कल्पना-चित्र रहेगा। उसमें जनता की नैतिक और मानसिक शक्तियों के विकास को ध्यान में रखते हुए उसे लौकिक सुविधाएँ पहुँचाने की कोशिश की जायेगी। परन्तु बल बाहर के प्रयत्नों की अपेक्षा भीतर के, ग्रामीणों के अपने ही, प्रयत्नों पर अधिक होगा। जनता जब एक बार अपनी शक्तियाँ पहचान जायगी तो वह उन्हें बनाए रखने में भी प्रयत्न-शील रहेगी। यदि यह कल्पना कार्यक्षेत्र पर ठीक उतर सकी तो फिर आज के रोग-कीटाणुओं के घर हमारे गाँव ही कल स्वर्ग होंगे। तब हम गुप्त जी के शब्दों में कह सकेंगे—

अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है!
क्यों न इसे सबका मन चाहे!

शिक्षा-वर्णन

वर्धा-शिक्षा-योजना

१—भूमिका। २—वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली और उसके दोष। ३—गांधीजी की शिक्षा-योजना। ४—वर्धा-शिक्षा-योजना के लाभ ५—उच्च शिक्षा और वर्धा-शिक्षा-योजना।

राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ देश के नेताओं को एक ऐसी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता जान पड़ी जो हर तरह स्वदेशी हो और जो देश की आवश्यकताओं को पूरी कर सके। १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन के समय इस विचार को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया गया। उस समय स्वदेशी की माँग थी। प्रत्येक संस्था स्वदेशी ही क्यों न हो! कई राष्ट्रीय संस्थाएँ बनीं भी परन्तु इस दिशा में जो प्रयत्न हुए वह या तो व्यक्तियों द्वारा सीमित क्षेत्र में होने के कारण खतम हो गये या स्वदेशी आन्दोलन की उत्तेजना के समाप्त होते ही बैठ गये।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली अनेक प्रकार से दूषित है और अनेक ज़िम्मेदार व्यक्तियों ने समय-समय पर उसकी अनुपयोगिता के विषय में अपने विचार प्रगट किये हैं। उसमें न कोई ऊँचा आदर्श है, न वह वर्त्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को ही हल कर सकती है। वह ऐसे व्यक्तियों को तैयार नहीं करती जो समाज के उपयोगी अंग हो सकें; जिनका अपना विकसित व्यक्तित्व हो और समाज के काम में महत्त्वपूर्ण भाग ले सकें। आज का सामाजिक संगठन शोषण पर टिका हुआ है। उसमें समता की भावना का नाम नहीं। जहाँ देखिये, वहाँ वर्गसंघर्ष और प्रतिस्पर्धा। इस प्रकार के संगठन को विदेशी राज्य की सहायता मिलती रही और वह किसी तरह का परिवर्त्तन देखना नहीं चाहता। हमें एक नया समाज पैदा करने की ज़रूरत है जो सहयोग की भावना लेकर चलता हो। हमारी वर्त्तमान शिक्षा में इस आदर्श के लिये कोई स्थान नहीं। पुराने, एक सदी पिछले, आदर्श को लेकर चलने वाली शिक्षा-पद्धति को बदलने की आवश्यकता है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

जैसी परिस्थिति इस क्षेत्र में आज है उसके अनुसार जनता का एक बड़ा भाग अशिक्षित रहता है और एक बहुत ही छोटा भाग यूरोपीय ढंग की शिक्षा पाता है। जीवन की वास्तविक समस्याओं से इस छोटे वर्ग का सम्बन्ध उसी समय होता है जब वह विदेशी शिक्षा पा कर अपने अर्धशिक्षित या अशिक्षित भाइयों के शोषण के लिये उनसे मिलता है। यही नहीं, इस शिक्षा में भारत के मूल नैतिक आदर्शों को कोई जगह नहीं मिली है। फल यह हुआ है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति जो कुछ प्राचीन है उसकी खिल्ली उड़ाना अपना ध्येय समझ लेता है।

असहयोग आन्दोलन में काशी और गुजरात में विद्यापीठ स्थापित हुए। गुरुकुलों और प्रेम विद्यालय, (वृन्दावन) जैसी संस्थाओं ने जन्म लिया। कांग्रेस ने कई बार प्रस्ताव पास करके सामूहिक शिक्षा को अपना लक्ष्य बताया। परन्तु शक्ति उसके हाथ में नहीं थी इसलिए उसका कार्यक्रम स्वप्न ही रहा।

१९३६ में कांग्रेस ने प्रांतीय शासन को अपने हाथ में लेने का विचार किया। उसे सफलता भी मिली। निर्वाचन में प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं को हरा कर सात प्रांतों में उसने अपना मंत्रि-मंडल बना लिया। अब यह आवश्यक था कि वह उन प्रस्तावों पर काम करे जिन्हें वह अपने अधिवेशनों में बराबर पास करती रही है।

इसी समय महात्मा जी ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अपने पत्र 'हरिजन' में लिखकर कांग्रेस मंत्रि-मंडलों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। परन्तु परिस्थिति बड़ी कठिन थी। कांग्रेस ने मद्यनिषेध का आन्दोलन शुरू किया था। उसने यह तय किया कि वह अनेक भागों में मद्य की बिक्री क़ानूनन बन्द करा दे। इससे उसे करोड़ों रुपये की हानि थी। पिछली सरकारें मद्य और अन्य नशीली चीजों पर लगाये हुए कर को शिक्षा पर खर्च करती थीं। अब जब कर मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं तो शिक्षा पर खर्च करने के लिए रुपया कहाँ से लाया जाय? महात्मा जी ने एक मार्ग सुझाया। ३१-७-१९३७ के 'हरिजन' में 'शिक्षा' के शीर्षक से उन्होंने लिखा—'यह दुर्भाग्य है कि शिक्षा की समस्या मद्य-कर की समस्या से इतनी उलझी हुई है। इसमें कोई

संदेह नहीं कि नए कर लगाने के कई रास्ते हैं।………परन्तु हम शिक्षा में इतने पिछड़े हैं कि यदि हमारी शिक्षा-योजना धन पर टिकी रहेगी तो इस सन्तति में हम इस संबंध में राष्ट्र के प्रति अपना उत्तरदायित्व किसी भी प्रकार पूरा नहीं कर सकेंगे। इसलिए मैं एक साहस करता हूँ (मुझे भय है कि आप मेरी व्यावहारिकता के विषय में संदेह न करने लगें) जब मैं आपसे यह कहता हूँ कि शिक्षा को स्वावलंबी होना चाहिए।" सचमुच गाँधीजी का यह दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण था। संभव है, वह परिस्थितियों से प्रभावित हो, परन्तु उनकी अनुभूति ने एक बिल्कुल मौलिक हल सामने रक्खा था। उसी लेख में अपने विचार को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"मेरी योजना यह है कि बालक की शिक्षा उसको उद्योग-धंधे को लिखा कर शुरू की जाय जिससे अपनी शिक्षा के प्रारम्भ से ही वह उपार्जन करने लगे। स्कूलों में विद्यार्थी जो चीज़ बनाए उसे राज्य मोल ले ले। इस प्रकार अन्त में राज्य को शिक्षा पर कुछ भी व्यय करना नहीं पड़ेगा। बालकों के स्कूल स्वावलंबी होंगे।"

अनेक स्कूलों में थोड़ी-बहुत यह व्यवस्था है कि छात्रों को पाठ्य पुस्तकों के साथ-साथ अवकाश के समय कोई दस्तकारी सिखाई जाए। फिर गाँधीजी की इस बात में मौलिकता कहाँ है? एक तो यह कि स्कूल स्वावलंबी हो। दूसरे इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति में उद्योग-धंधे की शिक्षा को केन्द्र बनाया जाय और अन्य विषय उसी के सहारे पढ़ाये जायें। उद्योग-धंधे को सिखलाने का ढंग पूर्ण रूप से वैज्ञानिक हो। पहले मौखिक शिक्षा दी जाय। फिर अक्षर-ज्ञान। गाँधीजी का कहना है कि इस प्रकार ७ वर्ष बालक को शिक्षा दी जायगी और वह आज-कल की हाई स्कूल की शिक्षा के समकक्ष होगी। अन्तर यह रहेगा कि एक तो सारी शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से होगी, अँग्रेज़ी का उसमें कोई स्थान न होगा; दूसरे यह शिक्षा प्रारम्भिक होगी और राष्ट्र के प्रत्येक बालक को अनिवार्य होगी। इससे बालक अपने वातावरण में पूर्ण रूप से विकसित हो सकेगा। जब वह शिक्षा समाप्त करके निकलेगा तो बेकारी का भूत उसके सामने नहीं होगा, वह राष्ट्र का कमाऊ सदस्य होगा।

परन्तु इस प्रकार की शिक्षा-योजना के लाभ इतने ही नहीं हैं। महात्मा-जी यह चाहते हैं कि नगर-गाँवों का शोषण ही नहीं करते रहें, उन्हें कुछ दें भी। वे नगर और गाँव में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि शिक्षा की जड़ शोषण में न हो। राष्ट्र की शक्तियाँ उद्योगीकरण में बेकार खर्च न हो जायें और देश की जनता कल-पुर्जों की गुलाम न हो। इस प्रकार यह नई योजना देश में शांत-क्रान्ति उत्पन्न कर देगी।

महात्माजी की दृष्टि में इस योजना का मूल्य साक्षरता से कहीं अधिक है। साक्षरता तो साधन है। शिक्षा और साक्षरता साम्यवाची नहीं हैं। यंत्र भी साक्षरता की तरह शिक्षा का सफल साधन हो सकता है। छोटी अवस्था में बालक क्रियाशील होता है। वह तोड़-बिगाड़ कर सीखना चाहता है। इस दृष्टिकोण से उद्योग-धंधों के माध्यम से शिक्षा देना मनोवैज्ञानिक ही होगा।

फिर कालेज-शिक्षा का क्या होगा? महात्मा जी का कहना है कि कालेज-शिक्षा को राष्ट्र की आवश्यकता पूर्ति का साधन बनाया जाय। राष्ट्र या संस्थाओं का जिन उद्योग-धंधों या व्यवसायों में लाभ होता है, उसके लिये वे कालेज खोलें। टाटा को लीजिये। उसे इंजीनियरों की आवश्यकता होती है। वह ऐसे कालेज खोले जिसमें इंजीनियरी की शिक्षा हो। राज्य यह काम क्यों करे? यही बात मिलों-फेक्ट्रियों के संबंध में है। वे अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार विद्यालय खोलें और विद्यार्थियों को शिक्षा देकर अपने लिये तैयार करें। इसी प्रकार अन्य व्यवसाय वाले अपने काम चलाने योग्य युवक तैयार करें। गाँधीजी का कहना है कि कृषि-कालेजों को स्वाव-लम्बी होना चाहिये। कला और साहित्य के कालेज जनता की उदारता पर चल सकते हैं या उनके पढ़ने वाले विद्यार्थी किसी उद्योग-धंधे को सीख कर अपना काम चला सकते हैं। उनका कहना है कि वह ज्ञान व्यर्थ का बोझ है जिसमें व्यावहारिक अनुभव हो ही नहीं सकता। यह क्यों ज़रूरत पड़े कि सब कुछ वर्षों सीखने-पढ़ने के बाद भी नवयुवक को व्यवहार-क्षेत्र में अव-तीर्ण होकर दो-तीन वर्ष काम सीखने में लगाना पड़े। शास्त्र के साथ-साथ ही व्यवहार की शिक्षा भी क्यों नहीं चलती रहे?

तब प्रश्न होता है कि इस प्रकार की शिक्षा चलाने के लिए शिक्षक कहाँ मिलेंगे? श्री० के० टी० शाह ने यह सुझाया है कि शिक्षित पुरुषों को कुछ महीनो के लिए ऐसे-ऐसे केन्द्रों में भेजा जाय जहाँ वे कोई उद्योग धंधा सीख लें। फिर उनके लिए यह अनिवार्य हो कि वे अपने जीवन के ४-५ वर्ष राष्ट्र के बच्चों को शिक्षा देने में लगाएँ। महात्माजी का कहना है कि यदि हम इस प्रकार की शिक्षा की उपयोगिता समझते हैं तो हमें बहुत कम शक्ति से और बहुत कम रुपया खर्च करके शिक्षक बनाने में बहुत समय नहीं लगेगा। उन्होंने यह भी कहा है कि अच्छा हो कि प्रारंभिक कक्षाओं का काम शिक्षित माताएँ लें।

इस शिक्षा-योजना पर विचार करने के लिए २२ और २३ अक्टूबर सन् ३७ को वर्धा के नवभारत विद्यालय में शिक्षा-विशारदों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई गई। महात्माजी उसके सभापति थे। इसने शिक्षा-पद्धति को व्यवस्थित रूप देने के लिए कमेटी बनाई जिसके सभापति डा० ज़ाकिरहुसेन थे। २-१२-१९३७ को इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट और शिक्षा-क्रम गांधीजी के सामने रक्खे।

१९३८ की हरिपुरा कांग्रेस के सामने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रस्ताव आया और उसने गाँधीजी की उस योजना को स्वीकार किया जो अब वर्धा-शिक्षा-योजना के नाम से पुकारी जाती थी। उनका प्रस्ताव तीन अंशों में बँटा था:—

१—राष्ट्र भर में ७ वर्ष तक प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य कर दी जाय।

२—शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो।

३—शिक्षा किसी प्रकार के उद्योग-धंधे को केन्द्र बना कर दी जाय और अन्य जो भी बातें सिखानी हों वह उस उद्योग-धंधे से सम्बन्धित करके बताई जाएँ जिसे बालक ने अपने लिए चुना हो और बालक के वातावरण और उसकी आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाय।

इसके बाद लगभग सभी कांग्रेस प्रांतों में वर्धा शिक्षा योजना के अनुसार शिक्षक तैयार करने के लिए प्रारम्भिक स्कूल खोले गए। आज इन स्कूलों से

निकले हुए शिक्षक सैकड़ों स्कूलों में प्रारम्भिक शिक्षा दे रहे हैं। अन्य विषयों के साथ चित्रकला, ड्राइङ्ग, संगीत आदि की भी शिक्षा दी जाती है। प्रान्तों के शिक्षा-विभाग की रिपोर्टों से यह पता चलता है कि यह प्रयोग सफल हो रहा है।

साक्षरता-आन्दोलन

१—भूमिका। २—मुस्लिम-काल में शिक्षा का विस्तार। ३—अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव। ४—कांग्रेस आन्दोलन। ५—योजना—पुस्तकालय इत्यादि।

हमारे देश में शिक्षा का प्रचार बहुत कम है। शायद संसार में कोई देश ऐसा हो जहाँ मनुष्यों की इतनी बड़ी संख्या अशिक्षित रह जाती हो। यह बात कोई आज की घटना नहीं है, शताब्दियों से ऐसा होता आ रहा है। एक अत्यन्त लघुसंख्यक वर्ग अध्ययन-अध्यापन का काम करता रहा है और बहुसंख्यक अशिक्षित, निरक्षर भट्टाचार्य जन-समुदाय के लिए धर्म, समाज और लोक-परलोक के मामले में व्यवस्था भी देता रहा है। इससे बड़ा लांछन हमारे पूर्वजों पर और कोई नहीं हो सकता कि उन्होंने वर्णव्यवस्था के द्वारा अध्ययन-अध्यापन को समाज के केवल एक वर्ण तक सीमित कर दिया। उस समय धर्म का जनसमाज पर बड़ा प्रभाव था। धर्म का व्यवस्थापक 'ब्राह्मण वर्ग' यह अनुचित समझता था कि 'शूद्र' वर्ग धर्म के आंतरिक भेदों को समझे। अतः व्यवस्था की गई कि शूद्र वेद नहीं पढ़े और चूँकि शिक्षा केवल धर्म तक सीमित थी, इसलिये शूद्र शिक्षा से भी वंचित रहे। अन्य वर्णों की दशा भी इससे अधिक अच्छी नहीं रही।

मुसलमान शासकों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने एक नया ढंग निकाला। लिख-पढ़ नहीं सकते हो, अँगूठा लगा दो। अदालती काम-काज में यह अँगूठा लगवाने का कलंकित कार्य हमारी देशी-विदेशी सरकारें आज तक चला रही हैं। हम नहीं जानते कि अन्य देशों में यह अँगूठा लगाने का चलन है या नहीं, परन्तु शायद किसी भी उन्नति-शील

देश में ऐसा चलन नहीं होगा। हमारे यहाँ लाखों-करोड़ों आदमी अँगूठों पर कालिख पोत कर ही काम चलाते हैं और इसी तरह अक्षर ब्रह्म का रहस्य पाये बिना 'राम नाम सत्य' की अवस्था को पहुँच जाते हैं।

अंग्रेज़ी सभ्यता से मुठभेड़ होने के साथ ही शिक्षा को सर्व-सुलभ करने के प्रयत्न हुए। नगर की मध्यवर्ग की जनता ने इस विषय में बड़ा काम किया परन्तु शिक्षा का प्रचार समाज के निचले स्तर और ग्राम निवासियों में न हो सका। हाँ, उसकी अवस्था को सबने स्वीकार किया। दृष्टिकोण बदला। ब्राह्मण-शूद्र सभी सम-भाव से शिक्षा के अधिकारी समझे जाने लगे। स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा—"चाण्डाल को विद्या पढ़ने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ब्राह्मण को नहीं। यदि ब्राह्मण के लड़के के लिए एक शिक्षक चाहिये; तो चाण्डाल के लड़के के लिये दस। क्योंकि प्रकृति ने जिसे स्वभावतः तेजस्वी नहीं बनाया है, उसकी ही अधिक सहायता करनी पड़ेगी। तेल लगाए हुए मनुष्य को तेल देना पागलपन है। दरिद्र, पददलित, अज्ञ—ये ही तुम्हारे ईश्वर हों।" परन्तु शक्ति सरकार के हाथ में थी, सुधारक एक बड़ी सीमा तक लुञ्जे थे।

इधर जब कांग्रेस के हाथ में सरकारी शक्ति आई तो उसने इस विषय में एक बड़ा आन्दोलन चाहा। लगभग सभी प्रांतों में इस प्रकार के आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिनका उद्देश्य जनता को साक्षर करना था। हमारे संयुक्त प्रांत में १ अगस्त सन् १६३८ को शिक्षा-प्रसार विभाग की स्थापना हुई और १५ जनवरी को इसके द्वारा शिक्षा-प्रसार योजना का भी श्रीगणेश हुआ। शिक्षामंत्री श्री० सम्पूर्णानन्द ने इस योजना को रूप देने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रसार-योजना का पहला काम था—जनता को साक्षर बनाना। इसके लिए रात्रि पाठशालाएँ और प्रौढ़ स्कूलों की स्थापना की गई। प्रत्येक प्रौढ़ को ५-६ माह तक शिक्षा मिले। इसकी व्यवस्था हुई। इस निश्चित समय में उसे साधारण हिन्दी-उर्दू का ज्ञान हो जाए, वह तीसरी कक्षा की रीडर पढ़ सके और भारतवर्ष के भूगोल तथा गणित का भी थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर ले। परन्तु यह वास्तव में बड़ा कठिन था। इसके लिए एक नए प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता थी जिनमें सीधी-सादी प्रतिदिन

के बोलचाल की भाषा में ज्ञान की सामग्री उपस्थित की गई हो, साथ ही यह सामग्री रोचक भी हो। प्रौढ़ स्कूलों का काम अधिकतर रात में चलना संभव था, क्योंकि उसी समय उन्हें अवकाश मिल सकता था।

सरकार ने इस योजना के सफल होने के लिए कुछ भी उठा नहीं रक्खा। उसने प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को एक रुपया देने का प्रस्ताव किया जो एक मनुष्य को साक्षर बनाये। सरकारी और गैर सरकारी सभी संस्थाएँ इस काम के लिए तैयार की गई। कालेजों और स्कूलों के शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के छात्रों को इस काम के लिए उत्साहित किया गया। विद्यार्थी समुदाय ने नगरों से बाहर गाँवों में जाकर 'अँगूठा न लगाओ' मंत्र का प्रचार किया और लाखों ऐसे बूढ़ों से सफलतापूर्वक उनका नाम लिखवाया जिनकी उम्र अँगूठा काला करते कटी थी। हस्ताक्षर तो साक्षरता की पहली सीढ़ी है। अभी यह भी कहाँ संभव हो सका है कि संयुक्त प्रांत का प्रत्येक व्यक्ति हस्ताक्षर कर सके। परन्तु जनता और सरकार वह दिन देखने के लिए उत्कंठित हैं जब हम गर्व से कह सकेंगे कि इस प्रांत में अंगूठा नहीं लगाया जाता।

परन्तु यह कार्य भी एक दूसरे कार्य की तुलना में सरल जान पड़ा है। यह दूसरा कार्य है साक्षरता बनाये रखने का। प्रौढ़ को थोड़ा-बहुत पढ़ा भी हो तो कुछ दिनों बाद वह फिर निरक्षर। इसका कारण यह है कि उसे प्रतिदिन अक्षरों से काम नहीं पड़ता, वह उनका प्रयोग भूल जाता है। इसके लिए केवल यही किया जा सकता है कि उसे समाचार-पत्रों और पुस्तकों का शौक लगाया जाय। इसके लिए पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की व्यवस्था की गई।

प्रत्येक पुस्तकालय को २०० हिन्दी-उर्दू पुस्तकें दी गईं। प्रत्येक पुस्तकालय एक केन्द्रीय गाँव में स्थापित था जिसके ५ से ८ मील तक परिधि के भीतर उसकी ५ शाखाएँ थीं। पुस्तकाध्यक्ष इनकी प्रत्येक शाखा में प्रतिमाह २० से ३० पुस्तकें एक बक्स में भर कर भेज देता है और पिछली पुस्तकें लौटा लेता है। इस तरह यह आशा की जाती है कि जो २०० पुस्तकें केन्द्रीय ग्राम पुस्तकालय को मिलेंगी, वह आस-पास के गाँव में भी पढ़ ली जायँगी। प्रत्येक पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी होता है। दो साप्ताहिक और

एक मासिक-पत्र उसे सरकार की ओर से मिलते हैं। पुस्तकालय का अध्यक्ष वाचनालय का भी अध्यक्ष होता है। वह निरक्षर व्यक्तियों को पत्र पढ़कर भी सुना देता है।

इसके अतिरिक्त इस प्रसार-योजना के अनुसार गैरसरकारी पुस्तकालयों और वाचनालयों को भी सहायता दी जाती है जो उपयोगिता के अनुसार ३६) से ६६) वार्षिक तक हो सकती है।

१६ फरवरी को "साक्षरता-दिवस" का आयोजन किया गया है। वर्ष के इस दिन साक्षरता-आन्दोलन के लिए प्रमुख रूप से काम होता है और लोगों से ऐसे प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर कराए जाते हैं जिनके अनुसार उन्हें आगामी वर्ष में कम-से-कम एक व्यक्ति को अवश्य साक्षर बनाना होता है। पहले साक्षरता-दिवस के अवसर पर प्रांत भर में जो उत्साह भर गया था, वह भुलाने की वस्तु नहीं है। ऐसा जान पड़ता था कि लोग एक बड़े धर्म-कार्य में लगे हैं। बाज़ार-कारोबार बंद थे। विद्यालयों और स्कूल-कालेजों के शिक्षक और विद्यार्थी सैकड़ों गाँव वालों से उनका नाम लिखा रहे थे और उन्हें अक्षर सिखा रहे थे। गाँवों से शहरों की ओर मनुष्यों का एक ताँता लगा हुआ था जिसने शिक्षा-प्रसार की नई पुकार सुन ली थी।

एक वर्ष में ही इस साक्षरता-आन्दोलन ने चमत्कारपूर्ण कार्य किया है। 'हंस' ने अपने सम्पादकीय में सरकार के काम की इस प्रकार समीक्षा की थी—

"अपने प्रांत में कांग्रेस-सरकार के द्वारा शिक्षा-प्रसार का जो काम आरम्भ हुआ था, वह बराबर जारी है। और खुशी की बात यह है कि उसका सुफल भी दृष्टिगोचर हो रहा है। साक्षर प्रचार की जो रिपोर्ट उस विभाग के आफीसर श्री पं० श्री नारायण चतुर्वेदी ने प्रकाशित की है, उससे विदित होता है कि एक वर्ष में ढाई लाख व्यक्ति इस विभाग द्वारा साक्षर बनाए गए। यद्यपि यह संख्या बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं, फिर भी बुरी नहीं है। जो व्यक्ति गाँवों से साक्षर होते जाते हैं, उनको साक्षर बनाए रखने की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान जाना ज़रूरी है। और इसके लिए गाँव-गाँव में पुस्तकालय खोलने की आवश्यकता है। सरकार की ओर से करीब १२५०

नये पुस्तकालय और ३६०० वाचनालय खोले गये हैं और ५०० पुस्तकालयों को मदद दी गई है। पर यह सब प्रांत की बढ़ती हुई माँग को पूरा नहीं कर सकते। अभी और बहुत ज़रूरत है।"

कुछ समय बाद कांग्रेस मंत्रि-मंडल ने त्याग-पत्र दे दिया और महायुद्ध के बादल बरस पड़े। इसलिए एक तो जनमत का समर्थन कम पाने के कारण और दूसरे युद्ध समय की आर्थिक कठिनाइयों के कारण अधिक पुस्तकालयों की स्थापना नहीं हो सकी। जो हो, एक शुभ कार्य का आरम्भ हो गया है, और जन-सामर्थ्य पाकर यह कार्य अवश्य आगे बढ़ेगा। यदि वह समय आ गया कि हमारे देश से निरक्षरता का दानव दूर हो गया, तो हम भारती के प्रसाद से धन्य हो जायेंगे। पैंतीस करोड़ मनुष्य जब संसार की परिस्थिति को पढ़-लिख और समझ सकेंगे, तो क्या नहीं हो रहेगा?

शिक्षा का माध्यम

१—भूमिका। २—हमारी भाषा का पतन और विदेशी भाषा का प्राबल्य। ३—शिक्षा का माध्यम। ४—अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम। ५—शिक्षा में नवीन अभिरुचि। ६—हमारे देश की भाषा ही हमें स्वतन्त्र बना सकती है।

किसी भी स्वतंत्र देश में शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा नहीं। बहुधा देखा है कि प्रत्येक प्रांत में उसकी ही भाषा (प्रांत-भाषा) शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गई है। रूस जैसे बड़े देश में, जहाँ एक ही भाषा के द्वारा शिक्षा देना असम्भव था, प्रांत-प्रांत की भाषा को वह महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। यह परतन्त्र भारत ही है जहाँ सात समुद्र-पार की एक भाषा में, जिससे न हमारे कंठ परिचित हैं, न मन, ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का आयोजन किया गया है। उस पर सोने पर सुहागा यह कि हमारे ही कितने देशवासी अब भी इस बात को अनिवार्य समझते हैं। इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि जिस देश में कभी संस्कृत-जैसी समृद्ध भाषा राज करती थी, वहाँ के निवासी उसी की उत्तराधिकारिणी देशी भाषाओं के सम्बन्ध में

बात कहें कि इनमें ज्ञान-विज्ञान की ऊँची बातों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है।

अंग्रेज़ जब हिन्दोस्थान में आये तब हमारे यहाँ मदरसे, पाठशालाएँ, चटशालाएँ और छोटे-मोटे गुरुकुल थे। राज्य से उन्हें आश्रय प्राप्त था। गाँव-गाँव में इस प्रकार का आयोजन था। उस समय जो भी ज्ञान हमें उपलब्ध था, उसका माध्यम देशी भाषाएँ ही थीं। प्रत्येक प्रांत में उसी की भाषा सारे ज्ञान-विज्ञान के माध्यम के रूप में स्वीकार की गई थी। अंग्रेज़ों ने पहले-पहल इसी को उपयुक्त समझा। रामपुर (बंगाल) के पादरियों और उस समय के अंग्रेज़ी अधिकारियों ने फ़ारसी-उर्दू के मदरसे और देशी भाषाओं एवं संस्कृत की पाठशालाएँ खोलीं। परन्तु शीघ्र ही अधिकारियों का दृष्टिकोण बदल गया। पादरी प्रचार-कार्य के लिए देशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध करते थे। परन्तु अधिकारियों का उद्देश्य दूसरा ही था। उन्होंने पहले सोचा था कि देशी भाषाओं के जाने बिना और उनको माध्यम बनाए बिना राजकाज चलना कठिन होगा। परन्तु मेकाले ने एक दूसरी ही बात सामने रक्खी। उसने एक ऐसे वर्ग को जन्म देने का प्रस्ताव किया जो अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञाता हो। स्वयम् देशी है, अतः देशी भाषाएँ जानता ही होगा, उसी के द्वारा देशी प्रजाजन से अधिकारी सम्पर्क में आयें। इससे अधिकारियों का श्रम बचता था। दूसरे, विदेशी शिक्षा का जो प्रभाव पड़ता, वह भी विदेशियों की दृष्टि से बुरा नहीं था। अतः उचित यही समझा गया कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी रहे।

तब से हमारी पश्चिमी ढङ्ग की शिक्षा-दीक्षा का यही अंग्रेज़ी माध्यम है। सवा सौ वर्ष हो गए, यही पद्धति चल रही है। पहले इससे थोड़ा लाभ भी हुआ। हमारे यहाँ एक ऐसा बड़ा वर्ग उत्पन्न हो गया जो एक उन्नति-प्राप्त विदेशी भाषा को जानता था। उसने इसके द्वारा अन्य भाषाओं और सारे पश्चिम के विचार-कोष का ज्ञान प्राप्त किया। धीरे-धीरे आत्मबल आया। स्वतन्त्रता की भावना बढ़ी। राजनीति, धर्म, समाज—सभी क्षेत्रों में बड़ी भारी क्रांतियाँ हुईं। यह सब बहुत कुछ उस मध्यवर्ग के लोगों के हाथ से हुआ जो अंग्रेज़ी पढ़े थे। परन्तु कई बड़ी हानियाँ भी हुईं। यदि मातृ-भाषा

में शिक्षा देने की बात चल जाती तो हमारे साहित्य अधिक सम्पन्न होते। उनमें देश-विदेश का ज्ञान अनुवाद रूप में उपस्थित होता। इससे स्वतन्त्र-चेतन की भी प्रेरणा होती और आज हम पश्चिमी देशों के कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर नए आविष्कारों के पथ पर चलते होते। दूसरे, अपनी मातृभाषा के प्रति हीनता की वह भावना भी उत्पन्न नहीं होती जो इस अवस्था में हुई जब उसका कोष नए ज्ञान-विज्ञान से सूना-सा लगा। परन्तु इससे अधिक बड़ी हानियाँ समाज, रहन-सहन और आचार-विचार के क्षेत्र में हुईं। हम दो-ढाई शताब्दियों की संस्कृति के कारण अपनी संस्कृति से लत्ता झाड़ कर दूर जा खड़े हुए। यही नहीं, उसकी हँसी उड़ाने लगे। कंठ-स्वर बदला, देशी भाषाएँ भी अंग्रेजी स्वर से बोली जाने लगीं। "इङ्गलिस्तानी" का जन्म हुआ। अंग्रेजी भाषा बोलना सभ्यता का चिह्न है तो अंग्रेज़ बनना सभ्य बनना है। इस तरह का तर्क सामने रख कर देश का अंग्रेजी पढ़ा लिखा वर्ग 'साहब' बनने लगा जो मातृभाषा को गलत बोलने और माता को "मैडम" कहने लगा। क्या भारतीय रीति-नीति, क्या भारतीय रहन-सहन, क्या भारतीय वेश-भूषा सभी से इस वर्ग को घृणा हो गई। यही वर्ग हमारा नेता बना। फिर क्या कहना था ? आज हम वहाँ हैं, जहाँ हैं।

परन्तु अब परिस्थिति बदल चली है। यह भी एक हवा थी जो चली और खूब चली। अब हम विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा के थोथेपन को भली भाँति समझ गए हैं। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने आचार-विचार, अपनी आत्मा के विश्राम भवन हैं; यह विचार सामने आ रहा है। अभी-अभी छोटी कक्षाओं में मातृभाषा द्वारा सभी विषयों के पढ़ाये जाने की योजना आरम्भ हुई है, परन्तु उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में अभी अधिकारी और स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय अध्यापक कठिनाइयाँ दिखा रहे हैं। शोक ! यह तर्क भी एक गुलाम राष्ट्र को शोभा देता है। कहते हैं; अभी देशी भाषाएं (जिस वर्नाक्यूलर शब्द का प्रयोग हमारी मातृभाषाओं के लिए उच्चवर्ग और अधिकारियों द्वारा होता है, स्वयम् उसके मूल में हेय-भावना विराजमान है) इतनी उन्नतिशील नहीं है कि, उनमें पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को प्रकट किया जा सके। तर्क खूब है। ऊँचे मस्तिष्कों की सूझ है। उनकी

आलोचना ही क्या ? इनसे पूछा जाय, चीन-जापान पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को अपनी भाषाओं में भरने में कैसे समर्थ हुए ? अपने घर में ही उस्मानियाँ विश्वविद्यालय में डाक्टर की पदवी वाला निबंध भी उर्दू में उपस्थित करना पड़ता है, एम० ए०, बी० ए० की पढ़ाई की तो बात ही क्या. यह सब कैसे ?

कठिनाइयाँ तो हैं ही, परन्तु कठिनाइयाँ पूर्व-पश्चिम सब जगह थीं। नये आविष्कार के लिए पहले-पहल सभी भाषाओं में प्रयत्नपूर्वक शब्द खोजने पड़े हैं। नए ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल ही नहीं, नए साहित्य को भी उपस्थित करने में कठिनाइयाँ पड़ी हैं। परन्तु पहले आवश्यकताओं का आविष्कार होता है। भाषा उनके द्वारा ही समर्थ होती है। नई बात, नए शब्द। आज की तुद्र कठिनाइयों को यदि आज ही दूर नहीं किया जायगा तो कल हमारे यहाँ की प्रगति क्या होगी ? विदेशी भाषा में बहुत दूर तक सोचना-समझना क्या सम्भव है ?

उच्चतम पढ़ाई के लिए प्रांतीय भाषा (मातृ-भाषा) स्वीकृत हो। एक समय निश्चित कर दिया जाय जब अध्ययन-अध्यापन का सारा कार्य इन्हीं भाषाओं में होगा। आज जो अध्यापन का कार्य कर रहे हैं, उन्हें सहायता दी जाय, उनसे पाठ्य पुस्तकें तैयार कराई जाएँ। इस प्रकार कुछ ही समय में मौलिक रचना, आधार लेकर बनाए हुए ग्रंथों और अनुवाद-ग्रंथों का एक बड़ा भांडार प्रत्येक मातृ-भाषा में उपस्थित हो जायगा। इसका सहारा लेकर आगे की पीढ़ी स्वतन्त्र-चिंतन और मौलिक-प्रयत्न की ओर बढ़ेगी। जब तक यह नहीं हो पाता, विदेशी राज्य की छाप हमारे ऊपर है, तब तक स्वतंत्रता कोसों दूर है।

हमारी शिक्षा-प्रणाली

१—भूमिका। २—मैकाले और उसका उद्देश्य। ३—अँग्रेजी के शिक्षा-प्रणाली से उत्पन्न कठिनाइयाँ, विद्यार्थियों में मौलिकता और सहानुभूति का अभाव। ४—शिक्षा प्रणाली में क्या-क्या सुधार आवश्यक है ? ५—हमारे शिक्षित समाज में जनसमुदाय से दूर होने की प्रवृत्ति।

हमारे यहाँ जो शिक्षा-प्रणाली चल रही है उसका प्रारम्भ एक शताब्दी पहले मेकाले द्वारा हुआ। मेकाले का विचार था कि भारतीयों को अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा शिक्षा दिलाई जाए। उसकी प्रेरणा पर विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उस प्रणाली की नींव पड़ी जिसका विकसित रूप हमें आज देखने को मिल रहा है।

मेकाले के समय देश में कोई व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली नहीं थी। केन्द्रीय विद्यालयों का चिह्न ही नहीं था। प्राचीन काल में तक्षशिला, नालंदा आदि विश्वविद्यालय थे परन्तु मुसलमानों के समय में उनका स्थान छोटे-छोटे विद्यापीठों और पाठशालाओं ने ले लिया था। इनमें संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी। स्वयम् मुसलमानों ने ऊँचे शिक्षालय स्थापित नहीं किये। शिक्षा के लिए मकतब होते थे जहाँ मौलवी फ़ारसी पढ़ाते थे। उर्दू और हिन्दी की शिक्षा का मेकाले के समय में विशेष प्रबंध नहीं था। इस अव्यवस्थित दशा से मेकाले ने लाभ उठाने की बात सोची। उसका उद्देश्य कंपनी के शासन को चलाने के लिए क्लर्क पैदा करना था।

परन्तु शासकों के चाहते अनचाहते ब्रिटिशद्वीपों के ढंग की एक शिक्षा-प्रणाली हमारे यहाँ भी विकसित हो गई। सत्य तो यह है कि यह विकसित हुई नहीं; भारतीय-शिक्षा पर विदेशी क़लम लगाई गई थी और जिसने देशी शिक्षा का रस चूस कर उसे शुष्क कर दिया। यह देश में जागरण करने में तो सफल हुई क्योंकि शीघ्र ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने असन्तोष के बीज बोये। परन्तु उसका भारत को अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी सभ्यता के पाठ देने का विचार व्यर्थ रहा। शासन चलाने के लिए सहकारी तो मिल गए, और अच्छे सहकारी, परन्तु आगे कुछ न हो सका। सरकार का विचार था, वह अंग्रेज़ी पढ़े लोगों का एक वर्ग उत्पन्न करेगी और यह वर्ग जनसाधारण में अंग्रेज़ी भाषा और सभ्यता का प्रचार करेगी। पहली बात सफल हुई; शिक्षा-प्राप्त लोगों की एक नई जाति बन गई परन्तु साधारण जनता विदेशी भाषा और संस्कृति को अपना नहीं सकी।

अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली का विशेष बल व्यक्ति पर था। हमारी संस्कृति में व्यक्ति का स्थान गौण है, समाज और कुटुम्ब का प्रधान। इसी कारण

नए विद्यालय में बना हुआ व्यक्ति कुटुम्ब और समाज में गौरव का स्थान नहीं प्राप्त कर सका। समाज और कुटुम्ब ने उस पर शासन किया और उसकी शिक्षा को विकृत कर दिया। वह एक विचित्र वस्तु बन गया। एक ओर वह शासक वर्ग के निकट जाना चाहता था, दूसरी ओर समाज के कड़े बंधन उसे देशी संस्कृति की ओर खींचते थे।

हम यह मानने को तत्पर हैं कि नई शिक्षा-प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा के विचार से वह ऐसी चीज़ नहीं थी जिसकी पूजा की जा सके। व्यक्तियों के निर्माण में इस शिक्षा-प्रणाली का हाथ अधिक रहा, परन्तु यह स्वप्न कि यह समय बीतने पर गाँवों तक छन कर पहुँचेगी, एक स्वप्न ही रहा। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षा न हो सकी, न हो सकती थी।

प्रत्येक देश में उच्च-शिक्षा का आधार प्रारम्भिक शिक्षा पर होता है और इस प्रारम्भिक शिक्षा का संबंध देश के परम्परागत आचार-विचार और विश्वासों पर होता है। हमारे यहाँ परिस्थिति इससे उलटी हो गई। अमरबेल की तरह यह उच्च शिक्षा-प्रणाली पृथ्वी में मूल नहीं पा सकी। वह विदेशी वृक्ष से लिपटी हुई शून्य में झूलती रही। फिर यहाँ शिक्षा का काम केवल गवर्नमेंट द्वारा ही नहीं हुआ। होना तो चाहिये था कि केन्द्रीय सरकार इसकी व्यवस्था करती, परन्तु यह विदेशी मिशनरियों और देशी संस्थाओं के हाथ पड़ा। फलतः एक प्रकार की विश्रृंखलता आ गई। शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिये कि उसके द्वारा विशिष्ट व्यक्तियों का विकास न होकर सामान्य जनता की धारणा में विकास हो। यहाँ दृष्टिकोण न विशेषज्ञ बनाने का था, न साधारण जनता की मनोवृत्ति को परिष्कृत करने का।

परिणाम यह हुआ कि इसके द्वारा न मौलिकता को प्रश्रय मिला, न विशेषज्ञता या अनुसंधान की दृष्टि का ही विकास हुआ। भारत में शिक्षित जनता का अनुपात बढ़ाने के लिए और देश की सभ्यता और संस्कृति में भी जो विशेषताएँ हैं उन्हें अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि पश्चिमी और भारतीय आदर्शों में साम्य स्थापित किया जाय।

हमारे देश में प्रारम्भिक शिक्षा जिस ढंग से दी जाती है उससे बालक में स्वतंत्र जिज्ञासा का विकास नहीं हो पाता। शिक्षा के साथ-साथ समाज के

परिष्कार की भावना भी होनी चाहिये, क्योंकि पिछड़ा हुआ समाज शिक्षित और कुटुम्ब के बीच में खाइयाँ पैदा कर देता है। धर्म की शिक्षा अनिवार्य हो परन्तु उसका रूप तुलनात्मक हो। पिछले वर्षों की धर्म-हीन शिक्षा ने भारत में एक ऐसी शिक्षित जाति को जन्म दिया है जो भारतीय होकर भी उसकी परंपरा से मेल नहीं खाती। धर्म भारत का हृदयतंत्र है। क्या हम उसे शिक्षा में स्थान नहीं देंगे? सम्प्रदाय-गत दोषों के मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि धर्म का सच्चा स्वरूप हमारे सामने हो। भारत में ऐसी शिक्षा के प्रयोगों के लिए स्थान भी है, क्योंकि अब यहाँ लगभग सभी धर्म पाए जाते हैं।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रारम्भिक और उच्च सभी प्रकार की शिक्षा का माध्यम प्रांत की मातृ-भाषा हो। लगभग एक शताब्दी तक विदेशी भाषा के प्रयत्न होते रहे हैं। आज वह समय आ गया है कि हम उसकी अनुपयोगिता को स्वीकार कर लें। अब देशी भाषाएँ इस योग्य हैं कि नए-पुराने किसी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा उनके द्वारा दी जा सके। दूसरे देश की भाषा कितनी ही सुन्दर हो उसको सीखने में वर्षों व्यर्थ का परिश्रम करना पड़ता है और उसके पीछे उपयुक्त वीथिका न होने के कारण उसके साहित्य का पूरा-पूरा आस्वादन नहीं किया जा सकता है। वह हृदय को विकसित करने में किसी प्रकार भी सहायक नहीं हो सकती; न रुचियों का परिष्कार ही उसके द्वारा सम्भव है। आज हमें इस सत्य को समझ लेना चाहिये। जो लोग कहते हैं कि मातृ-भाषाओं में उच्च शिक्षा नहीं हो सकती, वे भ्रम में हैं।

इन अनैसर्गिक परिस्थितियों के कारण आज हमारे शिक्षित समाज में जन-समुदाय से दूर होने की प्रवृत्ति है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उसका विकास ही अप्राकृतिक है, सामान्य रूप से उसे जन-समुदाय के भीतर ही विकसित होना चाहिये था। भाषा की कृत्रिमता और देशी संस्कृति की पृष्ठ-भूमि न रहने के कारण ऐसा नहीं हो सका। दूसरे यह कि उसे विदेशी राजशक्ति का आश्वासन मिलने के कारण वह अपने को अधिक सभ्य समझकर अपने गर्व के कारण जन-समुदाय से दूर जा पड़ता है। राष्ट्रीय हितों के लिये इससे भयंकर कोई बात नहीं। बात यह है कि शिक्षित मध्य वर्ग ही

राज्य की जनता का अगुआ बनता है और जब वह जनता के सम्पर्क में आता ही नहीं तब, या तो उसे उसका नेतृत्व ही नहीं मिलेगा या जनता के हितों को उतनी आत्मीयता द्वारा समझ न पाने के कारण उसका नेतृत्व अहितकर होगा।

आज परिस्थितियाँ बदल रही हैं। प्रांतों में जन-समुदाय की चुनी हुई सरकारें हैं, उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा के दोषों के परिहार के लिए प्रयत्न किये हैं। उनका उद्देश्य है कि मानसिक विकास के साथ-साथ बालक का नैतिक और दैहिक विकास भी हो। वह अपनी शिक्षा का बोझ प्राकृतिक रूप से वहन करे; उसे ढोता हुआ दब न मरे।

राष्ट्र-भाषा का प्रश्न

१—भूमिका। २—हमारी संस्कृति की एकता का रहस्य। ३—अंग्रेजी और हिन्दी—राष्ट्रभाषा कौन हो? ४—हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की समस्या (राष्ट्रभाषा के दृष्टिकोण से)।

भारतवर्ष में लगभग एक दर्जन भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें अपनी परम्परा और साहित्य है। बोलियों की संख्या तो कहीं अधिक है। यूरोपवाले जब यहाँ आते हैं तो उन्हें यह आश्चर्य होता है कि भाषाओं की इतनी विभिन्नता होने पर भी संस्कृति की दृष्टि से सारा भारत एक है। वे भारत को एक देश समझकर भूल करते हैं। कारण कि उनकी देश की परिभाषा का क्षेत्र ही सीमित है। वे जिस राष्ट्रीय भावना के उपासक हैं, उनका विकास पूर्णतया हमारे देश में अभी नहीं हुआ, फिर भी पूर्व और पश्चिम और दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओं में संस्कृति और सभ्यता की आश्चर्यजनक एकता है।

ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि भारत की सभ्यता-संस्कृति धर्म पर आश्रित है। हमारे धर्म की भाषा संस्कृत रही है। एक समय में यह उत्तर से दक्षिण तक सब कहीं समझी जाती थी। और इसी के द्वारा हमारे पूर्वजों ने सांस्कृतिक एकता की स्थापना की थी। अब हमारी राष्ट्रीयता का प्रश्न है। सारे देश में राष्ट्रीय एकता उसी समय स्थापित हो सकती है, जब उसके

संबंध में हमारे सिद्धान्त एक ही प्रकार की अनुभूतियों के सहारे प्रत्येक प्रान्त के निवासियों के हृदयों में घर कर लें। भाषा की एकता के बिना यह कठिन बात है, यद्यपि परिस्थितियों के वशीभूत होकर भाषा की एकता के बिना भी ऐसा होकर ही रहेगा। सच तो यह है कि, राष्ट्रीयता का विकास और भाषा का राष्ट्रीकरण अनन्योन्याश्रित बात है। जब भी हम एक राष्ट्र की दृष्टि से विचार करेंगे, तब ही हमें एक भाषा का आश्रय ग्रहण करना होगा।

राष्ट्र-भाषा से हमारा मतलब उस भाषा से है जिसमें एक प्रान्त की जनता दूसरे प्रान्त की जनता से भावों, और विचारों का आदान-प्रदान कर सके। इससे अधिक हम कुछ नहीं चाहते। प्रत्येक प्रान्त में उसकी अपनी भाषा मातृ-भाषा के रूप में रहेगी। राष्ट्र-भाषा द्वारा उसे उसके स्थान पर गिराए जाने की आशंका व्यर्थ है।

तब हम क्या करें? हमें देखना है कि अंतर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए कौन-सी भाषा ठीक रहेगी। इस भाषा का शब्द-भंडार इतना विपुल और व्यापक होना चाहिये कि जीवन के अनेक क्षेत्रों की अभिव्यक्ति उसमें हो सके। उसके पीछे उसका साहित्य भी हो। तात्पर्य यह कि वह गढ़ी हुई ऐसी बाजारू भाषा न हो जिसमें हृदय के गूढ़ भावों और राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्म-सम्बन्धी देश-व्यापी तत्त्वों को प्रकट नहीं किया जा सके। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है—क्या हम वर्षों से अंग्रेज़ी द्वारा यह काम नहीं ले रहे हैं? उत्तर होगा—यह अवश्य है कि पढ़े-लिखे लोगों में। परन्तु इस विदेशी भाषा की पहुँच कितनी दूर है। क्या यह कभी संभव है कि वह हमारी राष्ट्रभाषा हो सके; ऐसी भाषा जिसमें हमारे हृदय से निकले हुए उद्‌गार उसी रूप में शक्ति के साथ प्रकट हो सकें? विदेशी होने के कारण इसका सीखना बड़ा कठिन है। वर्षों परिश्रम करने पर भी हम उसकी आत्मा से परिचित नहीं हैं? प्रत्येक शब्द का प्रयोग रटो। उधर मुहावरों का प्रयोग ठीक-ठीक कर सकना तो असम्भव ही है। लिखो कुछ, पढ़ो कुछ। उच्चारण के इतने अपवाद कदाचित् ही किसी भाषा में मिलें। इसके विरुद्ध हिन्दी को लो। यह प्रतिदिन के प्रयोग की भाषा है। १२ करोड़ लोगों का साहित्य इसमें है। समझी तो यह भारत भर में यों भी जाती है। तीन-चार शताब्दियों

से राष्ट्रभाषा के रूप में थोड़ा-बहुत काम हम उससे लेते रहे हैं, अंग्रेज़ी की अपेक्षा हम उसके शब्दों, शब्द समूहों और ध्वनियों से अधिक परिचित हैं। उसका व्याकरण सुगम है। सम्भव है, लिंग-भेद में कठिनता पड़े, परन्तु उसे भूत बनाकर डरा देने की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है। फ्रांसीसी भाषा में लिंग-भेद है; क्रिया के रूप हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल हैं। फिर भी सारे यूरोप की भाषा के रूप में उसका प्रयोग होता है।

राष्ट्र-भाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्र-भाषा की संस्कृति को व्यक्त कर सके। हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में हमारे विचारकों ने अनेक सिद्धान्तों की खोज की है। इन विषयों के हमने सहस्रों पारिभाषिक शब्द विकसित किए हैं। किसी अन्य भाषा के द्वारा वे उसी प्रकार समझाये नहीं जा सकते जिस प्रकार हमारे धर्म और दर्शन की भाषा के द्वारा। संस्कृत की उत्तराधिकारिणी होने के कारण, हिन्दी धर्म और दर्शन की सूक्ष्मतम भावनाओं को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने से एक सुगमता तो यह होती है कि हम सारे उत्तरी भारत को एकसूत्र में बाँध देते हैं। उत्तरी भारत की संस्कृत से उत्पन्न होने वाली सभी भाषाओं में धर्म और दर्शन संबंधी शब्दावली एक है।

ध्वनि-शास्त्र के विचार से हिन्दी अंग्रेज़ी से कहीं अधिक पूर्ण है। उसकी लिपि इसी कारण से सरल है। उसमें रोमन-लिपि से समय अधिक लगता है, परन्तु कुछ थोड़े से परिवर्तन के साथ, यह दोष भी किसी हद तक दूर किया जा सकता है। इसके सिवा, अन्य प्रान्तीय भाषाओं की लिपियों से उसमें साम्य भी बहुत अधिक है।

इधर कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका यह विचार है कि अंग्रेज़ी विश्व-भाषा है या विश्व-भाषा होने जा रही है। उनकी सहानुभूति इतनी विश्व-व्यापी है कि वह अंग्रेज़ी को राष्ट्र-भाषा बनाने के मत में हैं। शायद उन्हें यह विश्वास नहीं कि ३५-३६ करोड़ व्यक्तियों की जाति और भाषा का संसार में कभी भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है। आज राजनैतिक परि-स्थितियाँ किस ओर इशारा कर रही हैं। कल यदि ब्रिटिश साम्राज्य की अप-

छाया न रहे तो फिर अंग्रेजी का विश्व-भाषा की दृष्टि से स्थान कहाँ होगा? संभव है, विदेशी राजनीति के लिए इस अंग्रेजी का प्रयोग करें, विशेषतः यदि भारत और इंगलैंड का सहानुभूतिपूर्ण संबंध बना रहे। इससे अधिक हम निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कह सकते।

हाँ, एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि अन्य प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा हम हिन्दी को ही क्यों चुनें? बंगाली को क्यों नहीं? मराठी को क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि हमें प्रांतीय भाषाओं में ऐसी भाषा चुनना है जो व्यवहार में सुगम हो, जिसका प्रचार सरल हो और व्यापक हो। यह बातें हिन्दी में अन्य भाषाओं की तुलना में कहीं अधिक हैं। हिन्दी की लिपि और उच्चारण में कुछ भेद नहीं है। बंगला में इसी भेद के कारण विद्यार्थी को कठिनाई पड़ती है। व्यवहार की दृष्टि से उसका एक रूप (हिन्दुस्तानी) सामाजिक और राजनैतिक भाषा के रूप में वर्षों से प्रयोग में आता रहा है।

दक्षिण की भाषाएँ संस्कृत से निकट होने के कारण हिन्दी के भी निकट पड़ी हैं। तामिल-भाषा-भाषी को छोड़ कर अन्य दक्षिणी भाषाओं को बोलने वाले हिन्दी को सरलता से सीख सकते हैं। इसके लिये छः महीने से अधिक समय और २-३ घन्टे प्रतिदिन के परिश्रम से अधिक और कुछ नहीं चाहिए। अंग्रेजी सीखने के लिये इससे ५० गुना अधिक समय और कई गुना अधिक परिश्रम चाहिए।

अब उर्दू और हिन्दुस्तानी की समस्या रह जाती है। उर्दू हिन्दी की खड़ी बोली का ही फ़ारसी-मिश्रित रूप है। उसका व्यवहार हिन्दी प्रान्त के पश्चिमी भागों और दक्षिण (हैदराबाद) की मुसलमान जनता द्वारा विशेषतः होता है। इस प्रकार अपने शुद्ध रूप में उनका क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं; न वह भारतीय समाज की धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं को ही प्रगट कर सकती है। हिन्दुस्तानी हिन्दी का ही दूसरा नाम है जिसमें अंग्रेजी और फ़ारसी के चलते हुए शब्द भी ज्यों के त्यों रख दिये जाते हैं। राजनीति की भाषा के रूप में भी यह कांग्रेस द्वारा मान्य हो गई है; परन्तु इसके पीछे साहित्य न होने के कारण न तो इसका रूप निश्चित है, न इसे साधारण बोलचाल या प्लेटफ़ार्म (मंच) से आगे ही बढ़ाया जा सकता है। सत्य तो

यह है कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी में कोई बड़ा विरोध नहीं। व्याकरण तीनों का एक ही है। शब्दकोष में भी अधिक भेद नहीं है। भेद है तो भाषा का। यदि हिन्दी राष्ट्र-भाषा के रूप में व्यवहार में आती है तो उसके राष्ट्र-भाषा वाले रूप में अन्तर्प्रान्तीय प्रभावों के कारण परिवर्तन भी होगा। उस समय उर्दू-फ़ारसी ही नहीं, अन्य भाषाओं के शब्द भी (चाहे वे दक्षिणी हों, या उत्तरी) आ मिलेंगे। जब हम राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की बात सोचते हैं तो हमें कट्टरता को छोड़ ही देना होगा। शीघ्र ही हिन्दी के दो रूप हो जायेंगे—एक वह हिन्दी, जैसी हिन्दी प्रान्त में बोली-लिखी जाती है, दूसरी राष्ट्रभाषा हिन्दी, जैसी वह अन्य प्रांतों में बोली-लिखी जाती है। हमें इसके लिये तैयार रहना चाहिए।

हरिजन-आन्दोलन

१—भूमिका। स्वामी विवेकानन्द का कथन। २—अछूत या शूद्रवर्ग का इतिहास। ३—अछूतोद्धार, सुधारक्रमण। ४—गांधीजी के हरिजन आन्दोलन का इतिहास। ५—हरिजन-सेवा-संघ और उसका उद्देश्य।

स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा है—No religion preaches the dignity of humanity in such lofty strains as Hinduism, and no religion on earth treads upon the necks of the poor and the low in such a fashion as Hinduism, religion is not at fault but it is the pharisies and the Sadducees,

बात बिल्कुल सच्ची है। धर्म के नाम पर उसके पुरोहितों ने संसार में अनेक आडम्बर खड़े कर रक्खे हैं। उनमें एक छूत-अछूत का भी है, जिसमें धर्म जैसी व्यापक पुण्य भावना को कलुषित और संकीर्ण कर दिया है। मनुष्य के भीतर जो 'अहम्' की भावना है, वह उसे यह सलाह देती है कि वह अपने सामने औरों को नगण्य और तुच्छ गिने। व्यक्तियों से निकल कर अब यह भावना समाज के एक विशेष वर्ग को जकड़ लेती है तो यह वर्ग अपने

को ऊँचा और अधिक प्रतिष्ठित समझने लगता है। यदि वह वर्ग किसी कारण से बलशाली हुआ तो वह दूसरे वर्गों के लिये इस तरह के नियम-उपनियम बना देता है, जिससे उसकी मनोवृत्ति को संतोष मिलता रहे और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बनी रहे।

हमारे देश में वर्णाश्रम की संस्था बहुत प्राचीन है। वेदों में भी उसका उल्लेख मिलता है। कदाचित् उसमें आर्य जाति के विजय-गौरव के चिह्न मिलते हैं। विजित अनार्यों का आर्यों ने हेय-भावना से दस्यु और दास कहा। जब यह शांतिपूर्वक रहने लगे और उन्होंने समाज के रूप में संगठित होकर कार्य का विभाजन किया तो उन्होंने विजित अनार्यों (दासों) को सेवा का काम दिया और इन्हें शूद्र कहा। यह अवश्य है कि वर्णाश्रम की संस्था काम बाँट कर प्रत्येक वर्ग को उन्नति का अवकाश देती थी। संभव है कि प्रारम्भ में वांछनीय भी रही हो। परन्तु धीरे-धीरे शूद्र का सेवा कार्य नीचता से सम्बन्धित किया जाने लगा। वर्ण कर्मगत न रह कर जातिगत होने लगा। इसका फल यह हुआ कि समाज में एक वर्ग ऐसा बन गया है जो अन्य वर्गों की दृष्टि में हेय, तुच्छ और अस्पृश्य है।

इस तरह का वर्ग प्राचीन वैदिक काल से आज तक चला आ रहा है। अब इससे अनेक सामाजिक और राष्ट्रीय उलझनें पैदा हो गई हैं। यह नहीं कि इसका विरोध न हुआ हो। समय-समय पर ऐसे सुधारक होते रहे हैं जिन्होंने वर्णों की ऊँच-नीच की व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार किया और उसमें कुछ सफलता भी पाई। गीता के नवें अध्याय में भगवान् कृष्ण लिखते हैं—"सब जीवों के लिये मैं एक-रूप हूँ। न मैं किसी से घृणा करता हूँ, न कोई मुझे प्रिय है। जो भक्तिपूर्वक मेरा ध्यान करते हैं, वे मुझमें निवास करते हैं और मैं उनमें रहता हूँ। हे पार्थ, जो मेरी शरण आता है चाहे वैश्य पुत्र हो—चाहे शूद्र, मेरे लोक को प्राप्त होता है।" बुद्ध ने भी पंडित-पुरोहितों की उच्चता का विरोध किया। उनके अनेक शिष्य हीन वर्णों के थे। यही बात मध्यकालीन संतों के सम्बन्ध में है। उन्होंने अपने सारे विश्वास से प्रश्न किया था—"एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को शूद्रा?" कबीर कहते हैं—

जो तोहि कर्ता बर्ण विचारा । जन्मत हीन दंड अनुसारा ॥
जन्मत शूद्र भए पुनि शूद्रा । कृत्रिम जनेऊ घालि जग दुंद्रा ॥
जो तुम बाह्मन बाह्मनि जाए । और राह तुम काहे न आये ॥

परन्तु शक्ति कठोर कट्टर-पंथी ऊँचे समाजी वर्गों के हाथ में थी। अतः उन्होंने इन सुधारकों को सफल नहीं होने दिया।

अछूत का अर्थ है अस्पृश्य—'जो छूने योग्य न हो'। हिन्दुओं में चमार, भंगी, जुलाहे, रैदासी, डोम, कबीरपंथी, धोबी, खटिक इत्यादि अछूत गिने जाते हैं। इनकी संख्या ७ करोड़ है। आज इस बड़ी संख्या के प्रति उच्च जाति के हिन्दुओं का अत्याचार इतना बढ़ चला है कि सामाजिक जीवन में इनका कुछ भी स्थान नहीं रह गया है और यह या तो नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं या अन्य धर्मों का आश्रय ले रहे हैं। उच्च जाति के हिन्दू इन्हें कुओं से जल नहीं लेने देते, मंदिरों में प्रविष्ट नहीं होने देते, पाठशालाओं में पढ़ने नहीं देते। वे इनसे घृणा करते हैं। इनसे मिलते-जुलते नहीं। मनुष्योचित व्यवहार की तो बात ही क्या ?

महात्मा गांधी ने अछूत-वर्ग को हरिजन का नाम दिया। सितम्बर १९३२ में उन्होंने अछूतोद्धार के पुराने आन्दोलन को नए रूप से हमारे सामने रक्खा। चैतन्य, नानक, रामानुज, कबीर इत्यादि अनेक महापुरुषों ने अछूतोद्धार का प्रयत्न किया है परन्तु उन्होंने व्यवहार से अधिक तर्क-कौशल से काम लिया। आर्य-समाज ने यह काम विशेष रूप से किया। उसने व्यवहार-क्षेत्र में भी काम किया। पंजाब में लाला लाजपतराय और महाराष्ट्र में शिन्देजी की सेवाएँ अद्वितीय रही हैं। परन्तु जो भी काम हुआ वह इस देश व्यापी रोग को देखकर बहुत थोड़ा हुआ। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं रहा और उसने अछूत कहाने वाली जातियों के मनोविज्ञान का अध्ययन करके उनके रहन-सहन और जीवन में आमूल परिवर्तन करने का काम नहीं किया।

गांधीजी ने पहली बार अछूतोद्धार को हरिजन आन्दोलन के नाम से एक बड़े व्यापक क्षेत्र में चलाया। उन्होंने अखिल भारतीय हरिजन-सेवा-संघ की स्थापना की जिसके सभासदों का उद्देश्य यह था कि वे हरिजनों में

पहुँच कर उनके रहन-सहन और शिक्षा में इस तरह परिवर्तन कर दें कि अन्त्यजों और सवर्णों में विशेष अन्तर न रह जाय। स्वयम् गांधीजी ने १९३४ में इस कार्य के सम्पादन के लिये देश भर का दौरा किया। आज उनके भक्तों की चेष्टा से इस आन्दोलन को काफी सफलता भी मिली है। उनका काम बड़ी शांति से चल रहा है और निकट भविष्य में हम कालिमा के इस धब्बे को राष्ट्र के यश की चादर पर से धो डालेंगे।

हरिजन सेवासंघ अखिल भारतीय संस्था है। उसकी केन्द्रीय समिति में भारत भर के निर्वाचित सज्जन रहते हैं। काम चलाने के लिये एक महासमिति होती है। उसके कार्यालय दिल्ली में हैं जहाँ मंत्री और कार्य संचालक रहते हैं। प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय शाखाएँ हैं। जिला-शाखाएँ भी बन गई हैं। अनेक देशी राज्यों में यह संस्था काम कर रही है। इस संस्था के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि अस्पृश्यता का नाश हो और अछूतों को भी वही स्थान मिले जो अन्य सवर्णों को मिलता है। दूसरा उद्देश्य यह है कि अछूतों का सामाजिक-जीवन विकसित किया जाए।

हमारा स्त्री-समाज

१—भूमिका। २—हमारे देश में स्त्री से आदर्श संबंध की कल्पना। ३—प्राचीन और नवीन आदर्श। ४—स्त्री जीवन से संबंध रखने वाली समस्याएँ। ५—कुछ प्रश्न और उनके उत्तर। ६—नवीन परिस्थितियाँ और स्त्री-पुरुष के संबंधों पर उनकी प्रतिक्रियाएँ।

प्रत्येक जाति के अपने आदर्श होते हैं। उस जाति के ये आदर्श उसके स्त्री-पुरुषों के जीवन में चरितार्थ होते हैं। किसी देश या जाति के मनुष्यों का जीवन उसके आदर्शों से जाना जा सकता है। परन्तु समय बदलता है, साथ ही परिस्थितियाँ बदलती हैं और तब आदर्श भी बदल जाते हैं। यदि इन बदलते हुए आदर्शों को स्वीकार न किया गया या उनके अनुसार देश या जाति के मनुष्यों ने अपने जीवन में परिवर्तन नहीं किया तो एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह हानिकर भी हो सकती है।

हमारा समाज एक युग विशेष में होकर आगे बढ़ रहा है। पश्चिमी सभ्यता ने विजेता शासकों की सभ्यता के रूप में हमारे सामने कुछ नए आदर्श रक्खे हैं। वे हमारे पुराने आदर्शों से मेल नहीं खाते। प्रश्न यह है कि उन विषम आदर्शों में सामञ्जस्य कैसे स्थापित हो। उनके प्रभाव से तो हम बच नहीं सकते। परन्तु जैसा हो रहा है, उसे देखते हुए हम हताश हो रहे हैं। हमारा मार्ग निश्चित नहीं है।

भारतवर्ष में स्त्री से आदर्श संबंध की कल्पना माँ के रूप में की गई थी। माँ गृह-स्वामिनी थी, पत्नी गृह-सेविका। पश्चिम की बात इससे भिन्न है। पत्नी गृह स्वामिनी है। पश्चिम की सभ्यता में माँ का इतना ऊँचा स्थान नहीं जितना पूर्व की सभ्यता में। हमारे घर की शासक माँ होती है, पत्नी नहीं। हमारे प्राचीन मनुष्यों ने निःस्वार्थ, क्षमा-शीला और करुणामयी मातृ-मूर्त्ति को देवी कहा है और उसे आदि शक्ति की जननी माना है। इसी से, हिन्दू आदर्श के अनुसार, मातृत्व को प्राप्त होने पर पत्नी पुरुष के लिए कल्याण की मूर्त्ति हो जाती है और उसकी दीप्ति से पारिवारिक जीवन में एक नया, अपार्थिव आलोक भर जाता है।

स्त्री-पुरुष का दूसरा संबंध पति-पत्नी के रूप में है। हमारे देश में स्त्री पुरुष के इस संबंध को धार्मिक और आत्मिक माना है। केवल देह के संबंध को हमारे यहाँ इतना अधिक महत्त्व कभी नहीं दिया गया। हमारे यहाँ सन्तानोत्पत्ति भी एक धार्मिक कर्म है क्योंकि सन्तान का पिता के साथ इसी लोक का संबंध ही नहीं है, पितृलोक का संबंध भी है। इसी से हिन्दू निःसन्तान मरने से अधिक बड़ा अभाग्य दूसरा कोई नहीं मानते। पत्नी सहधर्मिणी है। वह धर्म के कामों में योग देती है। वह जाया है। वह पति के पुत्र की जननी है। हिन्दू के लिए पत्नी के पवित्र संबंध में वासना को स्थान मिलना असंभव है।

प्राचीन आदर्श के अनुसार स्त्री जन्म भर पुरुष पर आश्रित रहती है। जब तक वह कन्या है तब तक पिता का उस पर अधिकार है; पति के स्वर्ग-वास पर वह पुत्र के कहने पर चले। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में

स्त्री का अपना जातीय स्थान कुछ भी नहीं। जो है, वह बीच के एक माध्यम के ज़रिये।

अब एक नया आदर्श हमारे सामने आया है। पश्चिम में स्त्री का समाज के संगठन में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना पुरुष का; वह भले ही किसी की पुत्री हो, किसी की पत्नी हो, किसी की माता हो, वह समाज की एक व्यक्ति भी है और समाज और राष्ट्र की सभी संस्थाओं में उसे निजी रूप से भाग लेने का अधिकार है। हिन्दू धर्म में स्त्री और पुरुष के क्षेत्र साफ़ अलग अलग थे। स्त्री घर को देखे। पुरुष बाहर को देखे कदाचित्, इस प्रकार के कार्य-विभाजन के पीछे यह भावना थी कि, स्त्रियों और पुरुषों में तात्विक और मौलिक भेद होता है। यद्यपि यूरोप में भी इस विषय में अभी मतभेद बना है परन्तु वहाँ स्त्रियों के आन्दोलनों ने प्रत्येक क्षेत्र में सफल होकर यह दिखा दिया है कि इस प्रकार का विभाजन बहुत दूर तक कृत्रिम है। वहाँ विवाह एक सामाजिक संबंध मात्र है जो दो उभय लिंगों के प्राणियों को एक नए सामाजिक जीव की उत्पत्ति के लिए एकसूत्र में बाँध देता है। इससे अधिक कुछ भी नहीं है।

हमारे देश में स्त्री-जीवन से संबंध रखनेवाली समस्याएँ तो अनेक हैं, परन्तु, उनमें दो मुख्य हैं। (१) दैहिक और मानसिक जीवन के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण हो? यानी, क्या वह जैसा अब तक होता आया है कुटुम्ब और घर की परिधि में रहे, या इस संकीर्ण घेरे से निकल आये और पुरुष के कन्धे से कन्धा भिड़ा कर जीवन के अनेक अङ्गों में अपना उचित स्थान ले? (२) विवाह के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण हो? स्त्री-धर्म का अन्यतम भूषण क्या है? क्या पत्नी पुरुष की चिरसेविका बनी रहे और अपनी सारी विभूतियाँ उसे समर्पित कर दे और बदले में पाने की कुछ भी इच्छा नहीं रक्खे? अथवा, उसका यह संबंध केवल साझीदार की तरह हो और पुरुष और स्त्री दोनों के कुछ हक़ हों और कुछ कर्त्तव्य हों। एक वाक्य में क्या इस संबंध की भावना पारलौकिक बनी रहे या लौकिक हो जाय?

ऊपर जो दो प्रश्न किए गए हैं उनका हमारे राष्ट्रीय जीवन में बड़ा स्थान है, क्योंकि हमारी राष्ट्रीय चेतना का उनसे सीधा संबंध है। समय बदल

रहा है और बदली हुई परिस्थिति में विवाह और पत्नीत्व के आदर्शों को बदलने की बात भी अनुभव में आने लगी है। पश्चिम से जो आया है उसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। स्वयम् हमारे देश में जो हो रहा है, बंधनों को तोड़ने की जो लहर चल पड़ी है, उसे भी हम आँख की ओट नहीं कर सकते। यह निश्चय है कि अब हमारा समाज केवल घर की छोटी-सी चहार-दीवारी में बन्द नहीं रह सकेगा। उसे जीवन का आह्वान मिल चुका है और चाहे भला हो या बुरा, उसे उस आह्वान को सत्य मान कर आगे बढ़ना होगा। पुरुष की तरह स्त्री भी व्यवहार के क्षेत्र में काम कर सकती है। उसमें भी मानसिक शक्तियाँ उतनी ही विकसित होती हैं। यह बात प्राकृतिक ही है, वह चाहे कि उसे ऐसा क्षेत्र मिले जिसमें वह अपनी इन शक्तियों को लगा सके। दूसरी बात यह है कि आज की आर्थिक परिस्थिति बिलकुल भिन्न है। केवल पति के कमाने से गृहस्थी चलती नहीं दीख रही। प्रतिदिन यह स्पष्ट होता जाता है कि पुरुष की तरह स्त्री को भी जीविकोपार्जन के लिए तैयार होना होगा। अर्थशास्त्र हमारे जीवन के अंतःपुर में भी बुरी तरह घुस गया है और इससे स्त्री-जीवन में अन्यतम परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकते। तीसरी बात, पश्चिमी बहनों के संपर्क के कारण हमारा स्त्री-समाज भी अपने हकों को पहचान गया है। वह देश की सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक प्रगति में भाग लेना चाहता है। और वह ऐसा क्यों नहीं चाहे ?

सबसे अच्छा यह हो कि हम इस परिस्थिति के लिये तैयार रहें। हमें स्त्री-शिक्षा के आदर्शों को समयानुकूल बनाना चाहिये। उसमें व्यवहार और लौकिकता की मात्रा अधिक हो।

सती-धर्म क्या है ? हिन्दू-धर्म ने महत्त्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों को धार्मिक और आध्यात्मिक बना दिया है। सतीत्व की भावना के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। स्त्री पति को देवता माने; पति और कुटुम्ब के लिए वह जो कुछ भी करती है वह एक प्रकार का धार्मिक कर्त्तव्य है। उसका जीवन ही पूजा है। परन्तु नवीन शिक्षा-दीक्षा के साथ इस तरह की भावना में परिवर्तन होगा। यह संभव है कि पत्नी भविष्य में पति में उस देवत्व की स्थापना नहीं कर सके जो हिन्दू धर्म की एक प्रधान वस्तु रही है, परन्तु इसके

लिए दुखी होने से क्या ? हम यह क्यों समझें कि हम अपने एक बहुत निकट के सम्बन्ध में सदा ही रहस्यमय दृष्टिकोण रखते रहेंगे ? क्या हम यथार्थ को सामने रख कर एक नया आदर्श नहीं गढ़ सकते ?

बेकारी की समस्या

१—भूमिका। २—हमारी दोष-पूर्ण शिक्षा-पद्धति। ३—बेकारी के पीछे मनोविज्ञान। ४—संतानोत्पत्ति का भ्रमपूर्ण आदर्श। ५—कलें और बेकारी। ६—समस्या का सुलझाव।

बेकारी की समस्या बहुत थोड़े लोगों की नहीं है; बहुत कुछ, पढ़े-लिखे लोगों की है। कुछ ही लोग यह ठीक-ठीक समझते हैं कि समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण है। पिछले १५ वर्षों से शिक्षित समुदाय की दशा बिगड़ती रही है और वह आप अपने ऊपर भार बन रहा है।

यह समस्या शिक्षित समुदाय के साथ ही क्यों हो ? क्या शिक्षा और बेकारी में कोई गहरा संबंध है ?

बात यह है कि जो शिक्षा-पद्धति हमारे देश में चल रही है वह सच्चे रूप में हमारी नहीं है। मेकॉले ने शासन चलाने के लिए क्लर्कों की उत्पत्ति की व्यवस्था की थी। जब इतने क्लर्क पैदा हो गए कि सरकारी जगहें भर गईं, तब भी वही शिक्षा प्रणाली चलती रही। फल यह हुआ कि आज प्रत्येक एक खाली जगह के लिए पचास शिक्षित आदमी मिलते हैं। शिक्षा का उद्देश्य ही मनुष्य को जीवन-संग्राम के लिए तैयार करना है। यदि वह यह नहीं कर सकी, तो फिर हमारे किस काम की। हमारी शिक्षा में मानसिक विकास की व्यवस्था तो है, परन्तु दैहिक और आत्मिक उन्नति के लिए क्या है ? क्या हम किन्हीं उद्योग-धंधों के लिए तैयार किए जाते हैं ?

हमारे शिक्षालयों और हमारी सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह दोष है। शिक्षालयों को चाहिये कि वह समाज और सरकार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार की शिक्षा

की व्यवस्था करें। ऐसी संस्थाएँ होनी चाहिये जो शिक्षालयों से निकलने वाले विद्यार्थी को काम पाने में सहायता दें। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे उद्योग-धन्धों, हमारे व्यवहारों और हमारी शिक्षा-पद्धति में एक साथ क्रांति हो तभी हम इस महत्त्वपूर्ण समस्या को सुलझा सकेंगे।

वस्तुतः बेकारी की समस्या मनोवैज्ञानिक है। हमारी शिक्षा-प्रणाली हमारे शिक्षितों में यह धारणा पैदा कर देती है कि वह जन-समुदाय से ऊँची चीज़ है, वे कुछ विशेष व्यवसायों के ही योग्य हैं। जब इस प्रकार की धारणा जम जाती है तो उसे अपदस्थ करना बड़ा कठिन होता है। आज हमारा ग्रेजुएट नौकरी करेगा या शिक्षक बनेगा या वकील। उसे व्यवसाय में दिल-चस्पी नहीं। छोटा-मोटा काम उसे पसंद नहीं। बाप-दादा की कमाई पर पले होने के कारण उसमें किसी नई स्कीम शुरू करने का साहस नहीं। मौलि-कता का अभाव है। फिर वह किस मर्ज की दवा है। असल में समस्या गलत आदर्शों की है। कार्य न कोई अच्छा है, न कोई बुरा। अच्छाई-बुराई काम में नहीं, काम करने के ढंग में है। परन्तु हमारे मन में जो भूमि तैयार हुई है उसमें यह सीधी बात नहीं जमती। यहाँ तो भेड़िया-धसान है। आप नौकरी क्यों चाहते हैं? उत्तर होगा, सभी तो चाहते हैं। ब्राह्मण ग्रेजुएट से कहिये—वाशिंग कम्पनी खोलो। उत्तर होगा राम, राम; दुनिया क्या कहेगी? इस प्रकार के भ्रामक आदर्शों ने शिक्षितों को इस प्रकार पकड़ लिया है कि वह जो कुछ कर सकते हैं वह भी नहीं कर सकते। आत्म-विश्वास नहीं, स्फूर्ति नहीं, मौलिकता नहीं और उधर आदर्श······। काम कैसे चले?

इसी प्रकार का एक दूसरा भ्रम-पूर्ण आदर्श हमारे गृहस्थ के सामने है। जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। प्रत्येक वर्ष १० लाख मनुष्य बढ़ते हैं। इस प्रकार प्रत्येक दस वर्ष बाद १ करोड़ मनुष्यों के लिए हमें और व्यवस्था करनी होगी। सन्तान-निग्रह अप्राकृतिक है। यह तो पाप है। भला हम यह कैसे करें? माना कि, विज्ञान ने सन्तान-निग्रह के साधन सुलभ कर दिये हैं पर ······। यह है मनोवृत्ति। बच्चे होते हैं तो ईश्वर की देन हैं। ५०) रु० पाते हैं। क्लर्क हैं। बच्चे ७-८ हैं। इनमें ४ लड़कियाँ। समाज

का व्यवहार है। उनकी शादी के लिए धन चाहिए। इतनी गठरी कहाँ से आए। पुत्रों को पढ़ाएँ-लिखाएँ कैसे? इतनी थोड़ी आय में अच्छी शिक्षा की व्यवस्था कैसे हो? ये सब बालक बड़े होकर किस काम के होंगे? माँ-बाप ने उन्हें पेट काट कर जिला भी लिया तो क्या वह अपने पैरों पर खड़े होने का बल पाएँगे।

निम्न-वर्ग में समस्या उतनी अधिक नहीं है। जो है, वह भी इसलिये कि कार्य-विभाजन ठीक-ठीक नहीं हुआ है और काम के घन्टे लम्बे हैं। मशीनों और कलों के आने से पूँजीपति समाज का निर्माण हो रहा है। वह समाज जनता के शोषण से बल लेकर खड़ा हुआ। उसे नष्ट करने पर ही सबके लिए काम और रोटी की व्यवस्था की जा सकती है। महात्मा गांधी मशीनों को इस रोग का मूल मानते हैं। वह कहते हैं कि मशीन ने मनुष्य के परिश्रम को स्थान-च्युत कर दिया है। जैसे-जैसे कलों का विकास होता जाता है वैसे-वैसे अधिक अच्छी कलों के साथ कम-कम मजदूर चाहिए। इस प्रकार बेकारी बढ़ती है। महात्माजी का कहना है कि हमें करघों और घरेलू उद्योग-धन्धों को अपनाना चाहिये। यह एक सुलझाव अवश्य हो सकता है, परन्तु समस्या इतनी सरल नहीं है जितनी गांधीजी समझते हैं। जब तक बाज़ार में मशीन का बना, कहीं सुन्दर माल रहता है, तब तक ग़रीब जनता उसे खरीदेगी। जब तक संसार के अनेक देश उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में कार्य का विभाजन नहीं कर लेते तब तक समस्या का सुलझना कठिन है।

फिर मशीन ऐसी बुरी चीज़ भी नहीं। एक बात तो यह है कि हम वैज्ञानिक उन्नति को अस्वीकार नहीं कर सकते। हमें आदिम पूर्वजों की ओर लौटना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। परन्तु कल-पुरज़ों का अर्थ यह नहीं है कि उत्पत्ति को नियमित न किया जाए। उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण हो जाने पर ही बेकारी की समस्या का हल सम्भव है।

भारत और लोकतंत्र शासन

१—भूमिका—यूरोप में लोकतंत्र शासन का आरम्भ। बेन्थम और उसका मत। २—क्या यूरोप का लोकतंत्र सच्चा लोकतंत्र है? ३—लास्की के विचार। लोकतंत्र में जनता की अशिक्षितता के कारण पैदा हुई कठिनाइयाँ। ४—'बहुमत के शासन' का क्या अर्थ है? पार्लियामेन्ट्री लोकतंत्र। ५—हमारी समस्या।

यूरोप की बात है। पंद्रहवीं शताब्दी थी। कुस्तुन्तुनिया से भागे यूनानियों की संस्कृति इटली के फ्लोरेन्स नगर में पहुँची। प्लेटो, सुकरात और अरस्तू के सिद्धांत यूरोप में गूँजने लगे। कुछ समय बाद यूनानियों और रोमनों से यूरोप ने प्रजासत्तावाद या लोकतंत्र शासन के सिद्धांत सीखे। फ्रांस की राज्यक्रांति ने इन सिद्धांतों को मूर्त रूप दे दिया। उसका पैगम्बर बेन्थम (Benthem) था जिसका सिद्धांत "the greatest good of the greatest number" 'बहुसंख्यक जनता को अत्यधिक सुख पहुँच सके, ऐसा शासन हो।'

परन्तु क्या सचमुच प्रजातंत्र की स्थापना हो सकी? प्रजातंत्र की परिभाषा में प्रजा किसे माना जाय? बहुमत की आवाज़ किसके द्वारा पहुँचे, कौन उसका प्रतिनिधित्व करे? यह समस्याएँ हैं जिनपर इतिहास थोड़ा-बहुत प्रकाश डालता है। १६१४ के महायुद्ध के बाद प्रजातंत्र के प्रति जो प्रतिक्रिया हुई, उसे देखते हुए प्रजातंत्र की सफलता के विषय में आशंका होती है। स्वयम् रूसो ने कहा है, "सच्चा प्रजातंत्र कभी रहा ही नहीं, क्योंकि यह प्रकृति के विरुद्ध है कि जनता की बहुसंख्या अल्पसंख्या पर शासन करे।" सच तो यह है कि यूरोपीय प्रजातंत्रों में जनता की ओर से जो व्यक्ति चुने गए उन्होंने शीघ्र ही अपने-अपने वर्ग बना लिये। एक शासक-वर्ग बन गया। उसने ही अपने को पूँजीपतियों के हाथ में बेच दिया। पश्चिम के प्रजातंत्रों की शक्ति उच्च वर्ग के हाथ में है। पूँजी भी इसके हाथ में है। अतः राजनैतिक शक्ति प्राप्त होने पर वह उसे अपनी पूँजी बढ़ाने में लगाता। यहीं से पूँजीवाद, औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा, अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध, शोषण और बेकारी

का इतिहास शुरू होता है। प्रजासत्तावाद के पुनीत नाम पर शासन का सूत्र अपने हाथ में लेकर ये पूँजीपति सारे संसार को अपने इशारे पर नचा रहे हैं। इसीलिए प्रत्येक देश के मज़दूरों, किसानों और नीची श्रेणियों में उनके प्रति असंतोष है।

जब पश्चिम में यह दशा है तो भारत में प्रजातंत्रवाद का क्या रूप बताया जाय? क्या भारत में लोकतन्त्र सफल हो सकता है? प्रोफेसर हेरल्ड जे० लास्की का विचार है कि यदि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रजातंत्र के सिद्धांतों को लागू किया जा सके तो बहुत बड़ी कठिनाइयाँ दूर हो जायँ। राजशक्ति जनता में हो—यह अच्छा सिद्धांत है, परन्तु यह क्यों न कहा जाये—'राज्य के जायदाद, व्यवसाय और उपज भी जनता के हाथ में हों?'

लोकतंत्र शासन का अर्थ यह है कि राज्य के वह सब स्त्री-पुरुष जिनकी आयु १८ वर्ष की हो चुकी हो उसके शासन में भाग लें। अपने मत से उसके महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय करें। वह जनता का शासन हो, जनता के लिए हो और जनता द्वारा हो।

यों बात देखने में सीधी जान पड़ती है, परन्तु है कठिन। ऊपर की जो परिभाषा है उसके अनुसार प्रत्येक स्त्री-पुरुष को राज्य के काम में दिलचस्पी होनी चाहिये; यही नहीं, उसका मानसिक विकास भी इस हद तक हो चुका हो कि वह उसमें भाग ले सके। हमारे देश में यह बात असम्भव है। जनता शिक्षित नहीं है। राजनैतिक कार्यों से उसे प्रेम भी नहीं है। उसका दृष्टिकोण इतना सीमित है कि वह अपने कुटुम्ब से बाहर कुछ सोच ही नहीं सकती। किसान को लीजिए। वह यह नहीं जानता कि लगान किस लिए देता है। देता ज़रूर है क्योंकि यह एक रूढ़ि-सी चली आती है। प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मत का महत्त्व समझे और समझदारी से उसे काम में ला सके। क्या यह हमारे यहाँ संभव है?

दूसरे, 'बहुमत का शासन' एकदम यह निश्चय नहीं कर देता कि वह न्याय युक्त भी है। किसी एक मत पर वोट लिए गए। यदि ९० या ९५ मत एक ओर हैं तो ठीक (यद्यपि बहुमत भी खरीदा-बेचा जा सकता है।) परन्तु इसका क्या निश्चय जब एक ओर ४९ मत हों, एक ओर ५१।

दो-चार मत अधिक पा जाने से ही झूठ की जय नहीं होती है। फिर निर्वाचित सज्जनों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे सदा उन सज्जनों के हित का ध्यान रक्खें जिन्होंने उन्हें निर्वाचित किया है।

संसार में प्रजातंत्र पार्टी द्वारा चलाया जा रहा है। इसे पार्लियामेन्ट्री ढंग कह सकते हैं। भारत का संबंध एक ऐसी सत्ता से ही है जिसमें पार्लियामेन्ट शासन करती है, इसीसे हमारी प्रजातंत्र की कल्पना भी विदेशी राह पर चलती है। परन्तु पार्टियाँ सदैव ही सिद्धान्तों पर अटल रहें, यह आवश्यक नहीं। बहुधा तो बहुत से व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए गिरोह बना लेते हैं। जब वे राज्य की सेवा करने का दावा करते हैं, तब वे कुछ ही वर्गों के आर्थिक हितों की रक्षा करते होते हैं। बर्नार्ड शा-प्रभृति सज्जनों ने पार्टीबंदी की निन्दा की है। क्या हमारा देश यूरोप से उधार लिए हुए ढंग पर चले जब स्वयं यूरोप के विचारक उसे सफल नहीं समझते?

प्रजातंत्र के सिद्धान्तों की ऊँची-ऊँची बातें सुनी रोज़ जाती हैं, परन्तु व्यवहार में उनका पता नहीं। जनमत का बनाना-बिगाड़ना कठिन नहीं है। बहुधा कुछ पार्टियाँ या मंत्री-गण बहु-मत का शासन करते हैं; एक बार शक्ति पाकर वह जनमत के अनुसार काम करने की अपेक्षा उसे अपने स्वार्थसिद्धि के लिए कलुषित कर देते हैं। तब यह एक प्रकार की तानाशाही ही हो जाती है, फिर यह चाहे एक व्यक्ति की न होकर एक पार्टी की हो।

यदि भारत में हमें प्रजातंत्र को सफल बनाना है तो हमें विदेशों की नक़ल न करके कोई ऐसा ढंग ढूँढ़ना पड़ेगा जिसमें नागरिक प्रत्येक महत्त्व-पूर्ण विषय पर मत दे सके। अपनी शक्ति एक किसी व्यक्ति को देकर जनता निश्चिंत हो जाती है और फिर शक्ति उससे लौट नहीं सकती। इसलिये हमें यह देखना होगा कि कम से कम असुविधा के साथ हम निश्चय रूप से कितनी बड़ी जनता को राजनैतिक शिक्षा दे सकते हैं। कोई भी महत्त्व की बात हो, जनता के सामने आये। इस प्रकार ही वह राजनैतिक शिक्षा प्राप्त करेगी।

भारतीय संस्कृति और साम्यवाद

१—भूमिका। २—वाइन्डहम अल्बरी की परिभाषा। ३—समाजवाद के दो रूप—नैतिक और व्यवहारिक। ४—हमारे देश की परिस्थिति। ५—हमारी संस्कृति के मूल आधार। ६—भारतीय संस्कृति और साम्यवाद के सम्बन्ध में श्री सम्पूर्णानन्द का कथन।

वर्त्तमान सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ कुछ इस प्रकार से गढ़ी हुई हैं कि उनसे सब मनुष्यों को एक सा लाभ नहीं होता। एक ओर जनता का एक बड़ा भाग निर्धनता और उससे उत्पन्न होने वाले रोग-शोक से पीड़ित है तो दूसरी ओर कुछ इने-गिने व्यक्तियों पर धन की वर्षा हो रही है। परिस्थिति इतनी विषम है कि आश्चर्य होता है। इससे लोगों का ध्यान इस ओर गया है कि वर्त्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक संगठन की प्रणाली में एक उच्च श्रेणी के परिवर्त्तन की आवश्यकता है जिससे वह वैषम्य दूर हो और समाज में धन का विभाजन एक उच्च कोटि से नैतिक आदर्शों को सामने रख कर हो। फलतः समाजवाद के सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

समाजवाद का जन्म पूँजीवाद के विरोध में हुआ, परन्तु सच तो यह है कि उसका एक अपना स्वरूप भी है। वह समाज को व्यक्ति से अधिक महत्व देता है। उसका कहना है कि उन्नति के अवसरों में समानता होनी चाहिये और उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण करके धनी वर्ग की स्पर्धा और ऐश्वर्य का अंत कर देना चाहिये। समाजवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति व्यक्ति द्वारा शोषित न रहे।

वाइंडहम अल्बरी लिखते हैं कि समाजवाद शब्द लैटिन के 'शोशस' (Socius) शब्द से निकला है जिसके अर्थ हैं साथी, सहायक। यह किसी ऐसे व्यक्ति को सूचित करता है जो समान कोटि अथवा अवस्थता का हो। अतएव, समाजवाद के अर्थ हैं भ्रातृ-भाव अथवा मित्रता जिसमें सब मनुष्य साथ-साथ मिल-जुल कर काम कर सकेंगे; जिसमें सब मनुष्य समान माने जायेंगे। राज्य के शासन के सम्बन्ध में यह प्रकट करता है कि प्रत्येक कार्य साधारण जनता की सेवा के लिए किया जायगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद एक नैतिक आदर्श और एक विशेष प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में भी हमारे सामने आता है। परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वह अर्थ के समान रूप से वितरण करने की एक प्रणाली का नाम है।

नैतिक आदर्श के रूप में समाजवाद एक पुरानी चीज़ है। प्लेटो के समय से आज तक जितने भी विचारक हो गए हैं उन्होंने सामाजिक विषमता को दूर करने का स्वप्न देखा है। उनके उपचार अलग-अलग और अधिकांश में नैतिक थे। 'प्रत्येक सम्पन्न पुरुष को अपने निर्धन भाई के ऊपर दया करनी चाहिये।' उन्होंने एक प्रकार से मनुष्य की पैदा की हुई विषमता को प्राकृतिक माना और जहाँ एक ओर एक वर्ग को भ्रातृभाव, दया, करुणा और मैत्री का मंत्र दिया तो दूसरी ओर शोषित वर्ग को संतोष और सहन-शीलता का। विषमता की जड़ अर्थ के विभाजन के ग़लत ढङ्ग में है—यह उन्होंने नहीं सोचा। तब तक अर्थशास्त्र का जन्म ही नहीं हुआ था।

वर्त्तमान रूप में समाजवाद का जन्म ओविन और फोरियर की संस्थाओं में हुआ। लुई ब्लांक और लासेली ने इसकी प्रगति में सहायता दी। परन्तु समाजवाद की वैज्ञानिक व्यवस्था कार्लमार्क्स ने की। उन्होंने विश्व के इतिहास को खोल कर दिखाया कि संसार का इतिहास श्रेणीयुद्ध का इतिहास है—पूँजीपति मज़दूरों से उससे कहीं अधिक परिश्रम लेते हैं जितना परिश्रम वह वेतन के रूप में उन्हें लौटालते हैं।

अब हमें भारत की ओर दृष्टि करके यह देखना है कि समाजवाद और हमारी संस्कृति में कोई मौलिक वैषम्य तो नहीं है? हमें यह भी देखना है कि समाजवाद का सिद्धांत हमारे देश की परिस्थिति पर कहाँ तक लागू हो सकता है।

हमारे देश में पूँजीपति-प्रणाली अभी पूरे रूप से विकसित नहीं हुई है। एक ओर ज़मींदार हैं; सामंतशाही चल रही है। दूसरी ओर नये, हाल ही के विकसित, मिल-मालिकों और मिल-मज़दूरों के विरोधी अखाड़े हैं जिनके स्वार्थ विरोधी हैं। दोनों प्रणालियाँ किसान और मज़दूर के शोषण पर आश्रित हैं और यह सब समझते हैं कि इस विषम परिस्थिति का अंत

जाना चाहिये। यदि भारत में दरिद्रता है और वह भारतीयों की अकर्मण्यता का परिणाम नहीं, तो वह अवश्य शोषण के कारण है और उसके अंत करने के लिये हमें समाजवाद की आवश्यकता होगी।

मूल रूप से हमारी संस्कृति और समाजवाद के सिद्धान्तों का कोई विशेष विरोध नहीं है। भारतवर्ष में व्यक्ति की कभी भी प्रधानता नहीं रही है; उसे जन्म से ही समाज का एक अंग बन कर चलना पड़ता है। समाजवाद भी यही कहता है। परन्तु, यहाँ एक बात समझ लेना है। हमारी संस्कृति दार्शनिक दृष्टिकोण से समानता और भ्रातृ-भाव को स्वीकार करती हुई भी वर्गों को आश्रय देती रही है। अपने विकास में उसने ऊँच-नीच की भावना को जन्म दिया है। फिर भी दया, उदारता आदि भावनाओं के प्रचार के कारण हमारे देश में वर्गों का संघर्ष कभी भी महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ। यह वर्ग संघर्ष जो हमें आज के युग में मिल रहा है, पश्चिम की देन है। यह एक रोग है, जिसे हमने विदेश से मोल लिया है। हमें इसकी औषधि भी वहीं से लेनी होगी। समाजवाद का जन्म यूरोप में अवश्य हुआ परन्तु वह हमारे देश की परिस्थिति के अनुकूल है।

क्या हम उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेंगे जिस रूप में वह यूरोप में चल रहा है? क्या हम वर्ग-संघर्ष पर इतना अधिक बल देंगे कि हम अपने देश की अहिंसात्मक प्रेरणा को भुला कर रक्तपात के बीज बोवें? समाजवाद का जो रूप मार्क्स को ग्राह्य था, उसके अनेक रूप अनेक देशों में आज मिलते हैं। राष्ट्रीय समाजवाद, सिंडीकैलिज्म, गिल्ड-समाजवाद, समष्टिवाद, अराजकतावाद, फेबियन समाजवाद ऐसे अनेक रूप हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न देशों में समाजवाद का रूप बदल गया है। यह ठीक भी है। अपने सहस्रों वर्षों के संचित संस्कारों को छोड़ कर कोई देश या जाति नहीं चल सकती। उसे नए विचारों को पुरानी पृष्ठ-भूमि में रख कर देखना होता है। इसीलिए श्री सम्पूर्णानन्द ने लिखा है—"भारतीय साम्यवाद का भी विशेष रूप होगा सम्पत्ति के विभाजन और राष्ट्रीयकरण में तो वह दृढ़ रहेगा क्योंकि यही उसका अपनापन है। इस मार्ग से डिगना उसके लिए पतन और आत्मसंहार होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें

परिवर्तन अवश्य होंगे। उस पर गांधीवाद और भारतीय संस्कृति का, जो गांधीवाद की जननी है, प्रभाव पड़ेगा। वह अधिक आध्यात्मिक हो जायगा। सम्भवतः अहिंसा को अपना लेगा। यह पराजित गांधीवाद की महान् विजय होगा। यहीं तक दोनों वादों का समन्वय भी सम्भव है। इसके आगे बढ़ने से एक का अस्तित्व दूसरे में लोप हो जायगा।'

वर्णाश्रम-व्यवस्था

१—भूमिका। २—कार्य-विभाजन की दृष्टि से वर्णाश्रम व्यवस्था का महत्व—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र। ३—कर्म के सिद्धांत पर आश्रित वर्णव्यवस्था का रूप धीरे-धीरे पैत्रिक हो गया। ४—क्या वर्णव्यवस्था में कोई मौलिक या तात्विक दोष है? ५—स्पर्धा का अभाव?

हिन्दू-जीवन में व्यक्ति को इतना महत्व कभी भी नहीं दिया गया, जितना समाज को। पश्चिम में व्यक्ति ही सब कुछ है। इसी से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आवाज़ उसी ओर से पहली बार उठी थी। हिन्दू-धर्म की विशेषता ही यह है कि वह समाज या समूह की भावना को प्रश्रय देता हुआ चलता है। पूर्व और पश्चिम के इस दृष्टिकोण को भली प्रकार हृदयङ्गम न कर सकने के कारण हम भ्रम में पड़ जाते हैं और वर्णव्यवस्था को ही सारे वर्त्तमान दोषों की जड़ मान कर बड़ी भारी भूल करते हैं।

हिन्दू धर्म व्यवस्थापकों ने मनुष्य के कर्म-क्षेत्र को चार बड़े भागों में विभाजित कर दिया। उन्होंने इस प्रकार की व्यवस्था की कि समाज में कार्य विभाजन हो जाए, इस क्षेत्र में अराजकता न हो। ब्राह्मण विद्याध्ययन करे, चिंतन करे, अध्यापन करे। वह समाज का मस्तिष्क हो। क्षत्री शासन करे; युद्ध के समय समाज के अन्य वर्गों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले। वह समाज की भुजा हो। वैश्य उपज करे, उसका क्रय-विक्रय करे और अन्य वर्गों को भौतिक सुविधा पहुँचाए। वह समाज का हृदय हो जिससे प्रत्येक वर्ग रक्त प्राप्त करे। शूद्र इन तीनों वर्गों की सहायता करे। उन्हें अपने

कार्य द्वारा सुविधाएँ पहुँचाए। इस प्रकार एक नियमित जीवन का आयोजन हुआ। यह सामाजिक व्यवस्था की एक बड़ी ऊँची कल्पना थी।

प्रत्येक उन्नत समाज में कार्य का विभाजन अत्यन्त आवश्यक है। इससे समाज की शक्ति का ह्रास होने की आशंका नहीं रहती और प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञ मिलने लगते हैं। आज भी पश्चिम के देशों में यह कार्य-विभाजन है। सभी मनुष्य सभी काम नहीं करते। अब यातायात के साधन अधिक सुलभ हो जाने के कारण इस प्रकार के कार्य-विभाजन की बड़े क्षेत्र में संस्थापना होने की आवश्यकता दिखाई देती है।

फिर हम आज वर्ण-व्यवस्था (जात-पात) का विरोध क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर समझाने के लिए पहले हमें आज की वर्ण-व्यवस्था को भी समझ लेना है। वर्ण-व्यवस्था कर्म के सिद्धांत के ऊपर आश्रित हुई होगी परन्तु धीरे-धीरे उसका रूप पैत्रिक हो गया। क्षत्री का निकम्मा बेटा भी क्षत्री हो। ब्राह्मण का निरक्षर भट्टाचार्य पुत्र भी ब्राह्मण माना जाय। इस प्रकार की भावना जब एक बार चल पड़ती है तो वह कहाँ जाकर रुके, इसका कोई निश्चय नहीं। यह बात समझ में आ सकती है कि विशेष-विशेष व्यवसाय के करने वालों के वर्ग हो जायँ परन्तु वे पैतृक संबंध पर ही क्यों आश्रित हों, शिक्षा-दीक्षा पर क्यों नहीं? फिर उनमें ऊँच-नीच की भावना क्यों आए। एक बात और हुई। अनेक छोटे-मोटे व्यवसायों के वर्ग बन गए। वे भी वर्ण का रूप लेने लगे। वर्षों तक ये वर्ण अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ बनाते गए और आज इतनी जाति-उपजातियाँ इसी सूक्ष्म भेद-विभेद का फल हैं। प्रत्येक जाति और उपजाति ने आचार-व्यवहार संबंधी अपने अलग नियम बना लिये। इस प्रकार जो व्यवस्था समाज के लाभ के लिए प्रारम्भ हुई थी वही उसके गले पड़ने लगी।

प्रश्न यह है कि वर्णव्यवस्था में कोई मौलिक या तात्त्विक दोष है? क्या यह सम्भव नहीं है कि जिन किन्हीं कारणों से राष्ट्र की और अनेक संस्थाएँ कालान्तर में दूषित हो गई थीं उन्हीं कारणों के इस संस्था का रूप भी शुद्ध और हितकर नहीं रह सका।

वर्ण-व्यवस्था का एक दोष बतलाया जाता है कि इसमें स्पर्श को स्थान

नहीं मिला। इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु इस बात को अस्वीकार करते हैं कि प्रतिस्पर्धा के बिना विकास ही असम्भव है। प्रतिस्पर्धा के स्थान में वर्ण-व्यवस्था में एक उतनी ही शक्तिशाली वस्तु है। वह है पैतृक या वर्गीय अनुभव। एक पीढ़ी अपने अनुभव को दूसरी पीढ़ी को देती हुई चलती है। इससे विकास के सिवा और क्या होता है? स्पर्धा समाज के लिए अनावश्यक उत्तेजना और शक्ति के ह्रास का कारण भी बन सकती है। दूसरा दोष यह कहा जाता है कि पैतृक सिद्धान्त के कारण जाति-विशेष के बाहर के प्रतिभा-वान मनुष्यों को कर्म विशेष में भाग लेने का मौक़ा नहीं मिलता और इससे नवीन उद्भावनाएँ नहीं हो पातीं। यह बात भी एक अंश में ही सत्य है क्योंकि एक तो प्रतिभावान पुरुष विरले ही होते हैं और वे किसी तरह अपना मार्ग बना भी लेते हैं; दूसरे, साधारण जन-समाज साधारण प्रतिभा लेकर ही जन्म लेता है। समाज को संगठित करते समय अपवादों को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। लगभग ६६ प्रतिशत जनता में मौलिक उद्भावना नहीं होती। उसके लिये यही अच्छा है कि वह पैतृक कर्म करे अन्यथा उसे अपने लिए व्यवसाय चुनने की बात सोचनी होगी और संभव है कि अन्य व्यवसायों में वह उतनी भी सफल न हो जितनी पैतृक व्यवसाय में।

परन्तु यहाँ हमें एक बात पर ज़ोर देना है। वर्णाश्रम की संस्था कभी भी इतनी कठोर और संकीर्ण नहीं रही है जितनी हम समझते हैं। विश्वामित्र क्षत्री थे, परन्तु तप द्वारा वह ऋषि बन गए थे। द्रोणाचार्य ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्री वृत्ति को अपनाये थे। इसी प्रकार हमें शूद्र और वैश्य ऋषि भी मिलते हैं। उपनिषदों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण-व्यवस्था इतनी उदार थी कि उसमें प्रतिभावान बाहरी व्यक्तियों को सम्मान-पूर्वक अपना लिया जाता था। बात यह है कि संस्था ईश्वरीय वस्तु नहीं, मनुष्य उसे बनाता है। मनुष्य अपूर्ण है। उसकी संस्थायें भी अपूर्ण हैं। उनमें दोष हो सकते हैं। परन्तु उनका परिहार भी संभव है।

वर्ण-व्यवस्था के आलोचक यह भी कह सकते हैं कि पैतृक होने के कारण कर्म-विशेष का परिचालन यंत्रवत् हो जाता है। इससे व्यक्तियों का

मानसिक और आत्मिक ह्रास संभव है। परन्तु फिर भी किसी प्रकार का संगठन तो चाहिये ही। संभावनायें दोनों ओर हैं। मानसिक और आत्मिक ह्रास भी संभव है और मानसिक और आत्मिक उन्नति भी। यदि जाति सब तरह से पुष्ट है, जीवित है, तो फिर वर्ण-व्यवस्था से अवनति का भय नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक युग के साथ परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, इसलिए प्रत्येक नई पीढ़ी काम को एक नये रूप में अपनाती है और आगे बढ़ाती है। इस प्रकार यह आशंका तो नहीं रहती कि कोई विशेष आविष्कार लुप्त हो जायगा क्योंकि आगे वाली पीढ़ी उसे सुरक्षित रक्खेगी।

नागरिकता के अधिकार

१—भूमिका। २—नागरिकों के अधिकार। ३—राज्य और प्रजा के सम्बन्ध। ४—पारिवारिक स्वतंत्रता। ५—सामान्य अधिकार। ६—आज की परिस्थिति।

आज प्रजातंत्रता का बोलबाला है, इसलिए चारों ओर से नागरिकों के अधिकार की बात कान में आ रही है। नागरिकों से प्रजा का ही अर्थ है। प्राचीन समय में, जब राजतंत्र थे, प्रजा को थोड़ा बहुत अधिकार प्राप्त होता ही था। राज उसकी रक्षा करे, उसके भरण-पोषण का प्रयत्न करे, उसे विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता हो, वह स्वतंत्ररूप से अपने धर्म-कर्म का अनुसरण कर सकती हो, यही सब बातें प्रजा अथवा नागरिक के अधिकारों में आती हैं। तुलसी ने रामराज का वर्णन करते हुए प्रजा की अवस्था का भी वर्णन किया है—

> बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
> चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥
> रामराज नभगेस सुनु, सचराचर जग माँहि।
> काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं॥

इस वर्णन से भी राज्य और प्रजा के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है।

राज्य की भित्ति उसकी प्रजा है। यदि प्रत्येक नागरिक सुखी, समृद्ध और स्वतन्त्र होगा, तो राष्ट्र भी सुखी, समृद्ध और स्वतंत्र होगा। व्यक्ति और समाज का अनन्याश्रित सम्बन्ध है, अतः जहाँ राज को उन्नत होना होता है, वहाँ पहले नागरिकों के अधिकारों को स्वीकार कर लिया जाता है।

नागरिकों के अधिकार क्या हैं? पहला अधिकार यह है कि उन्हें शिक्षा-प्राप्ति की सब प्रकार की सुविधाएँ हों। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक बालक-बालिका को अनिवार्य-रूप से शिक्षित बनाए जिससे वह बड़ा होकर राज्य की समस्याओं पर विचार कर सके और उसके सञ्चालन में अपनी मन-बुद्धि का पूर्ण योग दे सके। हमारे देश में अभी ऐसी अवस्था उत्पन्न नहीं हुई है। निरक्षर जनता, धार्मिक और सामाजिक अंध-विश्वासों में फँसी हुई है। करोड़ों लोग अँगूठा लगा कर राजकाज चलाते हैं। प्रौढ़-शिक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। अनिवार्य-शिक्षा केवल प्रारम्भिक-शिक्षा की गई है। चाहिए यह कि प्रारम्भिक ही क्या, उच्च शिक्षा भी अनिवार्य हो, परन्तु ऐसा होना अभी सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता।

शिक्षा के बाद आर्थिक सुविधा की समस्या आती है। सरकार का कर्त्तव्य है कि जनता को काम दे जिससे वह धन को प्राप्ति कर सके और उसके विनिमय के द्वारा पेट भरने को अन्न और तन ढकने को कपड़ा-लत्ता पा सके। योग्य व्यक्ति ही नहीं, सभी नागरिकों को उनकी शक्ति और रुचि के अनुसार काम मिलना चाहिए। आज प्रजातन्त्र का दम भरने वाले कितने देशों में यह बात सम्भव है? बेकारी का भयानक समस्या किस देश में नहीं है? जहाँ लोगों को अन्न-वस्त्र के दर्शन प्राप्त नहीं होंगे, वहाँ चोरी, डकैती, झूठ-पाप का प्रसार होगा। आखिर नागरिक को जीवित तो रहना ही होगा।

राज्य को चाहिये कि वह जनता के प्राणों की रक्षा करे; उसे शान्ति और सुख दे। अनावश्यक उत्तेजना मिलने पर भी वह जनता को शांत रख सके। राज्य भर में कोई किसी को सताये नहीं। उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह जनता द्वारा अर्जित की हुई संपत्ति की रक्षा करे। कोई किसी के धन का अपहरण न करे। प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि वह राज्य से

यह दावा करे कि उसका शरीर सुरक्षित रहेगा और वह अपने श्रम द्वारा इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का पूरा-पूरा उपयोग कर सकेगा।

जहाँ जनता के दो व्यक्तियों या दो वर्गों में व्यक्तिगत अधिकारों, सम्पत्ति और इसी प्रकार की बातों में मतभेद हो, वहाँ राज्य के न्यायालय निष्पक्षता से उनकी समस्याओं पर विचार करें और उचित न्याय करें। इस न्याय के लिए जनता को धन और समय अधिक व्यय न करना पड़े। न्याय की दृष्टि से धनी-निर्धनी सब समान हों। उसे किसी से न लेना हो, न देना हो। जहाँ राज्य और जनता के बीच में कोई प्रश्न उठ खड़ा हो, वहाँ न्यायालय ही व्यवस्था दें। संक्षेप में, न्यायालय राज्य के ऊपर हो, उस पर पक्षपात का कलंक न लग सके। उसका काम यह है कि वह देखे कि न सरकार स्वयं कोई अन्याय करती है न किसी को किसी पर अन्याय करने देती है।

किंतु नागरिकों के अधिकार यहीं समाप्त नहीं हो जाते। प्रत्येक नागरिक को विचार और भाषा की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। जहाँ जनता राज्य की निष्पक्ष समालोचना करना चाहती हो, वहाँ उसे ऐसा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिले। जहाँ विचार और भाषण की स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ अनेक गुप्त मतवाद उत्पन्न हो जाते हैं और वह धरती के नीचे छिपे रह कर अपना चक्र चलाते रहते हैं। वह स्वयं राज्य के लिए भयानक बात है। परंतु विचार, भाषण और कार्य की स्वाधीनता का अर्थ उच्छृङ्खलता नहीं है। यदि एक मनुष्य अपने को दूसरे मनुष्य को गालियाँ देने के लिए स्वतन्त्र समझेगा, तो वह मनुष्य भी स्वतन्त्र होगा कि उसकी गालियों का उत्तर गालियों से दे। वास्तव में जहाँ समाज है, जहाँ मनुष्यों की बहुसंख्या साथ रहती है, वहाँ *प्रत्येक की स्वतन्त्रता एक सीमा तक नियमित रहती है।* परंतु राज्य का कर्त्तव्य है कि वह स्वतन्त्रता का कम से कम अपहरण करे। उसे प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करनी है, अतः वह किसी हद तक दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण तो करेगा ही, परंतु वह एक निश्चित सीमा से बाहर नहीं जायगा।

नागरिक को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि चाहे वह जिस किसी भी

देवता को पूजे, जिस किसी भी धर्म को माने—उसे इस विषय में कोई रोक-टोक नहीं होगी। वह चाहे जो धार्मिक उत्सव मनाये, जिस प्रकार के व्रत रक्खे। परन्तु जब ये धार्मिक कृत्य समाज के बहुत से व्यक्तियों को लेकर चलें और समारोहों का रूप धारण कर लें तो नगर की शान्ति और व्यवस्था की रक्षा करने के लिए राज्य उनका थोड़ा-बहुत नियंत्रण अवश्य करेगा। प्रत्येक नागरिक को अन्य नागरिक के धर्म के प्रति सहिष्णु होना होगा। जहाँ किसी प्रकार का धर्म-विग्रह उत्पन्न हो जायगा, वहाँ समाज को निश्चय रूप से हानि पहुँचने का डर होगा। वहाँ राज्य हस्तक्षेप करेगा।

इसके अतिरिक्त पारिवारिक स्वतन्त्रता है। घरेलू मामलों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है, वह अपने धर्म के अनुसार जिसे भी पति अथवा पत्नी बनाए, घर में मनोरंजन के चाहे जो साधन इकट्ठा करे तथा घर का शासन जैसा उचित समझे चलावे। राज्य को पारिवारिक झंटा-टंटों से कोई मतलब नहीं। हाँ, दाय-सम्पत्ति के बँटवारे का संबंध सीधा राज्य से है, क्योंकि सारी सम्पत्ति मूल-रूप से राष्ट्र की है।

यह सामान्य अधिकार हुए, जिनका शासन से कोई संबंध नहीं है। नागरिक को शासन में राजनैतिक अधिकार भी प्राप्त हों। जनता ही नगर और ज़िले का इन्तज़ाम करे। वह म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, छोटी-बड़ी कौंसिल सबके चुनाव में अपना मत दे सके और स्वयम् भी चुनाव में खड़ी हो सके। प्रजा और राज्य का बहुत निकट का संबंध है, विशेषकर प्रजातंत्र राज में। इसलिए यह उचित ही है कि जिस व्यक्ति के हाथ में शासन की बागडोर हो, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को उसे चुनने का अधिकार प्राप्त हो। यदि वह दूसरों को शासक बनाने और स्वयम् शासित होने का अधिकारी है तो स्वयं उसे भी शासक बनने का अवसर मिले।

जब हम संसार के विभिन्न राष्ट्रों और स्वयम् स्वदेश की ओर आँख उठा कर देखते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो सभी नागरिकों को सामान्य अधिकार प्राप्त है, न राजनैतिक अधिकार। आज शासन-सत्ता प्रत्येक स्थान पर निरंकुश हो रही है। उन देशों की बात छोड़िए जहाँ डिक्टेटर

लोग राज कर रहे हैं और तानाशाही चल रही है। स्वयं उन देशों में जो प्रजातंत्र कह कर पुकारे जाते हैं, शक्ति और अधिकार केवल मुट्ठी भर लोगों की सम्पत्ति बने हुए हैं। साधारण जनता अशिक्षा, बेकारी और अपहरण-भय का शिकार है।

गांधीवाद

१—भूमिका। २—गांधीजी और गांधीवाद। ३—अंग्रेजों का प्रभाव। ४—गांधीजी के राजनीतिक और नैतिक सिद्धान्त। ५—आत्म-शुद्धि और आत्मोन्नति पर बल। ६—पहले के नेताओं के विचार और नई विचारधारा के उन्नायक गांधीजी। ७—गांधीजी के साधन—सत्य और अहिंसा। ८—द्विविध कार्यक्रम।

“गांधीवाद” नाम से आज अनेक पुस्तकें प्रकाशित होकर हमारे सामने आ रही हैं। गांधीजी चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं— “भाई, मैं किसी वाद-वाद के चक्कर में नहीं पड़ता। गांधीवाद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। मेरे लिए तो सत्य और अहिंसा यही दो सच्चे तत्त्व हैं। यह गांधीवाद क्या चिल्ला रहे हो।” परन्तु गांधीजी के प्रतिवाद पर ध्यान न रख कर उनकी विचारधारा को एक संकुचित रूप-नाम देकर उपस्थित किया जा रहा है। आचार्य कृपलानी कहते हैं कि गांधी सदैव प्रगतिशील हैं। वे कोई सिद्धांत गढ़ कर काम नहीं करते, काम में जैसे-जैसे विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती जाती हैं, वैसे-वैसे उनके सामने उनके हल भी उपस्थित होते जाते हैं। परन्तु भीड़ ने गांधी के कुछ सिद्धान्तों को इकट्ठा करके गांधीवाद का 'लेबिल' उन पर चिपका ही दिया है।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् हमारे देश की राजनैतिक और सांस्कृतिक चिंतन-धारा में दो बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं। पहली क्रांति उसी समय प्रारम्भ हो गई थी जब भारत पर अंग्रेजों की प्रभुता का सिक्का जमा। लोगों ने समझा कि अब चैतन्यता उसी समय आयेगी जब हम पश्चिम के तौर-तरीके को पूरे रूप से अपना लेंगे। फल यह हुआ कि शिक्षा दीक्षा, रहन-सहन, आचार-

विचार सभी में पश्चिम का अंधानुकरण हुआ। शरीर पुष्ट किया गया, आत्मा को दृष्टि की ओट में कर दिया गया। इस अंधानुकरण ने मौलिक चिन्तन का सर्वनाश कर दिया और राजनैतिक क्षेत्र में देश-शासकों की कृपा पर निर्भर रह कर उसने कुछ थोड़े-से सुधारों की आशा-मात्र करते हुए जीवित रहने लगा। परन्तु शीघ्र ही लोगों ने रुक कर और पीछे मुड़ कर अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की ओर दृष्टिपात किया। जान पड़ा यह पथ नाश और पतन का है। पूर्व में भी बहुत कुछ अच्छा है, थोड़ा तो निःसंदेह पश्चिम के ऊपर सदा भारी रहेगा। इस विचार ने दूसरी भाँति की क्रांति के लिये ज़मीन तैयार की। गांधीजी इस नई विचारधारा के उन्नायक हुए। उन्होंने पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति का पश्चिमी भौतिक सभ्यता और उसका राष्ट्र-नीति एवं परराष्ट्र नीति से योग करने का भगीरथ प्रयत्न किया। उनके द्वारा संचालित राष्ट्र आत्म-निर्भरता और आत्मगौरव का पाठ पढ़ने लगा। उसने पश्चिम से अनुकरण में अधिक सतर्कता से काम लेना प्रारम्भ किया।

परन्तु गांधी जी की विचारधारा सबसे अधिक परिवर्त्तन (इसे क्रांति भी कह सकते हैं) राजनैतिक क्षेत्र में उपस्थित किया। उनके पहले जनता रामायण की निरीह जनता हो रही थी। उसका अपना व्यक्तित्व ज़रा भी विकसित नहीं हुआ था। राजनीति का सूत्र मध्यवर्ग के कचहरी दफ़्तरों के लोगों के हाथ में था। मज़दूर-किसान भारत के नक्शे में कहीं भी स्थान नहीं पाते थे। गांधी जी ने सक्रिय जन-आन्दोलनों का सूत्रपात किया। उन्होंने जन-साधारण में राजनैतिक चेतना उत्पन्न की, उसे निर्भीक बनाया और मध्यवर्ग की कठपुतली होने से बचा लिया।

गांधी जी के इस महान विषय का कारण क्या है, जिसके फलस्वरूप वह आज करोड़ों मनुष्य के गांधी जी इस देश के मुकुट-छत्र-हीन सम्राट् हैं। उनकी महत्ता का कारण यह है कि वे केवल राजनैतिक आन्दोलनकर्त्ता ही नहीं हैं। वास्तव में उनकी राजनीति गौण है, मुख्य आचार-विचार है। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में, यहाँ तक कि राजनीति में भी जहाँ चोरी-झूठ-डकैती उचित ही नहीं आवश्यक भी समझी जाती थी, उन उच्च नैतिक सिद्धान्तों

की प्रतिष्ठा की चेष्टा की जिनके संबंध में हमारा देश सहस्रों वर्षों से सोचता-विचारता रहा था। उनको इस बात का श्रेय है कि उन्होंने सहस्रों वर्ष की उस चिंतन-धारा को, जो धार्मिक मनुष्यों में ही चली आती थी, सर्व-समाज में स्थापित करने का प्रयास किया। उनकी सफलता-असफलता पर हमारे राष्ट्र का ही नहीं, भविष्य के संसार का उत्थान-पतन है।

ये नैतिक सिद्धान्त क्या थे। अपने प्रत्येक आन्दोलन में सत्य और अहिंसा के पूर्ण रूप से पालन का ध्यान रखो। जैसा कहते हो, वैसा स्वयम् करो। दूसरे शब्दों में, शिक्षा और आचरण को एक बनाओ। जन-साधारण (गांधीजी के शब्दों में, जनता-जनार्दन) को प्रधानता दो। प्रेम, घृणा नहीं; सहकारिता, फूट नहीं; सामञ्जस्य निरंतर शक्ति का ह्रास या अन्धानुकरण नहीं।

गांधीजी से पहले के नेता सारा दोष विदेशी सरकार के सिर डालते थे। वे समझते थे कि उन्हें अपनी ओर से कुछ नहीं करना है। स्वराज्य (या औपनिवेशिक राज्य) मिलने पर सब कुछ आप हो लेगा। गांधीजी ने कहा—"यह तर्क व्यर्थ है। करो। अभी करो। व्यक्ति को शुद्ध करो। समाज को सुधारो। संगठन से शक्ति प्राप्त करो। अभी से चरखा कातो, स्वदेशी का मंत्र स्वीकार करो, आत्मनिर्भरता सीखो। इन्हीं के द्वारा स्वराज्य मिलेगा। स्वराज्य न भी मिले, हम स्वराज्य के अधिक निकट आ जायेंगे और उसके अधिकारी तो अवश्य ही बन जायेंगे।" उन्होंने दोष अपने ऊपर ओढ़ लिया। यदि हम पराजित हुए तो उसके कारण भी होंगे। हमारे बीच में जो कीटाणु युगों से घर किए हुए हैं—छल, कपट, व्यवहार, अस्पृश्यता, सामाजिक कुरीतियाँ—उनको नष्ट करके और आत्मशुद्धि करके ही बलवान बन सकते हैं। यह बात नहीं कि ये बातें गांधी जी की मौलिक उपज हों, परन्तु उन पर सबसे पहले अत्यधिक बल उन्होंने दिया। यही नहीं, उन्होंने अपने जीवन में उन्हें चरितार्थ किया और अपना निर्लिप्त, शुद्ध और दृढ़ चरित्र जनता के सामने अनुकरण के लिए रक्खा। उनके प्रयत्नों का ही फल है कि आज देश एक निश्चित पथ का अनुकरण कर रहा है और आध्यात्मिक क्षेत्र से प्राप्त हुए हथियारों से शक्ति प्राप्ति के लिए लड़ रहा है।

आज हमारे राजनैतिक आंदोलन का लक्ष्य भी बदला है। पहले एक

वर्ग (मध्य वर्ग) अपने लिये सुविधा प्राप्त करने के लिए लड़ता था। आज हमारा युद्ध किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं, सारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन भी बदल गए हैं। आज हमारे साधन शांतिपूर्ण हैं। साथ ही वह सक्रिय और सबल भी हैं। उनके द्वारा कई बार अधिकारियों की कड़ी परीक्षा हो चुकी है।

गांधीजी ने लक्ष्य नहीं, लक्ष्य-प्राप्ति के साधन की पवित्रता और श्रेष्ठता पर बल दिया है। उनका मत है कि जो साधन है वही किसी समय लक्ष्य हो जायगा। इसलिए साधन की शुद्धता की रक्षा करने की आवश्यकता है। पश्चिम का सिद्धांत है—आगे देखो; लक्ष्य सामने हो, साधन कोई भी बुरा नहीं। एक कहावत भी है—प्रेम और युद्ध में सब उचित है। स्पष्टतः गांधीजी के सिद्धांतों से यह मत नहीं मिलता। गांधीजी ने अपने साधन सत्य और अहिंसा बताए हैं। ये दोनों पुराने शब्द हैं परन्तु गांधीजी ने इनकी जो परिभाषा की है, वह नितान्त नवीन है। वे बराबर इस परिभाषा को विकसित करते रहे हैं। उनकी अहिंसा में घृणा और कटुता का स्थान नहीं, रक्तपात की तो बात ही क्या है। वे कोई भी आंदोलन लुका-छिपा कर नहीं चलाना चाहते। वे अपनी चालों को पहले ही शत्रु पर प्रगट कर दिया करते हैं। इस संदर्भ में वे ऐसे खिलाड़ी हैं जो अपने ताश के पत्ते विपक्षी को दिखा देते हैं और फिर भी उसकी चालों का समुचित उत्तर देते हैं।

गांधीवाद का अर्थ यही हो सकता है जो हमने ऊपर दिया है। उसकी भित्ति गांधीजी के विचार और उनके द्वारा संचालित जन-आन्दोलन है। इस जन-आन्दोलन का एक अंग सक्रिय अवरोध है, दूसरा निर्माणात्मक कार्य-क्रम, जैसे चरखा, खादी, मद्य-निषेध और अछूतोद्धार। वास्तव में, ये दोनों एक ही चीजें हैं। गांधी की सेना बारी-बारी से इनका प्रयोग करती है। निर्माण-प्रधान कार्य-क्रम का एक दूसरा महान् लाभ आत्मशुद्धि और तत्परता है। इन कार्य-क्रमों के द्वारा ही देश इतना आगे बढ़ सका है।

नीति और आचार

परोपकार

१—भूमिका—'परोपकारार्थं फलन्ति वृक्षः' (भर्तृहरि) २—परोपकार क्यों ? ३—परोपकार सम्बन्धी कुछ कथाएँ । ४—बुद्ध, तुलसी, ईसा । ५—गांधीजी की परोपकार की सूक्ष्म परिभाषा । ६—परोपकार और वर्त्तमान समाज ।

हिन्दू संस्कृति का झुकाव अध्यात्म की ओर अधिक है । उसका लक्ष्य ऐहिक नहीं, पारलौकिक रहता है, इसीसे उसमें सात्विक वृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है । परोपकार एक ऐसी ही सात्विक वृत्ति है । हिन्दू-सभ्यता में परोपकार का बड़ा महत्त्व है । राजा भर्तृहरि ने कहा है—

परोपकारार्थं फलन्ति वृक्षः,
परोपकारार्थं वहन्ति नद्यः ।
परोपकारार्थं दुहन्ति गावः,
परोपकारार्थं सतां विभूतयः ।

अभी तीन सौ वर्ष हुए गोस्वामी श्री तुलसीदास ने भी इसी बात को अधिक बल के साथ दुहराया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
नहिं पर पीड़ा सम अधमाई ॥

हमारे यहाँ आचार का बड़ा महत्त्व है । 'आचारः परमो धर्मः ।' परोपकार आचार का ही एक अंग है । अतः उसका भी महत्त्व है ।

परन्तु परोपकार धर्म और आचार का एक आवश्यक अंग क्यों हो जाता है ? बात यह है कि धर्म और आचार की वृत्ति समाज की भावना से बड़ा संबंध रखती है । मनुष्य जब समाज का एक अंग हो जाता है तो उसके अन्य मनुष्यों के प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाते हैं । वह उनके दुख-सुख को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता क्योंकि वह भी उनमें से एक है । उसे अपनी सहानुभूति को व्यापक बनाना होता है । फलतः वह दूसरे को कठिन

परिस्थिति में देख कर उसकी सहायता करता है। यही परोपकार की भावना के पीछे छिपा हुआ मनोविज्ञान है।

हमारे यहाँ युद्धवीर के साथ दानवीर, दयावीर और धर्मवीर की भी स्थापना हुई है। अतएव हमारा प्राचीन साहित्य ऐसे महापुरुषों की पूज्य स्मृतियों से भरा पड़ा है जिन्होंने दूसरों के उपकार के लिए प्राण देने में भी विलम्ब नहीं किया। वे धन्य हैं। रघुवंश का तो प्राण ही परोपकार में था। दधीचि के पास इन्द्र पहुँचे। वृत्रासुर मर नहीं रहा था। उसका वध केवल एक प्रकार ही सम्भव था—दधीचि की जंघा की अस्थि मिले। परोपकारी महाराज दधीचि को आगा-पीछा क्या सोचना ? देवताओं ने उसका अस्त्र बना कर राक्षसों पर विजय प्राप्त की। शिवि ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस काट दिया। कर्ण की कथा तो प्रसिद्ध ही है। बाणों से भरे हुए, मृत्युशय्या पर पड़े वीर कर्ण ने याचक ब्राह्मण को अपना सोने से मढ़ा दाँत तोड़ कर दिया। ऐसे कितने उदाहरण हैं।

सहस्रों मनुष्यों का हित करने की प्रेरणा से अधिक आकर्षक वस्तु क्या होगी ? ऋषि वनों में रहते थे, कन्द-मूल-फल खाते थे और परम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करते थे। परन्तु उनकी साधना वैयक्तिक होकर ही नहीं रह जाती थी। वे नगरों में आते और भूले-भटके जनों को सन्मार्ग का उपदेश देते थे। यदि परोपकार की यह भावना बुद्ध में नहीं होती तो आज करोड़ों व्यक्ति उनके धर्म से शांति कैसे प्राप्त करते। उन्होंने कहा था—

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देव मनुस्सानं।

(भिक्षुओ ! सर्वसाधारण हित के लिए, उन पर दया करने तथा देवताओं और मनुष्य का उपकार करने के लिए घूमो।—विनय पिटक)।

संसार में जितने भी बड़े धर्म हैं सब के प्रवर्तकों के पीछे यही दिव्य भावना काम कर रही थी। इसी ने उन्हें क्षुद्र मनुष्य से ऊपर उठा कर पूज्य देवता की श्रेणी में बिठला दिया। आज भी एक महान् परोपकारी व्यक्ति हमारे बीच में है। महात्मा गांधी किस स्वार्थ से प्रेरित हैं ? करोड़ों दीन-दुखी-दलितों के लिए उन्होंने क्या नहीं होम दिया है ? क्या तुलसी ने अपना

मानस केवल 'स्वान्तःसुखाय' लिखा था ? क्या उसके पीछे अनीतिमय जीवन को सदाचार के पथ पर ले आने की भावना नहीं थी ? जिस रचना को उन्होंने अपना पूरा जीवन दिया, वह क्या 'लोकहित' की भावना से प्रेरित नहीं थी ?

मनुष्य के दैनिक जीवन में स्वार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु अपने छोटे-बड़े स्वार्थों को सिद्ध करके ही उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य ज्ञानवान प्राणी है। उसका जीवन उसी समय सार्थक है जब वह स्वार्थ से ऊपर उठ कर परमार्थ के ऊँचे आसन तक पहुँच सकता है। तुम अपनी शारीरिक सुख-साधना के लिये धन-संग्रह करते हो तो अच्छा है। परन्तु और भी अच्छा हो यदि तुम उसका एक बड़ा भाग दूसरों के कष्ट दूर करने में लगा दो। ईसाइयों की पुस्तक अंजील में लिखा है—"अपना धन पृथ्वी पर संग्रह करके न छोड़ जाओ क्योंकि वहाँ कीड़े हैं जो उसे खा डालेंगे और उस पर मोरचा लगेगा; क्योंकि वहाँ चोर हैं जो उसे चुरा सकते हैं। अपने धन को स्वर्ग में संग्रहीत करो जहाँ न कीड़े उसे खा सकेंगे; न मोरचा लग सकेगा; न चोर पहुँच सकेंगे।" यहाँ ईसा का मतलब दान की महिमा है। दान परोपकार का एक ढंग है। उसके द्वारा तुम प्राणियों का कष्ट दूर कर सकते हो। स्वर्ग में तुम्हें उसका फल मिलेगा।

सम्भव है कि स्वर्ग की कल्पना ठीक न हो। परन्तु परोपकार से जो नैतिक बल चरित्र में आता है उसे तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उससे जो मानसिक और आत्मिक शांति मिलती है, उसका तो कहना ही क्या ! योग-सूत्र में जिस 'अपरिग्रह' के आदर्श का कथन है, वह इसी परोपकार का दूसरा रूप है। इसी परोपकार-वृत्ति की भावना का सूक्ष्म विवेचन करते हुए गांधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमें अपने पास उससे अधिक कुछ भी नहीं रखना चाहिए जिसे हम अपने लिए नितांत आवश्यक समझते हों। इस तर्क के अनुसार, ऐसा करके हम अवश्यमेव परोपकार ही करते हैं। क्योंकि जिन वस्तुओं को हम बेकार इकट्ठा कर नहीं रखते, वे दूसरे को पहुँच जाती हैं।

सृष्टि-पालन किस प्रकार हो रहा है ? उसके ऐश्वर्य को क्या कोई दोष

जागता है ? पेड़ क्या अपने फल स्वयम् खा जाता है ? फिर संज्ञावान वह प्राणी, जिसे मनुष्य कहते हैं, दूसरे के हित में आनन्द क्यों नहीं ले ? आज बीसवीं सदी का मनुष्य धर्म की इन बातों में विश्वास नहीं करता। आर्थिक संघर्ष इतना भयंकर हो गया है कि उसकी सद्वृत्तियों की हत्या हो गई है। परन्तु, यदि हममें थोड़ी सद्बुद्धि हो तो हम यह नहीं कह सकते कि संसार में जो दुख है उसके लिए दैव उत्तरदायी है; संसार के समझदार प्राणी के रूप में हमारा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। निःस्वार्थ परोपकार से अधिक बड़ा नैतिक सत्य क्या है ? यदि हम इसे स्वीकार नहीं करते तो हमें इसके लिए गर्व करने की आवश्यकता क्या है ? किसी दीन-दुखिया के हाथ में दो पैसे दे देने से आप बेकारी के बढ़ जाने का तो अनुमान कर लेते हैं परन्तु मनुष्य की महानता का उपहास करते हैं। उस समय यही कहा जा सकता है—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे।"

सत्संग

१—भूमिका। २—मनुष्य अपनी संगति से जाना जाता है। ३—कबीर की दो साखियाँ। ४—सत्संग पारस की तरह है। ५—सत्संग का एक साधन—पुस्तकें। पुस्तकों का सत्संग। तुलसी का मानस।

हमारे यहाँ के कवियों ने सत्संग की महिमा को अनेक छंदों में बार-बार हमारे सामने रक्खा है। आध्यात्मिक जीवन में सत्संग का जो महत्त्व है, उसके संबंध में अधिक तो कभी कहा नहीं जा सकता, परन्तु लौकिक जीवन में भी उसका महत्त्व कम नहीं है।

मनुष्य के आचार-विचार के बनाने में उस वातावरण का बड़ा हाथ रहता है, जिसमें वह रहता है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है, 'मनुष्य अपनी संगति से जाना जाता है।' यह बात अक्षरशः ठीक है। चोरों की संगति में रह कर कोई भी [illegible] साधु नहीं रह सकता। मानव-स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का है कि [illegible] अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। कल्पना कीजिये, किसी का एक मित्र वेश्यागामी है। वह उससे

क्या बात करेगा ? उसकी बातचीत का विषय क्या होगा ? जब वह विषय और वासना से भरे हुए स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन करेगा तो उसके भोले साथी को बिगड़ते हुए कितनी देर लगेगी ? इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं। कितने ही दुराचारी सम्राटों के पीछे उनके निकम्मे और मनुष्य द्रोही, हँसी-ठठोली करने वाले साथियों का ही हाथ रहा है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता का प्रभाव क्या उस समय के राजयों पर नहीं पड़ा होगा ? क्या इन विषय-लोलुप सङ्गी-साथियों ने तरुण-युवक राजा के हृदय में वासना के बीज नहीं बोए होंगे ? आज रजवाड़ों में जो परिस्थिति है, उसे कौन नहीं जानता। सब कोई यह जानता है कि राजाओं की विषय-लिप्सा का कारण वह कुसंगति है जिसमें वे बचपन से पलते हैं—

कबीर ने ठीक ही कहा है—

'कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाध की आठों पहर उपाधि॥'

बुरे विचार मन के सिंहद्वार पर मँडराते रहते हैं। हमारी सद्वृत्तियाँ ज़रा भी चूकीं कि वे घुसे और उन्होंने कुप्रवृत्तियों को उकसाया। यदि हम कुसंगति में रहते हुए पूरी तरह सतर्क नहीं हैं तो हमारा नाश निश्चित है। सतर्क रहने पर भी हमारे ऊपर व्यर्थ का बोझ पड़ता है। जाने कब कोई भी विचार हमारे हृदय में घर बना ले। कुसङ्गति में रहते हुए सन्मार्ग पर चलना खड्ग की तेज धार पर चलने की तरह है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी आप से ईर्षा नहीं करेगा। ज़रा पाँव डिगा कि गिरे। वर्षों के संचित ज्ञान और धर्म को क्षण भर के असंयम द्वारा जल कर राख की ढेरी होते देर नहीं लगती। साधु की संगति गंधी की दुकान की तरह है। गंधी दे न दे, परन्तु उसकी दुकान पर बैठे रहने पर सुगन्ध का आनन्द तो मिलेगा ही। इसके विपरीत, काजर कोठरी में कोई कितना ही सयाना जाने, कालिख की लीक उसके कपड़ों पर लग ही जायगी।

सत्सङ्ग से कितनों का जीवन बदल गया है। कितने असाधु, (दुर्व्यसनी), साधु और सच्चरित्र हो गए हैं। हमारे महापुरुषों ने गुरु की महिमा गाई है। क्यों ? इसलिए कि मनुष्य का आचरण बनाने में गुरु से

बढ़ कर किसी का हिस्सा नहीं रहता। गुरु का साथ सहस्रों साधुओं के सत्सङ्ग के बराबर है। मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है। उस पर व्यक्तित्व का जितना प्रभाव पड़ता है, उतना शिक्षा का भी नहीं। यही कारण है कि हमारे प्राचीन व्यवस्थापकों ने शिष्य और शिक्षक के इतने समीप रहने की व्यवस्था की थी। साधु पुरुष का सामीप्य ही मनुष्य को ऊँचा उठाने के लिये पर्याप्त है।

कुसङ्ग से बड़ा और दुःख क्या है? असाधु मनुष्य का सङ्ग उसी तरह का है जैसे केला और बेर का सङ्ग—

'भारी मरै कुसङ्ग की केरा के ढिग बेर।
वह हाले वह अंग चिरै विधि ने सङ्ग निबेर ॥'

केला बेचारा करे क्या? दुष्ट बेर तो काँटे छेदने से बाज आएगा नहीं। जब काँटा ने घेर लिया तो चेतने से लाभ ही क्या?

सत्सङ्ग पारस पत्थर की तरह है। पारस के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इसे छूकर लोहा भी सोना हो जाता है। यह बात कहाँ तक ठीक है, इसे हम कह नहीं सकते, परन्तु एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क से दुष्टों को सँभलते हुए देखा गया है। आत्म-संस्कार का सबसे बड़ा साधन सत्सङ्ग ही है। परन्तु जिस तरह साधु और धर्मात्मा महापुरुषों के व्यक्तित्व का सम्पर्क आत्मा को ऊपर उठा लेने वाला होता है, उसी तरह उनके विचारों का सत्सङ्ग भी। पुस्तकें क्या हैं? वे महापुरुषों के आत्मानुभव ही तो हैं। इस तरह पुस्तकों का अध्ययन भी सत्सङ्ग कहला सकता है। यह अवश्य है कि व्यक्ति में जो सजीवता होती है, वह पुस्तक में नहीं होती। परन्तु आज मुद्रण-युग में पुस्तकों का प्रचार व्यापक होने के कारण हमारे लिए महान् पुरुषों का सत्सङ्ग कितना सुलभ हो गया है।

रामचरितमानस को ही लीजिए। आज तुलसी हमारे बीच में नहीं हैं परन्तु मानस के अध्ययन से वह हमारे साथ हैं। उनकी रचना हमारे लिए उनके सत्सङ्ग से कम नहीं। वह हमें उन्हीं की शक्ति देगी; हमें दुख के समय आश्वासन देगी; हमारा मनोरंजन करेगी। स्वयम् गोस्वामी जी ने ही, सत्सङ्ग की महिमा इस प्रकार कह दी है :—

'सकल स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अङ्ग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसङ्ग॥'

उनकी रचना से अधिक यह उक्ति और किस पर लागू होगी ?

अतः नवयुवकों को चाहिए, वे अपने आचरण को अकलुष रखने की दृष्टि से अच्छे मित्रों, साधु, गुरुजनों और उत्तमोत्तम पुस्तकों का सत्सङ्ग करें। इससे एक ओर उनकी ज्ञान-वृद्धि होगी, दूसरी ओर वे दुर्वासनाओं के वशीभूत न होंगे।

परिश्रम का महत्त्व

१—अमरीका के एक कवि का कथन। २—महापुरुषों के जीवन में श्रम का स्थान। ३—मलूकदास के एक दोहे की आलोचना। ४—डेमास्थनीस; मालवीय और गांधीजी के उदाहरण। ५—परिश्रम पूजा है।

अमरीका के राष्ट्रीय कवि लांगफैलो ने एक स्थान पर लिखा है; महान् पुरुष जो इतनी ऊँचाई पर पहुँच गए, यह बात एक क्षण में नहीं हो गई। जब उनके साथी निद्रा की गोद में पड़े थे तब वे रात-रात भर परिश्रम कर रहे थे।

बात ठीक है। सच तो यह है कि परिश्रम के बिना कोई भी काम सध नहीं सकता। परिश्रम का अर्थ है कि मनुष्य की सारी शक्तियाँ किसी कार्य विशेष को पूरा करने के लिए केन्द्रीभूत हो जायँ। जब तक उसे सफलता न हो वह उसी में लगा रहे। उन्नति का मार्ग यही है। उन्नति या विकास एक कष्टसाध्य वस्तु है। बड़ी-बड़ी सभ्यताओं और संस्कृतियों की ओर देखिए। उनको इस दशा पर पहुँचाने के लिए कितने महान् योद्धाओं, महान् नेताओं, महान् राजनीतिज्ञों और महान् लेखकों ने वर्षों दिन-रात परिश्रम किया है। आज संसार में जो महान् धर्म फैले हुए हैं, उनके पीछे उनके प्रवर्तकों की कितनी बड़ी साधना छिपी है। महात्मा बुद्ध ने वर्षों तप करके सत्य की प्राप्ति की। पैगम्बर साहब (हजरत मुहम्मद) वर्षों

मक्के और मदीने की खाक छानते फिरे। आज हम उनकी ओर देख कर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। उन महात्माओं की कठोर साधनाओं ने उन्हें मनुष्य के समतल से उठा कर देवताओं के ऊँचे आसन पर बिठा दिया है।

हमारे यहाँ एक कहावत है—'हाथ पर सरसों नहीं उगती।' अंग्रेज़ी में भी ऐसी ही एक कहावत है। परिश्रम के द्वारा सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि वह नियम से लगातार होता रहे, वह आदत हो जाय। प्रति-दिन थोड़ा-थोड़ा, परन्तु प्रति-दिन अवश्य—यह सिद्धान्त हो। मनुष्य ईश्वर में विश्वास रख कर निरन्तर अपने कर्त्तव्य में लगा रहे। सफलता अनिवार्य है।

ताजमहल को देख कर हम आश्चर्य करते हैं—"यह कैसे हुआ?" हम यह क्यों नहीं सोचते कि बीस सहस्र मज़दूर बीस वर्ष तक १०-१२ घन्टे प्रतिदिन परिश्रम करके इसे बना पाए हैं। फिर हम अपने विशिष्ट क्षेत्र में अपनी प्रतिभा द्वारा जो ताजमहल तैयार करना चाहते हैं वह क्या एक क्षण में तैयार हो जायगा?

मनुष्य की महत्ता श्रम में है। हमारे ऋषियों ने इसे ही तप कहा है। तप से देवता अमर हो गए हैं। वस्तुतः परिश्रम (तप) अमरत्व का मंत्र है। मलूकदास ने लिखा है—

'पंछी करे न चाकरी अजगर करे न काम।
दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥'

परन्तु बाबा मलूकदास को भी हाथ का कौर मुँह में ले जाने के लिए परिश्रम करना पड़ता होगा। साँस लेना भी तो एक प्रकार का परिश्रम है परन्तु उसे कोई छोड़ नहीं देता। इस एक विषय में आलस्य करता हुआ कोई नहीं देखा गया। जीवन में परिश्रम का इतना महत्त्व है कि यह कहा जा सकता है—काम कितना है इसे मत देखो, संतोषपूर्वक उस पर परिश्रम किए जाओ। परिश्रम से पहाड़ हिल जाते हैं। संभव है, आज तुम्हारे मित्र तुम पर हँसें। उन्हें विश्वास नहीं कि तुम कृत-कार्य हो सको। परन्तु तुम दुगने साहस से काम में लग जाओ। जब तुम उसमें सफल होगे तो लोग तुम्हें संसार का

आठवाँ आश्चर्य मानने लगेंगे। काम जितना अधिक कठिन हो, उतने ही अधिक उत्साह और परिश्रम से उसमें लगो।

'बूँद बूँद से घट भरै।' आज तुम जो करोगे, वह तुम्हारे कल के काम को अधिक सरल कर देगा। तब आज ही अपने भाग का परिश्रम करने में जुट पड़ो।

परन्तु परिश्रम के पीछे अध्ययन और ज्ञान न होगा तो वह बेकार ही होगा। केवल परिश्रम ही सब कुछ नहीं है, वरन् तुम्हारे चारों तरफ़ के इतने आदमी दिन भर मेहनत-मज़दूरी करके भूखों नहीं मरते। पहले यह देख लो कि किस विशेष क्षेत्र में परिश्रम करने से सफलता शीघ्र ही आएगी और फल सर्वोत्तम होगा। फिर अपने को उस क्षेत्र के उपयुक्त बनाओ। तब उस क्षेत्र में परिश्रम करो। परन्तु यह याद रक्खो—कोल्हू के बैल का परिश्रम अधिक काम का नहीं। परिश्रम के पीछे एक क्रियाशील मस्तिष्क होना चाहिए। सफलता की देवी तुम्हें वरेगी।

डेमास्थनीज़ यूनान का एक प्रसिद्ध वक्ता है। पहले वह धारा-प्रवाह बोल नहीं सकता था। उसके व्याख्यान का प्रभाव हास्यास्पद होता। इस प्रकार कई बार असफल होकर वह यह दोष सुधारने में लग गया। वह समुद्र के किनारे-किनारे मीलों दौड़ता और गरजते हुए समुद्र से अपनी आवाज़ मिलाता। अंत में वह सफल हुआ। आज यूनान को उसका गर्व है। राना प्रताप के जीवन से भी क्या कठिन परिश्रम की शिक्षा नहीं मिलती? महापुरुष एक बार अपने लक्ष्य को निश्चित कर लेते हैं, फिर अपने कठिन अध्यवसाय के द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा है।—दूर क्यों जाएँ, काशी विश्वविद्यालय-जैसी बड़ी संस्था केवल एक मनुष्य (मालवीयजी) के अध्यवसाय का फल है। गांधीजी की कठोर साधना ने पिछले २५ वर्षों में भारत के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांति ही कर दी है। धन्य हैं वे महापुरुष, जिन्होंने अपने जीवन को परिश्रम की आग में तपा कर हमें प्रकाश दिया है।

किसी ने कहा है, 'परिश्रम पूजा है, परिश्रम से आत्मा उसी प्रकार पवित्र हो जाता है जिस प्रकार ईश्वरोपासना से।' तब परिश्रम आध्यात्मिक

उन्नति का एक साधन हो जाता है। मनुष्य को उसी में अनन्त शांति और अनंत आनन्द के दर्शन होते हैं। वह सोने की तरह तप कर अपने सबसे बहुमूल्य रूप में संसार के सामने आता है। लौकिक सुख और समृद्धि, मानसिक शांति और आध्यात्मिक सुख—परिश्रम करने पर अलभ्य क्या है ?' 'श्रम ही सों सब मिलत है, बिन श्रम मिलै न काहि।'

शिक्षा और आचरण

१—हरबर्ट स्पेन्सर का एक कथन। एक लोकोक्ति। २—शिक्षा का क्या अर्थ है ? ३—आचरण और आत्मिक शक्ति। ४—क्या वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में आचरण को पुष्ट करने की योग्यता है ? ५—कुछ महापुरुषों का उदाहरण। ६—आज की परिस्थिति।

'शिक्षा का उद्देश्य हमें सुव्यवस्थित और संपूर्ण जीवन के लिये तैयार करना है।' —हरबर्ट स्पेंसर

'ज्ञान शक्ति है।' —लोकोक्ति

शिक्षा का अर्थ यह है कि वह जहाँ एक ओर मनुष्य को उसके चारों ओर के वातावरण से परिचित कराये, वहाँ दूसरी ओर उसकी अन्तरतम प्रवृत्तियों को परिमार्जित करके उसे बल दे। वह उसकी सोई हुई शक्तियों को जगाए और उसे जीवन-संग्राम के लिये तैयार करे।

मनुष्य की प्रतिभा के विकास के तीन क्षेत्र हैं और उनके अनुसार उसमें तीन प्रकार की शक्तियाँ विकसित होती हैं—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। उसकी सफलता की कुंजी यह है कि इन तीनों शक्तियों का ठीक-ठीक अनुपात में विकास हो।

आचरण का संबंध आत्मिक शक्ति से है। संसार में मनुष्य कैसे चले ? मनुष्य समाज का प्राणी है। उसके इस नाते अनेक संबंध हैं। इन संबंधों को वह किस प्रकार शुद्ध और सुदृढ़ रक्खे ? यह आचरण का क्षेत्र है। यह अवश्य है कि मानसिक विकास के साथ मनुष्य अपने अनेक संबंधों को ठीक-

ठीक समझने लगता है परन्तु समझना ही तो काफ़ी नहीं है, उसे व्यवहार में भी तो चलना है और यहाँ उसे आत्मिक बल की अपेक्षा होगी।

शिक्षा का सबसे ऊँचा उद्देश्य आत्मिक शक्तियों का विकास होना चाहिये। प्राचीन इसे जानते थे। इसीसे उन्होंने परा विद्या को अपरा से ऊँचा माना था। उनकी शिक्षा-प्रणाली में धर्मशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मनुष्य कितना ही बलवान हो, कितना ही ज्ञानी हो, यदि वह आचरण में शुद्ध नहीं है तो समाज के लिए उसकी उपस्थिति आशंका और भय की वस्तु है। आचरण की शुद्धता पहली चीज़ है जिसकी सामाजिक जीवन में ज़रूरत पड़ती है। इसके लिये आत्मिक-बल चाहिये। स्वावलम्बन चाहिये।

परन्तु, क्या वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में आचरण को पुष्ट करने की योग्यता है? क्या वह हमें ऐसे मनुष्य देती है जिनका निश्चय लोहे या इस्पात-सा दृढ़ हो, जो प्रलोभनों के आगे पहले झोंके में ही झुक न जायें? क्या हमारी शिक्षा मनुष्य में शम, दम, दया, तप, करुणा और मैत्री के दिव्य गुणों को जाग्रत करती है? यदि ऐसा नहीं है तो वह हमारे दृष्टिकोण से असफल है।

संसार में जिन महापुरुषों ने अद्भुत कार्य किये हैं, उनके पीछे उनकी शिक्षा-दीक्षा से प्राप्त और साधना से पुष्ट आचरण का बल था। इसीसे वे इतिहास के पृष्ठों पर अपने अमिट चिह्न छोड़ सके हैं। बुद्ध, ईसा, गांधी— सभी इसके उदाहरण हैं। आचरण खो देने पर मनुष्य की आवाज़ में बल ही नहीं रह जाता है। जिस चीज़ की जीवन-क्षेत्र में सफलता के लिए इतनी बड़ी ज़रूरत है, उसकी व्यवस्था यदि राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली में न हो तो फिर इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी?

अच्छी शिक्षा मनुष्य के हृदय में आचरण के बीज बोती है। माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा मानो। बड़ों का आदर करो। सच बोलो। जीवों पर दया करो। समाज की व्यवस्था के अनुकूल काम करो। अपने संबंधों में सच्चाई को हाथ से न जाने दो। परन्तु यह शिक्षा क्या व्यवहार के अतिरिक्त और किसी तरह मिल सकती है? क्या पाठ्य-पुस्तकों में इसका स्थान हो सकता है?

यह अवश्य है कि पुस्तकों, विशेषतः धर्म और आचार-सम्बन्धी पुस्तकों से, हम इन बालकों में आचरण की शुद्धता के पाठ सीखने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर सकते हैं। परन्तु, इस क्षेत्र में असली शिक्षा तो उन्हें माता-पिता और गुरुजनों के व्यवहार से मिलेगी। अतः यह आवश्यक है कि बालकों को ऐसे वातावरण में रक्खा जाये जिससे वे नैतिक-शिक्षाएँ उसी तरह ग्रहण कर सकें, जिस तरह पौधा अपनी खुराक हवा से लेता है।

आचरण बिगड़ा तो सब बिगड़ा। आज शिक्षा का उद्देश्य व्यवसाय से अधिक कुछ भी नहीं। उच्च-शिक्षा प्राप्त ऐसे अनेक व्यक्ति मिलेंगे जिन्हें पाप करते हुए भय नहीं लगता। वे समाज की मर्यादा का आदर करना नहीं जानते। उनके लिए उच्छृङ्खलता का नाम ही मनुष्यता है। यह क्यों? इसलिये कि उनकी शिक्षा एकांगी रही है। उनकी मानसिक शक्तियाँ विकसित हुईं परन्तु उनकी आत्मा पंगु रह गई। अब वे पशु से कुछ भी ऊपर नहीं रह गए।

देश-प्रेम

१—भूमिका—स्कॉट की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ। २—देश क्या है? ३—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। ४—पैरिक्लिस इक़बाल और बर्क। ५—देश के सच्चे अर्थ। ६—राष्ट्रीयता के विकास का यह युग।

स्कॉट ने अपनी एक प्रसिद्ध कविता में कहा है : 'क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है जिसकी आत्मा इतनी मर गई हो कि उसने यह कभी न कहा हो—यह मेरा देश है; यह मेरा है।' संसार के सभी महापुरुषों और कवियों ने देश-प्रेम के गीत गाए हैं। आज 'वन्दे मातरम्' हमारे देश के प्रत्येक नवयुवक की जिह्वा पर है। 'सुजलम्, सुफलम्, शीतलम्' मातृभूमि के यशगान में किसे सुख नहीं मिलता?

परन्तु देश क्या है ? क्या हम देश के सत्य स्वरूप से परिचित हैं ? यह पृथ्वी, ये उत्तुङ्ग पर्वतमालाएं, ये नगर, ये खेत—यही हमारे देश बनाते हैं। परन्तु सच्चे अर्थ में देश उन सहस्रों लाखों प्राणियों का रूप है, जो हमारे अनेक समान संस्कारों से हमसे सम्बन्धित हैं, जो हमारी आशा के साथ उठते हैं, हमारी निराशा के साथ गिरते हैं। उनके सुख-दुख देश के सुख-दुख हैं, उनके गीत देश के गीत हैं। इस प्रकार देश का अपना व्यक्तित्व है और बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है। हम उसे भूल नहीं सकते।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' कितना सत्य कथन है। माँ ने हमें गर्भ में रक्खा है तो देश ने अन्न-जल से हमारा लालन-पालन किया; अनेक संस्कारों से हमें मनुष्य बनाया। उसने हमारे व्यक्तित्व को गर्भ में रक्खा है। तभी जन्म-भूमि का महत्त्व जननी से कम नहीं है। वह तो 'जनक जननी-जननी' होने के कारण माँ से भी कहीं ऊपर है। स्वर्ग उसकी समता कहाँ कर सकता है ?

पशु-पक्षी जहाँ रहते हैं, उस स्थान से प्रेम करने लगते हैं। वर्षों बीत जाने पर भी वे उस स्थान को पहचान लेते हैं। पक्षियों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे उपयुक्त जलवायु की खोज में मीलों की यात्रा करते हैं परन्तु फिर घर लौट आते हैं। फिर मनुष्य तो संज्ञा-शील प्राणी है, अपने जन्म-स्थान से प्रेम क्यों न करे ?

पेरिक्लिस यूनान देश के एथेन्स राज्य का सबसे बड़ा नागरिक था। अपने एक व्याख्यान में उसने कहा है : 'मैं यह चाहता हूँ कि तुम प्रत्येक दिन अपनी दृष्टि एथेन्स की महानता पर गड़ाए रक्खो यहाँ तक कि तुम उसके प्रति प्रेम से भर जाओ और जब तुम उसके ऐश्वर्य और वैभव से प्रभावित होने लगो, यह सोचो कि यह साम्राज्य उन मनुष्यों ने निर्माण किया है जो अपना कर्त्तव्य जानते थे और जिनमें कर्त्तव्य को निभाने का साहस था। जब ये मनुष्य अपने कर्त्तव्य को पूरा करने में असफल हुए तो उन्होंने अपनी मातृ-भूमि के चरणों में अपने प्राण भेंट कर दिये और इस प्रकार अपनी दुर्बलता का परिहार किया।' ये शब्द हमें बताते हैं कि देश के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिये। पहली चीज़ नागरिक को यह जानना चाहिये

कि उसका सबसे महान् धर्म यह है कि उसका हृदय अपने देश के प्रति प्रेम और श्रद्धा से लबालब भरा रहे। उसमें ये भाव इस दरजे तक हों कि वह राष्ट्र के लिए अपनी सबसे प्रिय वस्तु की बलि दे सके। डा० इक़बाल ने इसी विचार को इस तरह हमारे सामने रक्खा है :

'पत्थर की मूरतों में समझा है तू ख़ुदा है।
ख़ाके-वतन का मुझको हर ज़र्रा देवता है।।'

(नया शिवाला)

परन्तु, यह सब होते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि हमारे देश में यह प्रेम, अज्ञान और उत्तेजना के कारण हो। सच तो यह है कि इस बीसवीं शताब्दी में हमारे लिए भावुकता का महत्त्व अधिक नहीं रह गया है। बर्क ने कहा है : 'हमें अपने मन को विकसित करना चाहिए। हमारी जितनी भी सुन्दर प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें हम अपने कुटुम्ब और इष्ट-मित्रों के संकीर्ण क्षेत्र से निकाल कर देश के अनेकानेक व्यक्तियों की सेवा में लगाएँ।'

आवश्यकता इस बात की है कि हम यह समझें कि सच्चा देश कहाँ है। वह देश के रोड़े-पत्थरों में नहीं है। वह जीवित मनुष्यों में है। हम इन जीवित मनुष्यों की भलाई करना सीखें। यदि हमें अपने देश से प्रेम है तो हम यह चाहें कि वह संसार के महान् देशों के समकक्ष आ सके। उसमें से ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ समूल नष्ट हो जाएँ जिनके कारण बाहर के देश हम पर हँसते हों। देश के भविष्य की उज्ज्वलता पर हमारा विश्वास हो और हम उसके लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार हो जायँ। जिस दिन हम सच्चे अर्थ में देश को समझ जायँगे, उस दिन हम अछूतों, किसानों, और मजदूरों की समस्याओं को सुलझाने में लग पड़ेंगे; उस दिन देश की बेकारी को दूर करने में हम प्रयत्नशील हो जायँगे; उस दिन हम अपने ऐश्वर्य और वैभव के गद्दों को त्याग कर कठिन कर्मक्षेत्र में ग़रीब-से-ग़रीब के साथ कन्धे-से-कन्धे मिला कर काम करेंगे और गर्व का अनुभव करेंगे। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' चिल्लाने भर से हम बहुत आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

हमारे देश में राष्ट्रीय भावना का अभाव रहा है। बात यह है कि यह भावना अभी हाल में विकसित हुई है। भारतवर्ष इतना बड़ा देश है कि इसे

महाद्वीप कहना ठीक होगा। यातायात के साधन सुगम नहीं थे। भाषा, व्यवहार और दूसरी अनेक बातों में एक प्रांत दूसरे प्रांत से भिन्न था। इसलिए प्राचीन काल में धर्म की एकता थी और उसी एक भावना के द्वारा देश एक सूत्र में बँधा था। बड़े-बड़े साम्राज्य इस देश में कम स्थापित हुए और यह युगों तक टुकड़ियों में बँटा रहा। परन्तु अब परिस्थिति भिन्न है। विज्ञान की अनेक सुविधाओं के कारण आज देश के विभिन्न भाग इतने पास गुथ गए हैं कि एक के स्पन्दन को दूसरे के स्पन्दन से पहचानने में थोड़ी भी देर नहीं लगती। इधर सारे देश पर एक विदेशी सरकार का शासन है और उसके विरोध में कई बार सामूहिक आन्दोलन हो चुके हैं जिनमें प्रत्येक प्रांत के सहस्रों मनुष्यों ने एक साथ कष्ट सहन किया। इनके फल-स्वरूप आज राष्ट्र की भावना बहुत गहरी पैठ रही है। यह जाग्रति का चिह्न है।

आज हम देश के अतीत गौरव के नष्ट हो जाने पर खेद करते हैं। हमारा कवि कहता है—

'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त-छविजाल,
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल।
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार,
स्वर्ग की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार ?

और उस स्वर्ण युग के स्वप्न से भर कर वह चिल्ला उठता है—

जागो फिर एक बार।

आज हमने देश के सहस्रों प्राणियों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझना शुरू किया है। आज हम अपने हितों को, अपने स्वार्थों को, देश के हितों पर न्योछावर करके तन-मन-धन से उसके हित-साधन की ओर बढ़ रहे हैं। सहस्रों मनुष्यों के जीवन का व्रत ही देश-सेवा हो गया है।

कर्त्तव्य

१—कर्त्तव्य किसे कहते हैं? २—प्राचीन काल में कर्त्तव्य की भावना; ऋणों की कल्पना। ३—कर्त्तव्य क्यों? ४—मनुष्य-जीवन और कर्त्तव्य। ५—कर्त्तव्य-पालन के लिए दृढ़ चरित्र की आवश्यकता, हरिश्चन्द्र का उदाहरण। ६—कर्त्तव्य पालन से लाभ।

कर्त्तव्य किसे कहते हैं? कर्त्तव्य की भावना का संबंध सामाजिक और आध्यात्मिक आदर्शों से है, अतः उसकी ठीक-ठीक एक विशिष्ट परिभाषा देना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। कर्त्तव्य एक प्रकार का उत्तरदायित्व है जिसे व्यक्ति अनुभव करता है। यह उत्तरदायित्व किसके प्रति होता है? कभी-कभी तो यह किसी बाहर की शक्ति के प्रति होता है। राष्ट्र, समाज, जाति, कुटुम्ब आदि कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं जिन्होंने मनुष्य की स्वतंत्रता को थोड़ा-बहुत पंगु कर दिया है, परन्तु साथ ही उसे अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी हैं। इनके कुछ अपने नियम हैं। व्यक्ति को इस प्रकार चलना होता है कि उसकी स्वतंत्रता उन नियमों पर व्याघात न करे। यहीं कर्त्तव्य की भावना का जन्म होता है। इसी प्रकार कर्त्तव्य की भावना स्वयम् मनुष्य के अन्दर से (अर्थात् उनकी नैतिक अथवा आध्यात्मिक प्रवृत्ति से) विकास पा सकती है। अहिंसा, सत्य, सम, ईश्वर एवं अनेक इसी प्रकार के नैतिक आदर्श मनुष्य की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध रखते हुए उसे किसी विशेष सीमा के अन्दर चलने को बाधित करते हैं।

हमारे पुराने ऋषियों ने मनुष्य के कार्यक्षेत्र को भली भाँति निश्चित कर दिया था। वेदों में हमें ऋत् की भावना के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद का ऋषि ऋत् का उपासक है, अऋत में उसे मृत्यु के दर्शन होते हैं। ऋत् का अर्थ है नियम। बाद को जब समाज की व्यवस्था होने लगी तो यही भावना ऋणों की कल्पना के रूप में हमारे सामने आई। हमारे ऋषियों ने चार प्रकार के ऋण माने हैं। देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और पुत्र-ऋण। मनुष्य का कर्त्तव्य था कि वह इन ऋणों को चुकाये। वह यज्ञ करे और इस तरह देवताओं से उऋण हो; वह विद्याध्ययन करके ऋषियों के ऋण से मुक्त।

हो; संतान उत्पन्न करके वह पिता का ऋण चुकाए और संतान को सुयोग्य बना कर वह पुत्र-ऋण से मुक्त हो। इस प्रकार प्राचीन काल में हमारे मनीषियों ने जीवन के सभी अङ्गों में हमारे कर्त्तव्य की कल्पना कर ली थी।

कर्त्तव्य वह है, जिसे करना हमारा धर्म है और जिसके न करने से हम चरित्रहीन तथा नीच कहलाने लगते हैं। किस मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, यह उसकी स्थिति पर अवलंबित रहता है। कर्त्तव्य क्यों होता है? इसलिए कि वह कुटुम्ब और समाज अथवा राष्ट्र के संबंधों को अविच्छिन्न रूप से संचालित रखने के लिए आवश्यक होता है। उससे प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ बोझ आ पड़ता है और उस पर एक प्रकार का अनुशासन रहता है।

राजा का कर्त्तव्य प्रजापालन है; इसी तरह प्रजा का कर्त्तव्य राजाज्ञा का पालन है। दोनों कर्त्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। हमारा सारा जीवन कर्त्तव्यों से भरा है। बाल्यावस्था में माता-पिता का हमारे प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है। वे हमारा पालन-पोषण करें; हमें व्यवहार सिखाएँ और हमारी शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबंध करें। फिर माता-पिता और गुरुजनों के प्रति हमारा भी कुछ कर्त्तव्य होता है; हम उनकी आज्ञा का पालन करें। सहपाठियों के प्रति हमें प्रेम करना चाहिये। विवाह हो जाने पर एक नए संबंध का सूत्रपात होता है। पत्नी के प्रति हमारा यह कर्त्तव्य होता है कि हम उसके उपयुक्त साथी बनें; उसके दुख-सुख में उससे सहानुभूति रक्खें; उसे अपने हृदय का प्रेम दें। संतान होने पर उसके प्रति हमारा वही कर्त्तव्य हो जाता है जो हमारे पिता का हमारे साथ था। जीविकोपार्जन के संबंध में हम जिन मनुष्यों के सम्पर्क में आते हैं उनके प्रति भी हमारा कुछ न कुछ कर्त्तव्य बन ही जाता है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में कर्त्तव्य की भावना मिलती है। कर्त्तव्य की भावना सामाजिक भावना का सबसे ऊँचा रूप है।

कर्त्तव्य-पालन के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम अपने कर्त्तव्य को पहचान लें, फिर तदनुकूल काम करें। पिता की आज्ञा का पालन हमारा कर्त्तव्य क्यों है? बालक की अवस्था छोटी है। उसकी विवेक-बुद्धि परिपक्व नहीं है। यदि वह पिता के अनुभवों को ठीक मान कर उसकी आज्ञानुसार

काम नहीं करेगा तो अवश्य कठिनाई में पड़ जायेगा। आगे चल कर हमारी शिक्षा हमें अन्य क्षेत्रों में हमारा कर्त्तव्य बताती है।

पति-पत्नी पर विश्वास करे। क्यों करे? यह इसलिए कि यदि दोनों में विश्वास नहीं है तो कुटुम्ब के जीवन में शांति नहीं होगी। पिता पुत्र का लालन-पालन करे। क्यों? यदि पिता यह काम नहीं करेगा तो पुत्र स्वयम् अपना लालन-पालन तो नहीं कर सकेगा। कितने ही कर्त्तव्य राजकीय नियमों (क़ानूनों) द्वारा सत्य मान लिए जाते हैं। राष्ट्र के हित के लिए यह आवश्यक होता है कि उन कर्त्तव्यों के न करने वालों को दंड दिया जाय। कुछ कर्त्तव्य ऐसे हैं जिनके पालन न करने पर समाज मनुष्य को दंड देता है। परन्तु अधिकांश कर्त्तव्यों के पीछे नैतिक प्रेरणा रहती है। आपको कुछ करना हो तो अपने हृदय से परामर्श लीजिए—स्वार्थ को भुला दीजिये। फिर भीतर से जो प्रेरणा मिले उसके अनुसार काम कीजिये। आप अपना कर्त्तव्य समझ गए होंगे।

कर्त्तव्य पहचान लेने पर भी उसके अनुकूल काम करना कठिन है। इसके लिए कठोर अनुशासन और चरित्र-बल चाहिये। हरिश्चंद्र का कर्त्तव्य था कि वह शैव्या से श्मशान का कर ले परन्तु क्या उसे यह पता नहीं था कि उसकी जीवन-संगिनी के पास उस चिथड़े के सिवा कुछ भी नहीं जिसका एक टुकड़ा वह आप लपेटे है और दूसरे में पुत्र का शव लपेट कर लाई है। उसके हृदय में कितना द्वन्द्व रहा होगा? कितनी मानसिक व्यथा के बाद उसके चरित्र की दृढ़ता ने विजय पाई होगी और उसने कर माँगा होगा। जितनी महान् आत्माएँ हो गई हैं, उन्होंने अपने कर्त्तव्यों को पहचाना है और उनके पालन करने से कभी पराङ्मुख नहीं हुई हैं। उनके जीवन में ऐसे अवसर आए हैं जब वे चौराहे पर खड़े हुए हैं परन्तु उन्होंने शीघ्र ही अपनी दिशा समझ ली और विघ्न-बाधाओं को सहते हुए भी उस ओर बढ़े हैं।

कर्त्तव्य-पालन से एक तो आप ही चित्त को संतोष होता एवम् हृदय को शांति और स्फूर्ति का लाभ होता है। दूसरे, संसार भी संतुष्ट रहता है। उन्नति का बीजमंत्र उच्छृङ्खलता नहीं, संयम है। कर्त्तव्य इसी संयम का पाठ पढ़ाता है। जिस देश में कर्त्तव्य-निष्ठ मनुष्य होते हैं उस देश को दुखी होने का अवसर

कभी आता ही नहीं। दुख की बात है कि हमारे भारतवासी भाई इस बात में पाश्चात्य देशों से बहुत पीछे हैं। पिछली कई शताब्दियों से हममें चरित्रबल का अभाव हो रहा है और इसी कारण हम अपने कर्त्तव्य के पालन में दृढ़ता से प्रविष्ट नहीं होते।

मित्रता

१—भूमिका। सामाजिक जीवन में मित्रता का स्थान। राम और सुग्रीव। २—'जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी' (तुलसी) ३—मित्रता की आवश्यकता क्यों? ४—भर्तृहरि की उक्ति। ५—मित्रता किस प्रकार के मनुष्यों में होती है? ६—मित्र का चुनाव। ७—मित्रता और स्वार्थ।

मनुष्य-मनुष्य के सभी नातों में मित्रता का नाता सबसे बड़ा है। इसका कारण यह है कि उसमें न केवल मनुष्य के भीतर की मनुष्यता का विकास होता है, वरन् यह सचमुच ही अपने को सामाजिक प्राणी सिद्ध करता है। मित्र ने मित्र के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सहे हैं। मित्र के लिए क्या नहीं किया है? सहयोग की भावना का सबसे ऊँचा विकास मित्र में ही देखा जाता है। इसीसे विद्वानों ने बार-बार मुक्तकंठ से मित्रों की प्रशंसा की है। राम ने सुग्रीव से मित्रता निभाने के लिए क्या नहीं किया? वे एक बार अपनी प्रिय पत्नी की ओर से उदासीन हो सकते थे, परन्तु मित्र-धर्म उनके लिए पत्नी-धर्म से कहीं पहले था। उन्होंने पहले बालि को बध करके मित्र का कष्ट दूर किया; अपने ऊपर लाञ्छन लिया; फिर कहीं वे सीता की प्राप्ति में प्रवृत्त हुए।

गोस्वामी तुलसीदास ने तो साफ़-साफ़ कहा है—'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी।' मित्र वह है, जिसे मित्र का दुख रज भर होने पर भी मेरु के समान दिखाई पड़े, जो उसके परित्राण के लिए सर्वस्व बलिदान करने पर तुल जाये। ऐसा मित्र धन्य है।

हम संसार-यात्रा के लिए चल तो अकेले ही पड़ते हैं परन्तु मार्ग में

सदा ऐसे साथी की आवश्यकता होती है, जिससे हम पथ का सुख-दुख कह सकें, जो हमें गिरता हुआ देखे तो हाथ बढ़ा कर हमें सहारा दे; जिसमें हमें अपना आत्म-विश्वास झलकता हुआ दिखाई दे। कष्ट पड़ने पर मित्र कहे; यह तो कुछ भी नहीं है; भय की बात क्या है। क्या हम-तुम डर जाएंगे। हम परस्पर एक दूसरे को दूध पानी की तरह, सहारा देते हुए बढ़ें। वह हमारा केवल शुभेच्छुक ही नहीं हो। उससे हमारा कुछ भी गुप्त नहीं हो। वह हमें अपने हृदय की अत्यन्त सहानुभूति दे सके।

जब हम जीवन के क्षेत्र में पाँव रखते हैं तो हमें अनेक साथी मिल जाते हैं। उनमें से कितने ही हमारे जीवन में आकर निकल भी जाते हैं। परन्तु सच्चा मित्र हमारा अपना अंग हो जाता है। हम समझ ही नहीं पाते कि इतने निकट आ कैसे गया; उसका क्या किया जाय। मित्र के लक्षण बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं—मित्र पापों से बचाता है; मित्र हित की योजना करता है। वह दोषों को छिपाता और गुणों को प्रकट करता है। वह विपत्ति में तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता। ऐसा मित्र सच ही कुबेर की निधि है। 'आपात्त काल परखिए चारी। धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।' धीरज, धर्म और नारी भले ही साथ छोड़ दें परन्तु मित्र अटल रहेगा।

प्रश्न यह है कि मित्रता किस प्रकार के मनुष्यों में होती है। सच तो यह है कि इस विषय में अपवाद इतने हैं कि नियम के रूप में कुछ कहा नहीं जा सकता। साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि समान स्वभाव तथा समान उद्देश्य वाले व्यक्तियों में मैत्री हो जाती है। परन्तु इसके विपरीत भी मित्रता की पराकाष्ठा देखी गई है। इतना ही क्यों, मनुष्य और पशु में भी मित्रता की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। जो हो, मित्रता में एक प्रकार से दो आत्माओं का मिलन होता है। स्वार्थ का लवलेश भी होने पर वह कलुषित हो जाती है। मित्रता लज्जावती (छुई-मुई) की वह बेल है जो स्नेह सहिष्णुता, सहृदयता और सहानुभूति का जल पाकर बढ़ती है और जिसमें स्वर्गीय उल्लास के फूल लगते हैं। अतः 'समानधर्मः मित्रः' वाली बात बहुत दूर तक नहीं जाती। जहाँ उपरोक्त गुण हैं वहाँ धर्म की समानता न होते हुए भी गहरी मित्रता निभ सकती है।

परन्तु कितने गहरे संबंध को मित्रता कहा जाय ? हमारा परिचय कितने ही व्यक्तियों से होता है। उनमें से कुछ से यह परिचय धीरे-धीरे घनिष्ठ हो जाता है। हम उन्हें अपने इतने निकट सम्बन्धी समझने लगते हैं कि उनसे अपनी गुप्त-से-गुप्त बात कह देते हैं। यह संबंध धीरे-धीरे विकसित होता है। साधारण परिचय और उस गहरे परिचय के बीच में, जहाँ से मित्रता का प्रारम्भ होता है, कोई विभाजक-रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी यह अवश्य है कि हमारे कितने ही परिचितों में मित्र एक या दो ही हो पाते हैं।

युवा पुरुष के लिए मित्र जितने आवश्यक हैं, उतना ही उनका चुनाव भी कठिन है। बहुधा ऐसा होता है कि हम ऊपरी आब-ताब पर मुग्ध हो जाते हैं। सुन्दर मुख, कलापूर्ण बात-चीत करने का ढंग, थोड़ी चंचलता, विनोदप्रिय प्रकृति—यही बातें हमें किसी साथी को मित्र समझ लेने के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु जिस प्रकार कसौटी पर कसे विना खरे-खोटे सोने की परीक्षा नहीं होती, उसी तरह सच्चा मित्र वही है जो दुख में हमारा साथ दे, सुख में हमारे आनन्द को दुगना कर दे। जहाँ स्वार्थ है वहाँ मित्रता नहीं। परन्तु स्वार्थी और निःस्वार्थ मित्रों की पहचान करना अत्यन्त कठिन है। नवयुवक को इस ओर विशेष सचेत होना चाहिए क्योंकि यदि वह कुमित्र के चक्कर में पड़ गया तो थोड़े दिनों में वह इतना नीचे गिर जायगा कि उसे स्वयम् अपने पतन पर आश्चर्य होगा। तुलसी ने कहा है :

> 'सुर नर मुनि सब की यह रीती।
> स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

और उनका कथन अक्षरशः सत्य है। युवावस्था ऐसा समय है जब हमारा मन बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने के लिए अत्यन्त कोमल होता है। उस समय बुरी संगति हमारे भविष्य को अंधकार-पूर्ण बना सकती है। अतएव हमें मित्र के चुनने में सावधान रहना चाहिए। प्रत्येक पहला परिचित मित्र नहीं होता।

रामायण से शिक्षा

१—पत्र की भूमिका। २—रामचरितमानस की उपयोगिता। ३—रामायण के आदर्श। ४—मानस में कौटुम्बिक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और पारलौकिक आदर्श। ५—तब और अब से तुलना।

रमेश,

लो तुम्हारी वर्षगाँठ पर मैं तुम्हें यह उपहार भेज रहा हूँ। यह मेरी भेंट है। मेरी समझ में उगती उम्र के तरुणा के लिए इससे अच्छी भेंट नहीं हो सकती।

तुमने इसे देखा। हाँ, यह तुम्हारा परिचित गोस्वामी तुलसीदास का "रामचरित-मानस" है। मैंने तुम्हें इसे बड़ी सुन्दर रीति से पढ़ते हुए सुना है। तुम इसे अवश्य ही पसन्द करते होगे। परन्तु, मैं बता दूँ कि वास्तव में मैंने इस पुस्तक को क्यों चुना।

तुम जीवन में प्रवेश कर रहे हो। संभवतः तुम यह जानना चाहोगे कि जिन घर-बाहर के मनुष्यों के संपर्क में तुम आते हो, उनके प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है और तुम्हें उनसे क्या आशाएँ रखना चाहिए। इस पुस्तक से तुम इस विषय में बहुत कुछ जान सकोगे। इसलिए मैंने यह पुस्तक चुनी है।

परन्तु मुझे और अधिक स्पष्ट हो जाना चाहिये। मैंने 'मानस' को इसलिए तुम्हारे हाथ में दिया कि मेरी समझ में यह आदर्श शिक्षा-ग्रंथ है। जीते रहने के संबन्ध में और सुन्दर रीति से जीवन-यापन के विषय में इतनी सुन्दर शिक्षाएँ किसी एक पुस्तक में, एक स्थान पर, नहीं मिलेंगी। इन शिक्षाओं से आज तीन शताब्दियों से हिन्दू-समाज लाभ उठा रहा है और हम-तुम भी उठा सकते हैं।

रामचरित-मानस की प्रस्तावना में गोस्वामीजी ने लिखा है—

'नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा—
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥'

इससे यह भ्रम हो सकता है कि तुलसी ने इस रचना के प्रणयन के समय बाहर के समाज पर दृष्टि नहीं रक्खी थी। उसमें उनकी अनुभूति की प्रधानता होगी। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। हमारे 'नानापुराणनिगमागम' जीवन के संबंध में ही हमें आदेश करते हैं, उससे भागते नहीं। अतः हिन्दुओं की कोई धर्म-पुस्तक समाज-धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकती है। तुलसी भी नहीं कर सके। उनकी कथा ने भी जीवन के संबंध में आदेश उपस्थित किए हैं। ये आदेश मध्ययुग की जनता के लिए किए गये हैं। ये अब भी पुराने नहीं हुए हैं। इन आदर्शों का संबंध धर्म, समाज, कुटुम्ब और राजनीति से है। इन सभी क्षेत्रों के विषय मे तुलसी को कुछ कहना है।

धर्म के क्षेत्रों में रामायण की शिक्षा क्या है? क्या रामभक्ति? मुख्य रूप से तो तुलसी का उपदेश यही है—

'कलि-मल मथन नाम ममता-हन।
तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन ॥'

परन्तु तुलसी का एक अन्य बड़ा उपदेश भी है। वह है धार्मिक सहिष्णुता। उन्होंने शैव, शाक्त, रामभक्त और कृष्णभक्त सब को अपनी रचनाओं द्वारा एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। शिव राम को पूजते हैं, तो राम शिव की वंदना करते हैं। जहाँ यह भाव है, वहाँ धार्मिक वितंडावाद और मनो-मालिन्य का स्थान ही कहाँ है? हमारे युग के लिए रामभक्ति चाहे उपादेय हो या न हो, परन्तु तुलसी के इस धार्मिक सहकारिता के संदेश को तो किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, बौद्ध अपने-अपने मत के समर्थन के लिए लड़-मर रहे हैं। अपने विशेष सम्प्रदाय के लिए हठ करना और दूसरे के सम्प्रदाय को घृणा की दृष्टि से देखना, ये

बातें हमारे देश की जड़ें खोखली कर रही हैं। क्या हम तुलसी से शिक्षा नहीं ले सकते ?

समाज के क्षेत्र में तुलसी अधिक प्रगतिशील अवश्य नहीं हैं। वे अपने समय से ऊपर नहीं उठ सके हैं। स्त्रियों और शूद्र को उन्होंने ऊँचा स्थान नहीं दिया है—

'ढोल गँवार शूद्र पसु नारी।
यह सब ताड़न के अधिकारी॥'

परन्तु उन्होंने समाज के क्षेत्र में एक ऐसी बात अवश्य उपस्थित की है, जो आज के अछूतोद्धार और नारी उत्थान के युग में भी भुलाना श्रेयस्कर नहीं होगा। वह बात यह है कि समाज के प्रत्येक वर्ग में मर्यादा की भावना हो। उठने-बैठने, मिलने-जुलने और ऊँच-नीच में कोई भी वर्ग उच्छृङ्खल न हो जाए। यह बात शायद आज का समाज निकम्मी समझे। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए समता चाहता है। बाप-बेटे, पति-पत्नी, भाई-बहिन, राजा-प्रजा, वर्ण-वर्ण—किसी में कोई अन्तर नहीं, ऊँच-नीच नहीं, आदर-सम्मान का भाव नहीं। परन्तु तुम देखते हो इस आदर्श ने आज समाज में कितने रोग फैला दिये हैं। कहीं कोई संतुलन ही दिखलाई नहीं पड़ता—

'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन॥
मारग सोइ, जा कहँ जोइ भावा। पण्डित सोइ, जो गाल बजावा॥
गुरु-सिस बधिर-अंध का लेखा। एक न सुनै एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन, सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महँ परई॥

राजनीति के क्षेत्र में तुलसी ने रामराज की सुन्दर कल्पना की है—

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी।
एक नारिव्रत-रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्यसमाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज-पंचानन॥

आज हम प्रजातन्त्र के सिद्धांत को मानने लगे हैं, तो क्या हुआ ? प्रजा वैसी ही सन्तुष्ट हो; शांति और समृद्धि का वैसा ही राज हो; आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नति के लिए सब को उसी प्रकार समान सुविधाएँ सुलभ हों, जैसी राम-राज में थीं; तो क्या यह बात प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगी ? प्रजातन्त्र राज्यों में भी प्रजा को अपना मत प्रगट करने की कितनी स्वतन्त्रता है ? क्या वह उसी तरह टीका-टिप्पणी कर सकती जैसी रामायण की प्रजा। आज शासक वर्ग के सार्वजनिक और व्यक्तिगत जीवन में जितना भेद है; उतना एकतन्त्र साधक राम के जीवन में कहाँ था ? क्या राजा-प्रजा के सम्बन्ध में रामायण कोई शिक्षा नहीं देती। राजनीति में इससे अधिक उच्चादर्श और क्या होंगे—

सौरज धीरज तेहि रथ-चाका। सत्य-शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल-विवेक-दम-परहित घोरे। छमा-कृपा-समता रजु जोरे॥
ईस-भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि शक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

आज राजनीति-क्षेत्र के रथी महात्मा गाँधी इसी धर्ममय अनयुद्ध के आदर्श ही को तो सन्मुख रख रहे हैं।

परन्तु रामायण की सबसे बड़ी शिक्षाएँ तो कौटुम्बिक धर्म के क्षेत्र में हैं। इन पर समय का कोई प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि समाज और राजनीति वह नहीं रहे जो तुलसी के समय में थे, परन्तु कुटुम्ब का सङ्गठन वही चला आ रहा है। वास्तव में राष्ट्र और समाज सब की भित्ति यही कुटुम्ब है। जहाँ इसमें कमजोरी आई कि राष्ट्र गया। इसीसे मैं कहता हूँ, आज भी तुलसी का शिक्षा-ग्रन्थ स्तुत्य है। दशरथ-सा पिता हो, राम-सा पुत्र हो, लक्ष्मण-सा भाई हो, सीता-सी पत्नी हो, हनुमान-सा सेवक हो, सुग्रीव-सा साथी हो तो घर, कुटुम्ब और समाज स्वर्ग बन जाएँ और उनसे वह शक्ति फूटे जो राष्ट्र को नवीन चेतना दे। आज इसके विरोधी आयोजन इकट्ठे हो रहे हैं।

कुटुम्ब के व्यक्तियों में परस्पर स्नेह-सौहार्द नहीं। घर-घर विष की बेल बोई हुई है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् राम का कुटुम्ब हमारे लिये कितना बड़ा आदर्श सामने रखता है।

तुम कह सकते हो, यह आदर्श अब पुराना हो चला है। परन्तु कुटुम्ब का नया आदर्श ही क्या है? पश्चिम में जिसे कुटुम्ब कहते हैं वह सच्चे मानों में कुटुम्ब नहीं। वह तो व्यक्तियों में एक समझौता है। विवाह के बाद पुत्र कुटुम्ब से अलग होकर अपनी पत्नी को लेकर घर बसाता है; उसे पिता-माता की भी चिंता नहीं। यह तो साफ़ बुरा समझौता हुआ। इसके विपरीत हमारे यहाँ का आदर्श क्या बुरा है? आज जो नव-विवाहिता तरुण-तरुणी हैं, जो माता-पिता, सास-ससुर के बोझ को स्वीकार करने में झिझक रहे हैं, वे सोचें तो, वही कल माता-पिता सास-ससुर होंगे। यदि उनके पुत्र, पुत्रबधू भी उनके बुढ़ापे की लकड़ी बनने से इंकार कर दें तो? आज हमारे कौटुम्बिक जीवन में पश्चिम का आदर्श तो स्वीकार किया जा रहा है, परन्तु यह नहीं समझा जाता कि इसका मूल कारण तो आर्थिक परिस्थिति है। जब देश स्वतन्त्र हो जायगा, आर्थिक अभाव इतना नहीं होगा, तब हमें फिर अपनी पुरानी संस्कृति की अच्छाई सूझेगी, अभी नहीं। आज कुटुम्ब का लंगर खोकर नवदम्पतियों का जीवन पारस्परिक कलह और शंका में कटता है। इसका कारण क्या यही नहीं है कि जीवन में स्नेह की भी आवश्यकता है, उसमें गुरुजनों के आशीर्वाद का भी स्थान है।

अब मैं समाप्त करता हूँ। इन बातों को तुम आगे चल कर समझ सकोगे। मैंने यह पुस्तक तुम्हारे हाथ में इसीलिए दी है कि तुम इसे अपने भावी-जीवन की भूमिका बनाओ।

तुम्हारा शुभाकांक्षी—
ललितमोहन

१-४-३६

शीर्षक

ब्रह्मचर्य

१—ब्रह्मचर्य के मूल और रूढ़ अर्थ । २—वैज्ञानिक विवेचना । ३—ब्रह्मचर्य ही तप है । ४—ब्रह्मचर्य की आवश्यकता । ५—ब्रह्मचर्य पालन द्वारा दैहिक, बौद्धिक और शारीरिक उन्नति । ६—आज की परिस्थिति कितनी दुःखद है ।

ब्रह्मचर्य के शाब्दिक अर्थ हैं—ब्रह्म (परमात्मतत्त्व) में विचरण करना अर्थात् उसकी ओर अग्रसर होना । यह वह अत्यन्त उच्च आदर्श है जिसे हमारे मनीषियों ने मनुष्य का लक्ष्य माना है । अब हम उतने ऊँचे अर्थ तक नहीं उठ पाते । अतः आज ब्रह्मचर्य के अर्थ बदल गये हैं—जो जननेन्द्रिय का संयम रखता है, दूसरे शब्दों में जिसका वीर्य ऊर्ध्वरेता है, वह ब्रह्मचारी है । वास्तव में जननेन्द्रिय ही क्या, सारी इन्द्रियों का संयम आवश्यक है, तभी मनुष्य सांसारिक वातावरण से ऊँचा उठ सकता है । यह संयम तो ब्रह्मचर्य की पहली सीढ़ी थी; ब्रह्म तक पहुँचने का साधन मात्र । आज दुर्बलता के वश हमने इसे ही साध्य मान लिया परन्तु फिर भी हम ब्रह्मचर्य-पालन में असफल हैं ।

हम जो कुछ खाते-पीते हैं, उससे रक्त बनता है । रक्त से मांस, मांसपेशियाँ और मज्जा । मज्जा से हड्डी बनती है । परन्तु रक्त से एक चौथी वस्तु भी बनती है जिसे वीर्य कहा गया है । दूध को मथ कर जैसे घी निकाला जाता है, इसी तरह रक्त को मथ कर वीर्य उत्पन्न होता है । रक्त की प्रत्येक ४०-५० बूँदों से १ बूँद वीर्य बनता है । अतः एक बूँद वीर्य नाश होने से उतना ही रक्त क्षीण होता है । साधारण रूप से वीर्य रक्त में मिला रहता है जैसे दूध में घृत, परन्तु उत्तेजना की अवस्था में उससे अलग होकर अण्डकोषों में चला जाता है और वहाँ से मूत्रनालिका के द्वारा पतन को प्राप्त होता है । रक्त में मिला हुआ वीर्य शरीर को हृष्ट-पुष्ट और निरोग करता है । मुख पर कांति लाता है । हड्डियाँ उसके द्वारा पुष्ट और चौड़ी होती हैं और स्नायु इस्पात जैसे हो जाते हैं । मनुष्य अद्भुत शक्ति और उससे भी अद्भुत कांति का स्वामी होता है ।

प्राचीनों ने ब्रह्मचर्य को तप माना है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो नतु मानुषः॥

यह तप मनुष्य को देवता बना देता है। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि जननेन्द्रिय-संयम द्वारा मनुष्य देवताओं के गुण को प्राप्त हो जाता है, उसकी दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है।

ब्रह्मचारी की बुद्धि प्रखर एवं शुद्ध होती है। वह शीघ्र ही क्रोध और क्षोभ के वशीभूत नहीं हो जाता, इसलिए वह प्रत्येक समस्या पर शांत-चित्त से विचार कर सकता है। उसकी स्मरण-शक्ति भी तीव्र होती है। मनन-शक्ति बढ़ जाती है। इन सब गुणों को ध्यान में रख कर ही ब्रह्मचारी विद्यार्थी को अविवाहित रहने का आदेश किया गया था। आज हम उच्च आदर्श से गिर गए हैं। विद्यार्थी जीवन में रहते हुए भी विवाह सम्पन्न हो जाता है। फल यह होता है कि स्मरण-शक्ति का ह्रास होता है; इन्द्रियाँ विषय भोग की ओर जाती हैं और फिर अध्ययन एक बड़ी समस्या बन जाता है, जिसे हल करना कठिन होता है। ऐसी अवस्था में, जब चित्त एकाग्र नहीं है और इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं, ज्ञान की प्राप्ति कैसे संभव है?

देह और बुद्धि ही नहीं, ब्रह्मचर्य से आत्मिक बल भी बढ़ता है। आत्म-निर्भरता, साहस, निर्भीकता आदि देवदुर्लभ गुण ब्रह्मचर्य के साथ स्वतःप्रसूत हो जाते हैं। यही एक गुण है जिनके द्वारा मनुष्य संसार के आश्चर्यजनक काम करते हैं और अपने जीवन में सफलता और यश की पताका फहराते हैं। किन्तु संयम के बिना न शरीर बलवान होता है, न [illegible]। इसलिए हमारे यहाँ विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य की इतनी अधिक [आव]श्यकता समझी गई थी। यही वह समय है जब शरीर, मन और [illegible] का दृढ़ करना जीवन का एकमात्र धर्म हो जाता है।

[illegible] अब समय बदल गया है। स्मरणशक्ति का ह्रास होने लगा है, इससे [illegible] व्यवस्था कर दी गई है कि स्मरण रखने की अधिक आवश्यकता न पड़े। भौतिक बल प्रधानता पा रहा है। राष्ट्रों की दृष्टि जनसंख्या पर है, उसमें वीर्य कितना है, इसकी चिन्ता सुधारकों पर छोड़ दी गई है। नए

प्रकार के नागरिक-जीवन और आर्थिक अभावों ने प्रलोभन इतने अधिक उपस्थित कर दिये हैं कि नवयुवक दुर्दम्य साहस द्वारा ही उनसे पार पा सकते हैं। फल यह है कि आज शौर्य हीनता का मुकुट हमारे देश के सिर पर शोभित है। कभी हमारी माताएँ सिंह जनती थीं, परन्तु वह कथा-कहानी की बात है, आज तो शृगाल हमारी जन-संख्या में वृद्धि कर रहे हैं। असंयमित-जीवन अमिताचार, फ़ैशन, सामाजिक कुरीतियाँ ये सब मिल कर भारतवर्ष को महा-श्मशान की सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं। राष्ट्र का यह धर्म नहीं रहा कि बालकों और लड़कों के ब्रह्मचर्य की ओर ध्यान दे, शिक्षकों का यह धर्म नहीं रहा है कि वे विद्यार्थियों को संयम का पाठ पढ़ाएँ, मात-पिता उन्हें संसार में ठेल कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इधर सब छुट्टी पा गये, उधर चरित्रभ्रष्ट युवक ब्रह्मचर्य का राम-रसायन खोकर वृद्ध शरीर और निष्प्राण साहस के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

अहिंसा

१—अहिंसा से लाभ। २—अहिंसा के परम पुजारी। ३—आजकल अहिंसा की आवश्यकता। ४—महात्मा गांधी। ५—'अहिंसा प्रेम का मूल मन्त्र है'। ६—घृणा से प्रेम और कल्याण नहीं होता।

कदाचित् ही संसार के किसी देश में अहिंसा पर इतना बल दिया गया हो, जितना हमारे इस भारतवर्ष में दिया गया है। जब-जब कोई समाज-सुधारक अथवा महापुरुष इस देश में उत्पन्न हुआ है, तब-तब उसने अहिंसा को अपने उपदेशों का मूल-मंत्र बताया है। हिन्दू-धर्म को ही लीजिए, उसमें असुर-नाशक और खल-मर्दन-कारी देवताओं और देवियों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, और शाक्त और शैव जैसे अनेक ऐसे सम्प्रदाय उसमें सम्मिलित हैं जो शक्ति के उपार्जन को श्रेष्ठ समझते हैं, परन्तु फिर भी हिन्दू धर्म का बीज मंत्र है—अहिंसा परमो धर्मः। प्रत्येक सनातनधर्मी उत्सव के अवसरों पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिख कर और स्वागत द्वार पर लटका कर इस मंत्र का प्रचार किया जाता है।

सच तो यह है कि यह मंत्र ही हमारी सभ्यता का मूल-मंत्र है। हमारी सभ्यता का ही क्यों, इसके बिना तो कोई भी सभ्यता, समाज और संस्था चल ही नहीं सकती। आखिर इसका अर्थ यही तो है कि प्रत्येक प्राणी को दूसरे प्राणी के प्रति सहिष्णु होना चाहिये या आज-कल की परिभाषा में यों कहिए, प्रत्येक को जीने का अधिकार है। यह भारतीयों की विशेषता है कि वह मनुष्य से आगे की बात सोचते हैं। तुलसीदास कहते हैं—

सियराम मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

इसी भावना से भारतीय विचारक प्राणी मात्र के जीने के अधिकार को स्वीकार करता है। यही कारण है कि वह अहिंसा का सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप उपस्थित कर सका है।

हमारे जिस ऋषि ने इस मंत्र की कल्पना की, उसने मनुष्यता के इतिहास में एक क्रांति उपस्थित की है। 'मृत्यु से जीवन की ओर जाओ'—उपनिषद् का यह प्रवचन इसी मंत्र की व्याख्या है। उस ऋषि ने परार्थ को स्वार्थ के ऊपर रक्खा। उसने यह स्वीकार किया है कि जीवन ईश्वर की सृष्टि है, मनुष्य की नहीं, अतः वह पवित्र है, आदर और सम्मान की वस्तु है, संहार और घृणा की नहीं। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति रक्तलिप्सा और स्वार्थपरता है, अहिंसा और परोपकार चिंतन नहीं। इससे अहिंसा का मूल्य और भी अधिक बढ़ जाता है।

कल्पना कीजिए ऐसे समाज की जहाँ अहिंसा को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया गया हो। ऐसा समाज कहीं नहीं मिल सकता। समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन और उसकी इलनैश्रम से उपार्जित की हुई वस्तुओं का अपहरण न करे। जहाँ ऐसा नहीं होगा, सकतीं समाज बन ही नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि कई समाज बन जाएँ, लि.ृ वे एक दूसरे की नोच-खचोट पर जीवित रहते हों परन्तु उनमें से प्रत्येक व्यक्तियों को परस्पर के व्यवहार में अहिंसा से काम लेना पड़ेगा। यदि वे लिखनास में ही कट मरेंगे, तो दूसरे समाज के मुकाबले के लिए वह शक्ति

सम्पन्न कैसे होंगे ? यही कारण है कि पश्चिम के युद्धलिप्त राष्ट्र जो राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा को उपादेय नहीं समझते, घरेलू मामले में अवश्य अहिंसक बने रहते हैं। इसके सिवा चारा ही क्या है ? अपना ही सिर फोड़ लें तो दूसरे पड़ोसी राष्ट्र का सिर कैसे फोड़ें।

अहिंसा-मंत्र को जीवन-दर्शन के रूप में प्रचार करनेवाले पहिले महापुरुष गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) थे, परन्तु यह विचारधारा तो ऐतिहासिक काल से बहुत पहिले से ही हमारे देश में चली आती है। ऋग्वेद में जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव का उल्लेख है। स्वयम् भगवान् बुद्ध से पहले जैन धर्म के २३ तीर्थंकर हो चुके हैं और उनके समकालीन २४वें तीर्थंकर महावीर भी इसी मंत्र का प्रचार कर रहे थे। परन्तु छठी शताब्दी ईसवी के बाद से अहिंसा का व्यापक प्रचार हुआ। बाद में भी जो वैष्णव-धर्म का उत्थान एवं पुनरुत्थान हुआ उसमें भी अहिंसा को मूल नैतिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया गया। कुछ समय के लिए अवश्य ही जनता के एक वर्ग राजपूतों ने इस सिद्धांत को जीवनतत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया था, परन्तु साधारण जनता के विषय में इसमें कोई भी संदेह नहीं कि वह सदैव ही अहिंसक रही है।

हमारे पूज्य नेता महात्मा गांधी ने अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार किया है। वे उसे राष्ट्रीय एवं परराष्ट्रीय कार्यों के लिए भी उपयुक्त समझते हैं। उनका जीवन स्वयं अहिंसा का एक बड़ा भारी प्रयोग है। उनके प्रयोग में राष्ट्र भर ने उनका साथ दिया है। आज अहिंसा के बल पर ही उनका जीवन राष्ट्र का जीवन बन गया है। यदि गांधीजी की कल्पना की हुई अहिंसा संसार में मान्य हुई तो युद्ध—रक्तपात का सदैव के लिए चिह्न ही मिट जायगा। अभी वह केवल एक विशेष देश में (वह भी गुलाम देश में) एक व्यक्ति (एक राष्ट्र के भी कह सकते हैं) प्रयोग के रूप में चल रही है। कल की बात कौन कह सकता है, परन्तु जो भविष्य-द्रष्टा हैं वे कहते हैं कि कल पर शांति का सूत्र अहिंसा के हाथ में ही होगा।

अहिंसा प्रेम का मूल मंत्र है। इसके अर्थ यही नहीं है कि जीव-हत्या न करो, रक्तपात न करो अथवा प्राणी मात्र को शारीरिक वा-

हैं। इनमें वे उद्योग-धंधे भी सम्मिलित हैं जिन्हें लोग अपने प्रधान व्यवसाय के साथ-साथ जीविकोपार्जन में सहायक के रूप में अपना लेते हैं और जिनमें लगे हुए लोगों का कुछ थोड़ा-सा समय ही लगता है।

इस प्रकार के घरेलू उद्योग-धंधे बहुत से हैं। एक ओर कुम्हार और चरस बनाने वाले का सीधा-सादा धन्धा है; दूसरी ओर नगीना या सहारनपुर का बहुत ही बारीक, कलापूर्ण नक्काशी का काम है। आज जो घरेलू धंधे हमारे गाँव और नगरों में चल रहे हैं; वे ये हैं—(१) कपड़े का उद्योग-धंधा—(क) रुई, रेशम और ऊन के कपड़े बुनना, (ख) दरी बुनना, (ग) कंबल बुनना, (घ) मोजे बुनना, (ङ) कपड़े रँगना और छापना। (२) चमड़े का काम—जिनमें खाल उतारना और चमड़े कमाना भी शामिल हैं। (३) बीजों से तैल निकालना। (४) बर्तन बनाना। (५) घी बनाना। (६) लोहे के बर्तन, खेती के औजार आदि लोहारी के हथियारों का काम। (७) ताला बनाना। (८) शीशे-साज़ी। (९) लकड़ी, खपची-काग़ज़ और कपड़े के खिलौने बनाना। (१०) लकड़ी का काम। (११) टोकरी बनाने का काम (१२) सीने का धंधा।

इनमे से बहुत से उद्योग-धन्धों को राज्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। बहुत से ऐसे हैं जिन्हें दो-एक व्यक्ति मिलकर कर रहे हैं; पर आवश्यकता नहीं है कि उनके लिए संघ या सहयोग-समितियाँ या संस्थाएँ बनें। कुछ उद्योग-धंधे ऐसे हैं जो बहुत प्रारम्भिक अवस्था में हैं जिनमें कलों से काम नहीं होता। माँग के अनुसार चीज़ तैयार हो जाती है। कुछ ऐसे हैं कि उनमें बहुत तरह के नमूने चलते हैं परन्तु माँग कम है। यदि इनकी उत्पत्ति बढ़ा दी जाय तो सामान बेकार पड़ा रहेगा। कहीं धन की कोई समस्या ही नहीं है और इस अवस्था में सहायता से कोई लाभ नहीं। किसी उद्योग-धंधे में, जैसे नगीने का लकड़ी का काम लीजिये, लोग एक विशेष प्रकार का सामान बनाने में इतने प्रसिद्ध हैं कि कलों द्वारा उस सामान में न वह विशेषता पैदा की जा सकती, न माँग। इस प्रकार से उद्योग-धंधों को हमें अपने आप पनपने के लिए छोड़ देना होगा।

पहली बात हमें इस प्रकार के उद्योग-धंधों के संगठन के विषय में सिखना है। क्या इनकी उत्पत्ति संगठित है? नहीं। माहकों और साथ

करने वालों के बीच में कोई संपर्क नहीं। इसका फल यह है कि अनादि काल से जो नमूने चलते आए हैं, वही चल रहे हैं या अब उनमें यह पहली विशेषता भी नहीं रही है। हाँ, कुछ उद्योग-धंधे इसका अपवाद हैं। उदाहरण के लिए मुरादाबाद के पीतल के बर्तन का काम है। वहाँ कारखानेवाला काम करने के लिए मज़दूर लगाता है और उन्हें कुछ अपनी सूझ से, कुछ माँग के अनुसार नए-नए नमूने देता है। परन्तु यह संगठन भी बहुत आदिम है और इसमें विकास का कोई स्थान नहीं। हाँ, मिर्ज़ापुर के कम्बल के व्यवसाय में इस तरह की बात नहीं। वह भली-भाँति संगठित है।

जहाँ-जहाँ इस प्रकार के घरेलू या छोटे-छोटे धंधे हैं, वहाँ-वहाँ उनमें जो सामग्री लगती है, उसे बेचने वाले व्यवसायी हैं, जहाँ माँग कम है, वहाँ सामग्री सिर्फ़ पैठ के दिन मिल पाती है। इस प्रकार घूमने-फिरने वाले सौदागर सामान या तो सीधे बनाने वालों से ख़रीदते हैं या थोक कच्चा माल बेचने वालों से। इक्का-दुक्का काम करने वाले और कारख़ानेवाले कुछ नक़द लेते हैं, कुछ उधार चलाते हैं। उधार पर सूद क्या होता है इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता क्योंकि बहुधा सौदा चुप-चुप हो जाता है और लिखा-पढ़ी में दाम बढ़ा कर लिखे जाते हैं। समान मिलने का कोई एक केन्द्र न होने के कारण काफ़ी कठिनाई पड़ती है। एक ओर झूठ-फ़रेब बहुत चलता है, दूसरी ओर कारख़ानेवाले कभी-कभी मजबूर होकर मँहगे दामों ख़रीदते हैं।

बेचने के संबंध में भी अच्छा संगठन नहीं है। कहीं सामान फेरी से बिकता है, कहीं केवल पैठ के ही दिन। कहीं-कहीं गाँवों में बना हुआ माल गाँव में ही ख़रीद लिया जाता है और फिर वह थोक-रूप से नगर में बेच दिया जाता है। अक्सर यह होता है कि सामान बनाने वाले और ख़रीदने वाले में उधार कर्ज़ चलता रहता है। इससे चीज़ अपने असली दामों में न निकल कर सस्ती निकल जाती है। काम करने वाला एक तरह कर्ज़ देने वाले का नौकर हो जाता है और सब मिलाकर इतना भी नहीं पड़ता जितना किसान को उतने ही परिश्रम में पड़ता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जायगा कि छोटे-मोटे उद्योग-धंधे करनेवाले को अपने परिश्रम पर रुपया नहीं मिलता और वह क़रीब-क़रीब मज़दूर बना हुआ

है। बेचने के लिए सुसंगठित बाज़ार नहीं इसलिए उसमें मोल लेने वाला दल्लाल भी काफ़ी फ़ायदा नहीं उठाता। यह आदमी बहुधा महाजन होता है। सूद से उसकी रोटी चलती है। इसलिए वह बेच-खोच कर हर रुपये पर इतना ही बनाना चाहता है जितना वह सूद लेकर बनाता है। काम करने वाले को तो हर हालत में गिने-चुने पैसे मिलेंगे, इसलिए वह अपने काम में जी नहीं लगाता; जैसे-तैसे बना कर छुट्टी पाता है। फल यह होता है कि धीरे-धीरे वह कम निपुण होता जाता है और अन्त में उसके लिए बाज़ार नहीं रहता। इस प्रकार बात तो यह है कि प्रत्येक छोटे-मोटे उद्योग-धन्धे की अपनी समस्या है परन्तु थोड़े में कुछ आम समस्यायें यह हैं :—

(क) कच्चे माल की प्राप्ति का ढङ्ग वैज्ञानिक और अच्छा नहीं विशेष कर सूत और पीतल के पत्तर आदि का। कच्चा माल बनानेवाले किसी तरह अपना माल खपाना चाहते हैं। पक्का माल बनाने वाले किसी प्रकार की छांट नहीं करते। फल यह होता है कि शिल्पी को अच्छी चीज़ नहीं मिलती।

(ख) ठीक ढङ्ग का कचा सामान पाने की कोई व्यवस्था नहीं। जो भी मिले, जिस क़ीमत पर भी मिले, वह लेना। कच्चा माल खरीदने वालों में प्रतिस्पर्धा नहीं; जहाँ है वहाँ उधार क़र्ज़ चलते रहने के कारण बेचनेवालों को कोई विशेष लाभ नहीं।

(ग) शिल्पी को अच्छे नमूने नहीं मिलते। पक्का माल बनवाने वाले इस विषय में कोई परिश्रम नहीं करते। नतीजा यह होता है कि चीज़ें निकम्मी और अनाकर्षक निकलती हैं।

(घ) किस चीज़ की कितनी माँग है, कहाँ माँग है, इन प्रश्नों को कौन समझे-बूझे। फल यह है कि जिन चीज़ों की बिक्री कही जाती है वह इतनी बनती हैं कि बाज़ार उनसे भरा-पुरा रहता है और उनकी बिक्री से लाभ होने का कोई प्रश्न ही नहीं।

सरकार ने इन दोषों को दूर करने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया है, परन्तु अभी तक इस दिशा में अच्छा काम नहीं हो सका है। सरकार के उद्योग-धन्धे के विभाग ने इन विषयों के विशेषज्ञ नियुक्त किये हैं जिनसे परा-

मर्श लिया जा सकता है। साथ ही इन उद्योग-धन्धों से पैदा हुई चीज़ों के निकालने के लिए उसने लखनऊ में अपनी केन्द्रीय दुकान 'गवर्नमेन्ट आर्ट ऐंड क्रॉफ़्ट इम्पोरियम' खोल रक्खी है। इसका एक काम यह भी है कि यह काम करनेवालों के लिए नए-नए नमूने बनवाए और सस्ते दामों में उनका वितरण करे।

भारत जैसे विशाल देश के उद्योगीकरण में करोड़ों रुपये लगेंगे। मशीनों और कलों के लिए लाखों रुपया विदेश चला जायगा और केन्द्रीकरण के कारण करोड़ों मनुष्य बेकार हो जायेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि इन घरेलू छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को जीवित रक्खा जाय। इनसे देश की साधारण जनता की प्रतिभा को विकसित होने के लिए मार्ग मिलेगा और कहीं-कहीं बड़े पैमाने पर पैदा की हुई चीज़ों से इनमें विशेषता रहेगी। जनता के एक बड़े भाग के पास इन छोटे उद्योग-धन्धों को छोड़ कर खाने का कोई ज़रिया है ही नहीं; फिर एक इस अवलम्ब को क्यों छीना जाय? क्यों यह कोशिश न हो कि जनता अधिक से अधिक कमा सके? यह असम्भव है कि सभी उद्योग-धन्धों के लिए बाहरी मशीनें खड़ी की जायें और उत्पत्ति के साधनों का केन्द्रीकरण किया जाय। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार के केन्द्रीकरण को उत्साहित न करे और कुछ चुने हुए धन्धों को सहायता दे।

भारत का उद्योगीकरण

१—भारत के उन्नतिशील उद्योग-धन्धे और उन पर अड़ंगा लगाने की सरकारी नीति। २—हमारे उद्योग-धन्धों के उत्थान-पतन का इतिहास। ३—वर्त्तमान उद्योग—शक्कर, कपड़े और लोहे के कारखाने। ४—उद्योगीकरण के लिये आवश्यक साधन-शक्ति, लोहा, इस्पात आदि।

हमारा देश बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में अन्य देशों से बहुत पीछे है इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। वर्त्तमान समय बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों का है। जो राष्ट्र मोटर, रेल, जहाज़, मशीन, कल-पुर्ज़ों आदि

इसी तरह की वस्तुओं के लिए अन्य राष्ट्रों का परमुखापेक्षी है, उसकी स्वतंत्रता तक खतरे में है। आज कोई देश यह कह कर नहीं चुप बैठ सकता कि हम मूलतः कृषि-प्रधान हैं।

हमारे अपने उद्योग-धंधे थे, जो बड़े क्षेत्र में न सही, किसी केन्द्रीय रूप में न सही, घर के बीच में ही, ग्राम-ग्राम में ही, सारे भारतवर्ष में फैले हुए थे। जब अंग्रेज़ आए तब हमारे बहुत से उद्योग-धंधों की परिचय में धूम थी। परन्तु विदेशियों ने उन्हें नष्ट कर दिया। १६१८ ई० में सरकार ने औद्योगिक जाँच-पड़ताल के लिए कमीशन नियुक्त किया था। उसका कहना है कि जब पश्चिमी यूरोप आदिम अवस्था में था, तब भारत अपने धन और अपनी कला के लिए प्रसिद्ध था। जब पश्चिम के जहाज़ी इस देश में आये, तब भी यहाँ के उद्योग-धंधे किसी भी पश्चिमी राष्ट्र के उद्योग-धंधों से कम उन्नत न थे। पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में हमारे देश में कपड़े के उद्योग-धंधे बड़े उन्नत थे। डाक्टर वाटसन और मोशियो ब्लेन्की ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। उस समय हमारा देश सब प्रकार से औद्योगिक मामलों में स्वाधीन था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हमारे यहाँ यूरोप वालों ने दो नए प्रकार के उद्योग-धंधों का प्रवेश कराया। एक था उपयोगी पौधों का बड़े पैमाने पर उगाने का उद्योग-धंधा, दूसरा फ़ैक्ट्री या मिल का काम। नील, कहवा, चाय और जूट (पटसन) का सारा कारोबार साहबों ने अपने हाथ में ले लिया और उससे बड़ा लाभ उठाया। पहले-पहल मिलें अधिक नहीं खुलीं। अमरीका के गृह-युद्ध के समय कपड़े के व्यापार ने उन्नति की। पहले-पहल बम्बई का नगर केन्द्र बना। बीसियों मिलें यहाँ खुल गईं। १८८० तक दोनों उद्योग-धंधे केवल सीमित क्षेत्र में काम करते थे।

उस समय से पिछले महायुद्ध के प्रारम्भ तक उद्योग धंधों की चाल सुस्त गति से उन्नति की ओर रही। जब स्वदेश प्रेम की लहर उठी, तब हमारे देशवासियों और उनके नेताओं ने इस ओर भी ध्यान दिया। दादाभाई नौरोजी, रानाडे और अन्य देशभक्त औद्योगिक ह्रास से बड़े दुखी थे। धीरे-धीरे अर्थशास्त्र ने स्वदेशी राजनीति के साथ गठबन्धन कर लिया।

१९०५ के बंगाल-विभाजन के आन्दोलन के साथ स्वदेशी और बाइक दो बड़े आन्दोलन उठ खड़े हुए। इस उत्तेजना के समय में स्वदेशी उद्योग-धन्धों को एक बार पुनर्जीवित करने की चेष्टा की गई और सारे देश में छोटे-मोटे घरेलू उद्योग-धंधे प्रतिष्ठित हो गए। कपड़े और जूट के उद्योग-धंधों को इन आन्दोलनों ने बड़ा लाभ पहुँचाया। १९१८ में जमशेद टाटा ने टाटा कम्पनी खोली। भारत के वर्त्तमान समय के उद्योग-धंधों के इतिहास में इस कम्पनी का जन्म एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

महायुद्ध के समय यूरोप से माल आना बंद हो गया। पश्चिम के राष्ट्र जीवन-मरण का प्रश्न सुलझाने में लगे थे। इस समय भारतवर्ष को अच्छा मौक़ा मिला। सरकार ने भी आवश्यकता देख कर सहायता की। हमारे देश में उस समय न मशीनें थीं, न जानकार लोग, परन्तु जो थी, उसी सामग्री को लेकर लोग इस ओर लग गए। बंबई के कागज़, तेल और कपड़े के व्यवसाय ने बड़ी उन्नति की और विदेशों में भी माल बेचा। बंगाल में जूट, कोयला और मदरास में चमड़े, साबुन और जहाज बनाने के उद्योग-धंधे बहुत पनपे।

लड़ाई के बाद १९२० के मध्य में सारे संसार में उद्योग-धंधे की प्रगति अकस्मात् धीमी पड़ गई। १९२९ में फिर औद्योगिक क्षेत्र को बड़ा धक्का लगा। वर्त्तमान महायुद्ध ने फिर एक बार भारतवर्ष के उद्योग-धंधों को सामने ला खड़ा किया है।

अब तक हमने उद्योग-धंधों में जो उन्नति की थी, उसकी गति बहुत ही धीमी रही है। थोड़े से पूँजीपतियों ने उन्हें अपने हाथ में ले रक्खा है। ब्रिटिश सरकार ने उनकी प्रगति में कोई दिलचस्पी नहीं लिया है, युद्ध के समय के सिवा, कभी-कभी उसके मार्ग में रोड़े अटकाने का भी प्रयत्न किया है। जो सहायता उसे मिलती रही है, वह आवश्यकता को पूरी नहीं करती। जो मिली भी है उसमें सहानुभूति का पूरा योग नहीं है। पूँजीपति सरकार से सदैव सतर्क रहते हैं इस कारण वह अपनी सम्पत्ति को नए-नए उद्योग-धंधों में लगाते हुए डरते हैं।

उद्योग-धंधों के लिए 'शक्ति' की आवश्यकता है। हमारे यहाँ ऐसे

अनेक साधन हैं जिनसे 'शक्ति' उत्पन्न की जा सकती है। मनुष्य हैं, पशु हैं, वायु है। लकड़ी का कोयला, पत्थर का कोयला, तेल और पानी है। इनका प्रयोग अभी शतांश क्या सहस्रांश भी नहीं हुआ है। हम यह जानते हैं कि तेल और कोयला (पत्थर का कोयला) अधिक नहीं मिल सकता, परन्तु जल-शक्ति तो इस देश में इतनी प्रचुर है जितनी कदाचित् ही किसी देश में होगी। उससे सहायता क्यों नहीं ली जाती ? वैज्ञानिक आँकड़ों से यह पता चलता है कि सिंध के पश्चिम में जो सात नदियाँ हैं वे प्रत्येक ... सहस्र फ़ीट नीचे उतरने में ३ करोड़ अश्व-बल की शक्ति दे सकती हैं। यही बात अन्य प्रदेशों की नदिया के संबंध में ठीक उतरेगी। परन्तु उसकी ओर ध्यान किसका जाता है ? मैसूर और काश्मीर के देशी-राज्यों ने इस संबंध में थोड़ा-बहुत कार्य भी किया है, परन्तु केन्द्रीय सरकार मुँह पर मुहर लगाए बैठी है।

वर्त्तमान समय में हमारे देश में केवल तीन धंधे-बहुत बड़े पैमाने पर चल रहे हैं। एक सूती कपड़े का दूसरे शक्कर (चीनी) का और तीसरे लोहे और इस्पात का धंधा। शक्कर का उद्योग-धंधा हमारे लिए विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे लगभग २० करोड़ कृषकों की जेबों में थोड़ा-बहुत पैसा आता है। कुछ समय हुआ इस देश का १६ करोड़ रुपया इसी एक शक्कर के द्वारा बाहर चला जाता था। आज हमारा शक्कर का व्यवसाय इतना उन्नत है कि हम निर्यात के लिए भी तैयार हैं, यद्यपि सरकार इस विशेष विषय में सहू-लियतें देने के लिए तैयार नहीं। परिस्थिति इतनी विषम हो गई है कि कहीं-कहीं करोड़ों मन गन्ना खड़ा-खड़ा जला दिया जाता है। हमारी सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय शक्कर कन्वेंशन (सभा) में सम्मिलित होकर इस देश के प्रति विश्वासघात किया है। केन्द्रीय सरकार ने धीरे-धीरे अपनी सहायता का हाथ रोक दिया और यदि प्रांतीय सरकारें कुछ करती भी हैं तो भी उतना लाभ अब नहीं होता। शक्कर के व्यवसाय और उद्योग-धंधों के क्षेत्र में अभी बहुत-सी समस्याएँ हल होना है। हमारे संयुक्त प्रांत को इन समस्याओं में विशेष दिलचस्पी है, क्योंकि यही प्रांत इस उद्योग-धंधे का केन्द्र है।

लोहे-इस्पात का उद्योग-धंधा उन्नतशील राष्ट्रों का प्राण होता है। उसे

अंग्रेजी में "Key Industry" कहते हैं। उसी के द्वारा कलें-मशीनें तैयार होती हैं जिनके सहारे मिलें खड़ी की जाती हैं। प्रत्येक राष्ट्र को यह ध्यान रखना होता है कि कल-पुरज़ों के विषय में वह दूसरे विदेशी राष्ट्र का मुँह नहीं जोहता रहे। प्राचीन समय में हम इस धंधे में कितने निपुण थे इसका सबूत दिल्ली का कुतुब मीनार है जिसमें इतना शुद्ध लोहा लगा है कि आज अनेक वैज्ञानिक साधनों के होते हुए भी हम उतना शुद्ध लोहा कठिनता से तैयार कर सकते हैं। हमारे देश मे वर्त्तमान युग में लोहे की पहली कंपनी (बंगाल आयरन ऐन्ड स्टील कम्पनी) पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों में स्थापित हुई। महायुद्ध के पश्चात् इण्डियन आयरन ऐन्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हुई। इसने नूतनतम आविष्कारों और मशीनों का सहारा लेकर कार्य करना आरम्भ किया। यह सफल भी हुई। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कंपनी जो आज भी काम कर रही है टाटा कम्पनी है। यह कच्चे लोहे के लिए स्थापित हुई थी। अब यह कच्चा-पक्का दोनों प्रकार का लोहा तैयार करती है। इस महत्त्वपूर्ण उद्योग-धंधे का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

फुटकर निबंध

समाचार-पत्र

१—भूमिका। समाचार-पत्र का इतिहास। भारत में समाचार-पत्रों का उदय। २—वर्त्तमान समाज में समाचार-पत्रों का स्थान। ३—समाचार-पत्रों से लाभ। ४—समाचार-पत्र और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण। ५—समाचार क्या है? ६—समाचार-पत्रों का भविष्य। श्री एच० जी० वेल्स का कथन।

समाचार-पत्र का जन्म १६वीं शताब्दी में हुआ। इङ्गलैंड में समाचार-पत्र सत्रहवीं शताब्दी में पहली बार प्रकाशित हुए। उस समय इनका यह रूप नहीं था जो आज है। यह तो मुद्रणकला के विकास का युग है और आज समाचार-पत्र में वह शक्ति है जिसका १६-१७वीं शताब्दी वाले प्रवर्तकों ने कभी अनुमान भी नहीं किया होगा।

हमारे देश में अंग्रेज़ों के आने से पहले कोई भी समाचार-पत्र नहीं था। पहला पत्र जो इस देश में निकला उसका नाम 'इंडिया गज़ट' था। यह सरकारी पत्र था। इसके बाद ईसाई पादरियों ने समाचार-पत्र निकाले। इनमें एक 'समाचार-दर्पण' था। इस क्षेत्र में देशी प्रयत्न राजा राममोहन राय की "कौमुदी" और ईश्वरचन्द्र के "प्रभाकर" से हुए। फिर धीरे-धीरे अनेक पत्र निकले। १८३५ में प्रेस की स्वतंत्रता की घोषणा की गई। इसने समाचार-पत्रों की प्रगति में बड़ी सहायता की।

आज प्रत्येक प्रान्त की अपनी भाषा में अनेक समाचार-पत्र हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र अंग्रेज़ी में भी छपते हैं। जहाँ दस-पन्द्रह वर्ष पहले समाचार-पत्र के पढ़ने वालों की संख्या नगण्य थी, वहाँ आज मज़दूर-किसान के हाथ में भी पत्र देखा जा सकता है। देश में इधर जो राजनैतिक आन्दोलन हुए हैं उन्होंने पत्रों की माँग भी बढ़ा दी है। आज अनेक पत्रों के अपने विशाल मुद्रण-भवन हैं, नए ढंग की लाइनो-मशीनें हैं, प्रेस-एजेंसियाँ हैं। अनेक रिपोर्टर और लेखक उसमें सहयोग करते हैं और वे एक प्रकार से सरकार और जनता के बीच में शृंखला का काम कर रहे हैं।

पत्र पढ़ने से जो मनोरंजन होता है, उसकी बात तो कहनी ही क्या ? हम सब जो पत्र पढ़ते हैं, वे जानते हैं कि यह कितना बड़ा नशा है। खाट से उठो तो पत्र मिले, नहीं तो तबीयत बेचैन है। २४ घंटे में क्या नहीं हो सकता ? विशेषतः आज के दिनों में जब क्षण-क्षण संसार का मान-चित्र बदलता है। परन्तु मनोविनोद के अतिरिक्त समाचार-पत्र शिक्षा के अनेक आवश्यक अंगों की भी पूर्ति करता है।

पत्र वह सबसे बड़ा साधन है जिसके द्वारा जनता को एक विशेष मत की पुष्टि के लिए तैयार किया जा सकता है अथवा जिसके द्वारा जनता का मत जाना जा सकता है। समाचार-पत्र को कई महत्त्वपूर्ण काम करने पड़ते हैं। वह जनता के विचारों का दर्पण है; वह प्रत्येक सदोद्देश्य का सहायक है; वह अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाला सूर्य है; वह नागरिक-जीवन के अधिकारों की रक्षा करने वाला है। समाचार-पत्र शोषण का विरोध कर सकता है और अफ़वाहों तथा शर्मनाक झूठी खबरों का खंडन करके जनता

को सत्य के दर्शन करा सकता है। एक वाक्य में, समाचार-पत्र प्रजातंत्र की सबसे बड़ी शक्ति है।

किसी समय उपन्यासों और कथा-कहानियों का युग था। आज इन सब मनोरंजनों का शहरी जीवन में वह स्थान नहीं जो समाचार-पत्र का है। इसका कारण यह है कि आज किसी को इतना अवकाश नहीं कि वह बड़ी-बड़ी रचनाओं को संतोषपूर्वक पढ़ सकें। दूसरी बात यह है कि समाचार-पत्र में मनोरंजन की काफ़ी सामग्री रहती है। उसमें धारावाही उपन्यास भी रह सकता है और साप्ताहिक कहानी भी। समाचार तो मिलते ही हैं। इनके सिवा उसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के लेख भी रहते हैं। कम से कम स्थान में अच्छी से अच्छी पाठ्य-सामग्री जब इतने थोड़े मूल्य में प्रतिदिन प्रातःकाल को आपके घर आ जाय तो फिर आप उसे क्यों अस्वीकार करेंगे?

किसी देश की उन्नति के जाँचने का एक ढङ्ग यह है कि यह पता लगाया जाय कि जीवन के ऊँचे आदर्श और महापुरुषों की रचनाएँ उसकी साधारण जनता में कितने नीचे तक छन कर आई हैं; परन्तु यह बात किस तरह संभव है? हम देखते हैं कि जहाँ लाखों व्यक्ति के पास न पुस्तकें पढ़ने के लिये समय है, न धन, वहाँ वे समाचार-पत्र अवश्य पढ़ते हैं। अब यदि समाचारों के साथ महापुरुषों के वाक्य, ऊँचे नैतिक सिद्धान्त, लेखकों की रचनाएँ और इसी तरह कला-कौशल की बातें भी दी हुई हैं तो समाचार-पत्र का पाठक अनायास ही शिक्षित और सुसंस्कृत हो जायगा।

आज समाचार-पत्र का इतना प्रचार होते हुए भी उसके सम्बन्ध में सच्ची जानकारी बहुत अधिक नहीं है। म्यूनिक यूनीवर्सिटी के एक प्रोफ़ेसर का कहना है, "चाहे उन्हें लो जो समाचार-पत्र पढ़ते हैं या उनकी बात लो जो समाचार-पत्रों में लिखते हैं, वे लोग समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में सबसे कम जानते हैं।" यह बात बहुत ठीक है। पत्र सम्वाद किस प्रकार प्राप्त करते हैं? फिर उन्हें किस तरह काट-छाँट कर हमारे सामने रखते हैं? पत्रों को किस प्रकार पढ़ना चाहिये? दो विरोधी समाचारों को पढ़ कर सत्य की गहराई का पता किस तरह लगाया जाय? ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनको वे सैकड़ों आदमी नहीं जानते, जिनका पत्रों से रोज़ का सम्बन्ध है। यह दशा हमारे देश

में विशेषतः है। पश्चिम के देशों में विद्यार्थियों को समाचार-पत्र का पढ़ना सिखाया जाता है। वे उनके पाठ्यक्रम में रहते हैं। समाचार-पत्र के द्वारा जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में ठीक-ठीक दृष्टिकोण कैसे बनाया जाय? किन विषयों के लिए किस प्रकार के समाचार-पत्र देखे जायें? बड़े-बड़े विद्यालयों में पत्र-सम्पादक, सम्वाद-दाता आदि पत्र-सम्बन्धी परीक्षाएँ भी होती हैं। इससे बड़ा लाभ हुआ है। एक तो जनता की रुचि परिमार्जित हुई है और वह अपने लिए अपनी रुचि का पत्र चुन सकती है। इस प्रकार किसी एक ही पत्र को सभी भिन्न-भिन्न रुचियों को प्रसन्न रखने की हास्यास्पद चेष्टा नहीं करनी पड़ती। दूसरे, समाचार-पत्रों का सम्पादन भी वैज्ञानिक हो गया है। आपको चुने हुए समाचार मिलेंगे और वे समाचार इस ढङ्ग से रक्खे होंगे कि आप पहली नज़र में ही उन्हें पा सकेंगे।

हमारे देश की दशा विचित्र है जहाँ और देशों में सम्पादक और पाठक अनेक रीतियों से परस्पर पास आकर नई स्फूर्ति पाते रहते हैं, वहाँ यहाँ के सम्पादक जनता से दूर रहने में ही अपनी भलाई समझते हैं। उनके पास पहुँचना लाट के पास पहुँचना है। उन्हें न जनता से सहानुभूति है, न उसके दृष्टिकोण को समझना है। इसका फल यह हुआ है कि जहाँ एक ओर जनता में उदासीन भावना की वृद्धि हुई है, वहाँ समाचार-पत्रों के सम्पादकों और व्यवस्थापकों में आत्म-विश्वास का नाम नहीं।

समाचार क्या है। इस विषय में कोई भी एकमत नहीं है। कुछ कहते हैं कि जो कुछ भी घटे या जिस बात का घटना सम्भव है, वह समाचार है। दूसरे लोग कहते हैं कि समाचार असाधारण घटना का नाम है, जो आकस्मिक हो, जो नाटकीय हो। फिर समाचार को पाठक के सामने रखने का प्रश्न आता है। क्या रिपोर्टर उसे ज्यों-का-त्यों रख दे या उसकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना करे? सच तो यह है कि जो भी समाचार सामने रक्खा जाय उसमें कहानी का तत्त्व हो। कहानी कह चुकने के बाद कहानीकार को चुप हो जाना चाहिये। उसका काम खत्म हो गया। समाचारों के सम्बन्ध में भी यही बात है। समाचार को उसके अपने रूप में जनता के सामने

रख देने पर रिपोर्टर का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है। उसके लिए प्रथम पुरुष सर्वनाम का कोई महत्त्व नहीं।

वर्त्तमान सभ्य-संसार में समाचार-पत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भविष्य में इसका महत्त्व और भी बढ़ेगा। अपनी एक पुस्तक में समाचार-पत्रों के भविष्य के संबंध में लिखते हुए मि० एच० जी० वेल्स कहते हैं: 'संभव है निकट-भविष्य में समाचार-पत्र के रूप-रंग और आशय में महान् परिवर्त्तन हो जाएँ, परन्तु यह सत्य है कि जितना राजनैतिक महत्त्व उसका आज है, उससे अधिक कभी भी नहीं हो सकता। प्रचार की दृष्टि से आवागमन के साधनों की सुगमता के कारण यह सम्भव हो जायगा कि कुछ दैनिक ऐसे निकलें जो संसार भर को समाचार दे सकें और उनके प्रत्येक घन्टे के नए-नए संस्करण छपें। उस समय प्रान्तीयता और एक देशीयता की भावना का लोप हो जायगा।'

व्यवसाय का चुनाव

१—भूमिका। २ व्यवसाय का चुनाव क्यों आवश्यक है? ३—यह चुनाव कब हो? ४—यह चुनाव कौन करे और इसमें किन बातों का ध्यान रक्खा जाय? ५—व्यवसाय के चुनाव के संबंध में आजकल की परिस्थिति।

शिक्षा समाप्त करने के बाद नवयुवक के सामने यह प्रश्न आता है—वह कौन व्यवसाय चुने? अपने जीवन-यापन के लिए वह क्या करे? क्या वह वकील बने, या डाक्टर या शिक्षक या सैनिक? सच तो यह है कि यह प्रश्न उसके सामने बहुत पहले उसी समय आता है जब वह उच्च शिक्षा के लिए किसी कालेज या विश्वविद्यालय में भरती होने लगता है।

आजकल जीविकोपार्जन की समस्या बड़ी कठिन है। जहाँ देखो वहाँ बेकारी का साम्राज्य है। उद्योग-धंधे थोड़े हैं और कलों के कारण उनमें अधिक मनुष्यों की आवश्यकता भी नहीं। जिस उद्योग-धंधे के लिए पहले दस आदमी काम में लगते थे उसके लिए आज एक मशीन पर दो ही आदमी चाहिए। फल यह हुआ है कि प्रतियोगिता बढ़ गई है। लोग काम करने के लिए तैयार हैं पर जब काम मिले भी।

कुछ दिन पहले की बात है। मशीनों का आविर्भाव नहीं हुआ था अधिकांश उद्योग-धंधे घरेलू थे। मनुष्य को व्यवसाय के चुनने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। खेती थी, व्यापार-वाणिज्य था, दस्तकारी थी, मज़दूरी थी, नौकरी थी। पिता जिस काम को करता उसी काम में बेटा हाथ डालता और इतनी दक्षता से उसे करता कि प्रतियोगिता और स्पर्धा की जगह ही नहीं रहती। वह ज़माना ही और था। एक कमाता, और दस खाते और उसका यश गाते।

आज परिस्थिति दूसरी है। संसार के सभी देशों की आर्थिक स्थिति डाँवा-डोल हो रही है। खानदानी पेशे रह नहीं गए हैं। जिसकी जो रुचि है वह सीखे, जो चाहे उस व्यवसाय को जीविकोपार्जन का साधन बनाए।

जहाँ एक ओर यह बात ठीक है, वहाँ यह भी देखा जाता है कि इस युग में मनुष्य अनिश्चित हो रहा है। प्रतिस्पर्धा के कारण उसे यह निश्चय नहीं कि वह सब कुछ सीख-समझ कर रोटी की समस्या को हल कर लेगा। इसी निश्चय के कारण अधिकांश लोग उचित व्यवसाय नहीं चुनते। परिस्थिति का भी बड़ा हाथ है। कुछ लोग परिस्थिति-वश ऐसे व्यवसाय चुन लेते हैं जिनके योग्य वे किसी भी प्रकार नहीं होते। कुछ लोग सोचते ही नहीं कि कौन काम उनसे सधेगा। नतीजा दोनों का बुरा होता है। आप में काम करने की रुचि होना चाहिए और योग्यता होनी चाहिए, तभी आपको किसी विशेष व्यवसाय में लाभ हो सकता है। यदि आपके व्यवसाय और रुचि में मेल नहीं बैठता तो आप विश्वास मानिए, आपका जीवन सुखी और शांति-मय नहीं होगा। बात यह है कि मनुष्य को अपने व्यवसाय में आनन्द मिलना चाहिए। तभी वह उसमें उन्नति कर सकता है, और यह बात तब तक नहीं होती जब तक उसका चुना हुआ व्यवसाय उसे रुचिकर न हो तब, व्यवसाय का चुनाव करने से पहले हमें क्या सोचना है? सबसे पहले रुचि का ध्यान रक्खा जाए। युवावस्था के प्रारम्भ में ही मनुष्य की रुचि समझी जा सकती है। परन्तु, किसी युवक की रुचि क्या है, इसका निश्चय कौन करे? क्या वह आप तय करे, या उसके अभिभावक? अमरीका में अनेक वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं जो युवकों की परीक्षा करके उनकी रुचि का पता लगाती

हैं और इस विषय में उन्हें सलाह देती हैं। हमारे यहाँ ऐसी बात नहीं। कभी-कभी विशेष प्रलोभन के कारण हमारे युवक किसी विशेष व्यवसाय को चुन लेते हैं और यह मान लेते हैं कि उन्हें उसमें रुचि है चाहे उनकी प्रवृत्ति उस ओर कुछ भी न हो। वास्तव में रुचि का पहचानना बड़ा कठिन है। जब एक बार रुचि पहचान ली जाये तो युवक प्राण-पण से उस विशेष व्यवसाय के संबंध में ज्ञानार्जन करने में लग जाए यही सफलता की कुञ्जी है।

रुचि के अतिरिक्त व्यवसाय के चुनाव में इस बात का ध्यान भी रक्खा जाय कि पात्र में शारीरिक और मानसिक इतनी योग्यता भी है कि वह उस विशेष व्यवसाय में अध्यवसाय के साथ लग सकता है या नहीं? यदि किसी व्यवसाय में शारीरिक बल की अपेक्षा है परन्तु पात्र में रुचि होते हुए भी उसका अभाव है तो वह उस व्यवसाय में सफल नहीं हो सकेगा। मानसिक योग्यता के संबंध में भी यही कहा जा सकता है। केवल रुचि समझ लेने से कोई विशेष व्यवसाय सध नहीं जाता। यदि किसी की बुद्धि कुशाग्र नहीं तो फिर वह वकालत ही क्यों चुने? माना, चाहे उसे रुचि हो भी।

मनुष्य जो करता है उसका उसके चरित्र पर प्रभाव पड़ता है। यह बात नितान्त सत्य है। इसलिए आदमी ऐसा काम कभी न चुने जिसमें चरित्र भ्रष्ट होने की आशंका हो या एक क़दम बढ़ने पर वह नैतिक पतन के गर्त में गिर सकता हो। आचरण की शुद्धता और विचारों की उच्चता को बनाए रखने की चेष्टा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है और व्यवसाय को चुनते समय यह ध्यान होना चाहिए कि वह व्यवसाय जीवन और मनुष्यता के ऊँचे आदर्शों से मेल खाता है या नहीं।

आज-कल माता-पिता बालकों की प्रवृत्ति की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे यह नहीं सोचते कि जिस बालक पर वह इतना खर्च कर रहे हैं वह उस विशेष शिक्षा के लिए ठीक भी है या नहीं? वे इस प्रश्न को हमेशा आगे के लिए टालते रहते हैं। फल यह होता है, बालक के कितने ही वर्ष ऐसी शिक्षा में समाप्त हो जाते हैं जो उसे किसी भी प्रकार सहायता नहीं देगी। उन्हें चाहिये कि वे बालकों की रुचि का अध्ययन करें और उन्हें ऐसे व्यवसायों में लगाएं जिनमें कठिन प्रतियोगिता न हो। हमारे माता-पिता

इतने साहसी नहीं होते कि बालक के लिए ऐसा व्यवसाय चुन सकें जिसमें वह अपने साहस का परिचय दे सके। वे उसे सीधे-सीधे, 'महाजनः य गतः स पंथः' वाले रास्ते पर चलने का आग्रह करते हैं और जब बाद में अधिक प्रतियोगिता के कारण उसे उसमें उत्तीर्ण होने में असफलता होती है या आय कम मिलती है तो दोष भाग्य को देते हैं।

देशाटन के लाभ

१—भूमिका। २—मनोरंजन; ज्ञान-वृद्धि; व्यावहारिक ज्ञानोपार्जन; स्वास्थ्य-लाभ। ३—वर्त्तमान युग में देशाटन के साधनों की सुगमता। ४—हमारा देश और देशाटन-प्रियता।

देश-विदेश के भ्रमण को देशाटन कहते हैं। मनुष्य की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि वह अधिक से अधिक ज्ञान संचित करना चाहता है। एक स्थान पर जमे रहने से इस प्रकार के ज्ञान की वृद्धि होना संभव नहीं है। इसीसे सभी काल और सभी देशों में मनुष्य देशाटन-प्रिय रहे हैं और ऐसे मनुष्यों के द्वारा राष्ट्र, समाज और स्वयम् ऐसे मनुष्यों की बहुत उन्नति हुई है।

बुद्ध ने भिक्षुओं का एक सङ्घ ही बना दिया था। उन्होंने कहा था—'भिक्षुओ! धर्मचक्र को द्रुतगति से चलाने के लिए पर्यटन करो। दूर देशों में जाओ जहाँ तथागत का धर्म नहीं पहुँचा हो।' आर्य-जाति प्रकृति से ही भ्रमणशील रही है। ईसाई धर्म-प्रचारकों की भ्रमण-प्रियता लोक-प्रसिद्ध है। इन्हीं देशाटन-प्रिय प्रचारकों ने अफ्रीका और अमरीका के अनेक ऐसे स्थानों का पता लगाया जिनका सभ्य संसार को कभी ज्ञान नहीं था। अलबरूनी, ह्वॉनसॉंग, कोलम्बस, वास्कोडिगामा, लिविङ्गस्टन आदि, अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति जन्म भर देश-देशान्तरों में घूमते-फिरते रहे हैं उन्होंने मनुष्य के ज्ञान में इतनी वृद्धि की है कि उनका महत्त्व ऐतिहासिक हो गया है।

यदि आप किसी भ्रमण-वृत्तान्त को पढ़ें तो आपको मालूम होगा कि संसार कितना रोचक है। उसकी यह रोचकता कितने ही व्यक्तियों के लिए

महान् आकर्षण रही है। सहस्रों मीलों की भयंकर यात्रा करने के बाद यात्री अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचा है। सैकड़ों व्यक्ति इन यात्राओं में मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। उनका इतिहास में कोई स्थान नहीं है। परन्तु वे साहसी पुरुष काल के पृष्ठ पर अमिट छाप छोड़ गए हैं। सच्चे भ्रमण-वृत्तान्तों की बात जाने दीजिए। इनके आधार पर सैकड़ों कहानियाँ लिखी गई हैं जो आज हमारे बीच में हैं। सिन्दबाद जहाज़ी की कहानियाँ भ्रमण-वृत्तांत के सिवा क्या हैं? होमर का कथा काव्य 'उडेसी' (Oddessey) भी एक भ्रमण-वृत्तांत ही है।

आज विज्ञान के आविष्कारों ने परिस्थित में परिवर्त्तन कर दिया है। आज देशाटन उतने जीवट की चीज़ नहीं रह गया है। यात्रा के साधन सुगम और सुलभ हो गए हैं। रेल, जलयान, वायुयान, मोटर, इनके सहारे मनुष्य कहाँ नहीं जा सकता? आज सारा संसार एक छोटा-सा घर बन गया है और दूर देशों के निवासी कुटुम्बी हो गए हैं। इनसे कई लाभ हुए हैं। अब देशाटन करना असाधारण बात नहीं है। उसमें न वह रोमांच ही रह गया है, न जोखम ही। इसीसे अब यह लोक-प्रिय आमोद हो गया है। बड़ी-बड़ी छुट्टियों के समय रेलवे-संस्थाएँ और जहाज़ी कम्पनियाँ इस प्रकार की व्यवस्था करती हैं कि यात्री को थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक स्थान दिखा दिया जाए। आज देशाटन से होने वाले लाभ सबके लिए सुलभ हैं।

देशाटन ज्ञान-वर्धन का सबसे बड़ा साधन है। भौगोलिक ज्ञान की बात लीजिए। पुस्तकों द्वारा हम भूगोल समझ लेते हैं परन्तु उसकी यथार्थता हमें हृदयङ्गम नहीं होती। काश्मीर पर एक पुस्तक पढ़ने से यह कहीं अच्छा हो कि हम स्वयम् वहाँ जाकर पहाड़, ताल, झीलें, नदियाँ देख सकें; वहाँ के मनुष्यों से जीवित सम्पर्क बनाएँ; उनके रहन-सहन को देखें और उससे निष्कर्ष निकालें। इतिहास के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही बात है। अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान हैं। उनको देख लेने के बाद ऐतिहासिक सत्य शुष्क ज्ञान की चीज़ नहीं रह जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि देशाटन के बिना पुस्तकों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान अधूरा ही रहता है। उस ज्ञान को अपने

लिए सत्य और सरस करने के लिए हमें उसे सीधे देशाटन से कुछ सीखना होगा। पुराने लोग कहते हैं—आदमी अनुभव से बनता है। यह इसी बात को सूत्र-रूप में कहना है। अनुभव किताबों के सूखे तथ्यों से ऊपर है, अतः श्रेष्ठतर है।

देशाटन से केवल ज्ञान ही नहीं बढ़ता, स्वास्थ्य-लाभ भी होता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि यात्री प्रत्येक स्थान पर अपना थोड़ा समय दे और उसका जलवायु का अनुभव करे। जो लोग प्रकृति के अनेक सौन्दर्यमय रूपों की छटा लेना चाहते हों वे उनके लिए कुछ समय और धन दे सकते हैं। प्रकृति का सम्पर्क मनुष्य को ऊँचा बना देता है। वह मन को शांत करता है और स्नायुओं को बल देता है। फिर ऐसा शुद्ध, प्राकृतिक मनोरंजन और कहाँ?

अनेक देश हैं। अनेक संस्कृतियाँ हैं। देशाटन करने वाला इनसे परिचित होता है। इस संसार की आत्मा को जितना निकट होकर जानता है उसको अनेक विद्याओं का जानने वाला, एक घर-बैठा अध्यापक नहीं। प्रत्येक देश की सहस्रों कला-कृतियाँ जिसके सामने आयेंगी; वह उन-उन देशों को अधिक समझेगा या पुस्तकों के पृष्ठों को टटोलने वाला? फिर देशाटन-प्रिय मनुष्य अपने अनुभव को अपने विशेष देश और अपनी विशेष जाति के सामने रक्खेगा; अन्य राष्ट्रों में सामाजिक, राजनैतिक, औद्योगिक अनेक विशेषताएँ होंगी, उनके आधार पर अपने यहाँ नए-नए प्रयोग करेगा। उसकी सहानुभूति विस्तृत होगी। कठिनाई के समय लोग उसकी ओर देखेंगे और उसके विशाल अनुभव से सहायता की याचना करेंगे।

कभी हमारे देश ने द्वीपांतरों में उपनिवेश स्थापित किए थे। तिब्बत, चीन, यूनान, बरमा, जावा, बालि—हमारे देशबन्धु कहाँ नहीं गए? यह जब, जब यात्रा के साधन इस समय की तुलना में कुछ भी नहीं थे। फिर जाति के ह्रास का एक युग आया। उन्हीं पर्यटन-प्रिय आर्य जाति के वंशज इतने भीरु हो गए कि उनके धर्म ने समुद्रयात्रा का निषेध कर दिया। परन्तु अब वह परिस्थिति नहीं रही है। यह धार्मिक बाधा दूर हो गई है।

मनोरंजन के आधुनिक साधन

१—भूमिका। २—मनोरंजन की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता। ३—प्राचीन और आधुनिक मनोरंजन। ४—घरेलू मनोरंजन। ५—मनोरंजनों के परिष्कार की आवश्यकता और राष्ट्रीय जीवन में मनोरंजनों का स्थान।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के कठिन कार्य में लगा हुआ है। कोई रोजगार करता है, कोई साहित्य-रचना, कोई कचहरी दरबार। उसको दिन भर अपने मन को सतर्क और सक्रिय रखना होता है। बात यह है कि बाह्य जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सामग्री जुटाए बिना काम नहीं चलता। और इस प्रकार की सामग्री जुटाना कम से कम आज हमारे युग में सरल काम नहीं है। जब दिन का काम समाप्त हो जाता है तो मन आगे बढ़ कर कहता है—मुझे भी कुछ चाहिये जिससे मेरी थकान दूर हो, मुझमें उत्फुल्लता आए।

वास्तव में मनोरञ्जन के पीछे यही छिपा मनोविज्ञान है। जब हमारा मन परिश्रम से थक जाता है या राग-विराग के घात-प्रतिघात से व्यथित हो उठता है तो वह हमसे हलके खेल माँगता है जिसमें वह सरसता और प्रफुल्लता प्राप्त कर सके। प्राचीन समय में भी अनेक खेल-तमाशों की व्यवस्था की गई थी, परन्तु उस समय जीवन अधिक सरल था। जीवन-यापन के साधन सुलभ थे। अतः उस समय मनुष्यों को मनोरञ्जन की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी आज हमें है; जब जीवन एक कठिन वस्तु बन गया है और उसमें सरसता की मात्रा अधिक नहीं रही है।

समय और रुचि-परिवर्त्तन के साथ मनोरञ्जन भी बदले हैं। यदि मनोरंजनों का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाय तो उससे मानव-जाति की भावनाओं और विचारों में उन्नति का एक अच्छा-खासा चित्र तैयार हो जायगा। रोम के लोग भैंसों की लड़ाई देखा करते थे। वे उन्हें मद से मस्त कर देते थे और जब भैंसों के सिर टकरा टकरा कर चूर-चूर होते और वे आर्तनाद करते तो इधर अट्टहास कोलाहल उठता। निरीह गुलामों को सिंह के पिंजरे में छोड़

दिया जाता और उनकी तड़प के मज़े लूटे जाते। हमारे देश में भी मृगया-आखेट का बड़ा प्रचार था। द्यूत, नृत्य और गीत आर्यों के प्रिय मनोरञ्जन रहे हैं। लोग मद पान करके ऐसे उत्सवों में शरीक होते जिनमें इस प्रकार के मनोरञ्जनों का आयोजन होता। इनमें से अकेले द्यूत ने कितने भयङ्कर परिणाम उपस्थित किए, इससे महाभारत का कोई भी पाठक अपरिचित नहीं होगा।

आज परिस्थिति बदल गई। युग की रुचि में भिन्नता है। पहले मनोरञ्जन धनाढ्यों और राजा-महाराजाओं की वस्तु थी। आज साधारण जन को भी सुरुचिपूर्ण मनोरञ्जन मिल गये हैं। वस्तुतः आज के मनोरञ्जन जनसाधारण की अभिरुचि से ही अधिक परिचालित हैं, धनाढ्यों की अभिरुचि से कम। क्योंकि उनमें जो व्यय होता है, वह थोड़ा-थोड़ा करके जनता की जेब से ही आता है। पहले भारतीय जन-समाज कठपुतली के नाच, और नाटकों में मनोविनोद प्राप्त करता था। एक समय था जब लोग बाज़ीगरों के खेलों में बड़ी रुचि रखते थे। आज पश्चिम ने हमें एक नया सहायक दिया है, जिसने जनता की रुचि पर भी प्रभाव डाला है। यह सहायक विज्ञान है। आज से सौ सवा-सौ वर्ष पूर्व ही नहीं वरन् पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व ही जो मनोरञ्जन के साधन प्रचलित थे वे आज हवा हो गए हैं। विज्ञान ने हमें नए मनोरञ्जन दिये हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—ग्रामोफ़ोन, सिनेमा, रेडियो।

अभी बीस-पच्चीस वर्ष हुए हमारे देश में ग्रामोफ़ोन का बड़ा प्रचार चल गया था। मध्य-वर्ग की जनता इस पर लट्टू थी। आज उसका इतना प्रचार नहीं है। ग्रामोफ़ोन ने नाच-गाने को सर्व-सुलभ कर दिया। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गवैयों और वाद्य-यंत्र-विशारदों के रिकार्ड भरे गए और वे नगर से निकल कर गाँव तक पहुँच गए। जन-साधारण संगीत के ऊँचे कलापूर्ण पक्ष से परिचित हुआ। अब सिनेमा की बारी आई। सिनेमा में नृत्य, गान, वाद्य के साथ नाटक का भी संयोग हुआ। इनको समझने और इनसे आनन्द उठाने के लिए किसी बड़ी शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसका फल यह हुआ कि थोड़े ही समय में सिनेमा सर्वप्रिय मनोरञ्जन बन गया है। आज सिनेमा से आठ-दस आने रोज़ाना पैदा करने वाले, इक्के वाले और मिल-

मज़दूर भी थोड़े खर्च से सप्ताह में एक-दो बार मनोरञ्जन प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु रेडियो अभी सर्वसाधारण तक पहुँच नहीं सका है। वह केवल ऊँची आय वाले नागरिकों के मनोरञ्जन की चीज़ है। यद्यपि गवर्नमेन्ट ने एक बार देहातों में रेडियो लगाने की योजना उपस्थित की थी, परन्तु वह अर्थाभाव के कारण अधिक सफल नहीं हो सकी। रेडियो-सेट का मूल्य १५०-२०० रुपये होता है। साधारण किसान-मज़दूर इतना रुपया मनोरञ्जन पर खर्च नहीं कर सकता। परन्तु निकट भविष्य में ऐसा समय आयेगा जब रेडियो सस्ता हो जायगा और उससे मनोरञ्जन प्राप्त करना व्यय-साध्य होगा। अभी कुछ दिन हुए एक भारतीय आविष्कारक हंसराज ने १० रु० में रेडियो बनाने की बात कही थी। कदाचित् राजाश्रय न मिलने के कारण वे अपनी बातों को कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सके।

दो और महत्त्वपूर्ण विदेशी मनोरञ्जन, सर्कस और कार्निवाल हैं। इनमें अद्भुत रस को उत्पन्न करके द्रष्टा या प्रेक्षक का मनोरञ्जन किया जाता है। आश्चर्यजनक वस्तुएँ मनुष्य को आनन्द देती हैं। वह थोड़ी देर के लिए साधारण नित्यप्रति के जीवन से ऊपर उठ जाता है और उसकी कल्पना को चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। ऐसे खेलों में कहीं बन्दर साइकिल चलाते हैं, कहीं मनुष्य जलती आग में कूद पड़ता है, कहीं तार पर गाड़ी चलाई जाती है, कहीं मृत्युकूप का नाम देकर एक लकड़ी का गोल कुआँ, बनाया जाता है और उसकी दीवारों पर वृत्त के रूप में मोटर-साइकिल चलाई जाती है।

इनके अतिरिक्त अन्य ऐसे अनेक मनोरंजन हैं जिनमें मनुष्य केवल द्रष्टा या प्रेक्षक ही नहीं बना रहता। उनका पूर्ण आनन्द उसे उसी समय प्राप्त होता है जब वह स्वयम् उनमें भाग लेता है। आधुनिक परिभाषा में जिसे 'खेल' कहते हैं वे कुछ इसी प्रकार के मनोरञ्जन हैं। ऐसे कितने ही अंग्रेज़ी खेल इस देश में प्रचलित हो गए हैं—क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल, टेनिस, वालीबाल इत्यादि; स्कूल और कालेज के छात्रों में ये खेल विशेष प्रिय हैं। इनसे मनोरञ्जन के साथ-साथ व्यायाम का भी लाभ होता है। जो लोग इनमें

भाग लेते हैं, वह तो इनसे आनन्दान्वित होते ही हैं; जो भाग नहीं लेते, केवल प्रेक्षक या दर्शक मात्र रहते हैं, वे भी आनन्दित होते हैं। मैचों और टूर्नामेन्टों के समय जो भीड़ इकट्ठी रहती है वह इस बात का प्रमाण है। सारा खेल का मैदान हर्ष-ध्वनि और करतल-ध्वनि से गूँज उठता है।

अब तक हमने जिन मनोरञ्जन के साधनों का उल्लेख किया है, वे सब घर के बाहर प्राप्त होते हैं। परन्तु मनुष्य सदैव तो घर के बाहर रहता नहीं। उसे ऐसे मनोरञ्जन के साधन भी चाहिए जिनका उपयोग वह अपने दो-चार मित्रों के साथ अपने घर के भीतर भी कर सके। ऐसे खेले जाने वाले खेल है—शतरंज, ताश, चौपड़, केरम इत्यादि। इनके अतिरिक्त, बैडमिंटन, पिंग-पाग आदि अंग्रेज़ी खेल भी उच्च श्रेणी और मध्य श्रेणी के सम्पन्न घरों में प्रच-लित हैं। इन सब में शतरंज और बैडमिंटन सर्वोत्तम हैं। शतरंज में बुद्धि का प्रयोग विशेष रूप से होता है और यह बुद्धिजीवी लोगों, विशेष कर लेखकों में बहुत प्रिय है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानी "शतरंज के खिलाड़ी" और शरत्-चन्द्र ने अपने उपन्यास "विप्रदास" में शतरंज के खेल के अनुभवों को अपने रोचक और औपन्यासिक ढङ्ग से उपस्थित किया है।

वर्तमान समय में मुद्रणयंत्र और पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष प्रकार के "घरेलू मनोरञ्जनों" की सृष्टि की है। इनमें उपन्यास और कहानी मुख्य हैं और अवकाश के थोड़े से घंटों के लिए कहानी या उपन्यास से और अच्छा मनोरञ्जन क्या हो सकता है? इतने थोड़े समय में हम किसी घटनापूर्ण परि-स्थिति का आनन्द उठाते हैं या किसी नए व्यक्ति से परिचित होते हैं। कहानी सुनने सुनाने का व्यसन बड़ा प्राचीन है, कदाचित् मानव-सभ्यता के आदिकाल में एक घरेलू मनोरञ्जन था। अब भी इसकी लोकप्रियता कम नहीं हुई है। छापे ने इस कहानी-प्रियता को सुसंस्कृत बनाया है और उसमें साहित्यिकता का समावेश किया है।

संक्षेप में, आज जन-साधारण और जन-विशेष के बीच में जितने मनो-रञ्जन चल रहे हैं उनकी संख्या बहुत बड़ी है। विज्ञान ने इसमें बड़ी वृद्धि की है। जीवन में सरसता लाने का श्रेय इन्हीं मनोरञ्जनों को है। इन्हीं से शक्ति पाकर मनुष्य कठिन दैनिक कार्यों में प्रवृत्त रह पाता है। आज मनोरञ्जन

के आज सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गए हैं; और उनमें से कितने ही शिक्षा, व्यायाम अथवा उपयोगी कला एवं व्यवसाय के लिए प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए जहाँ सिनेमा (चित्रपट या चलचित्र) बहुत से लोगों में मनोरञ्जन का साधन है, वहाँ सैकड़ों हज़ारों की रोज़ी उससे चलती है। कितने ही मनोरञ्जन राष्ट्रीय हैं, कितने ही विदेशी। परन्तु देश की प्रकृति पर इन सभी मनोरञ्जन के साधनों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह उचित है, राष्ट्र के चिन्तनशील व्यक्ति इन पर दृष्टि रक्खें और इन्हें एकदम 'व्यवसायी' चीज़ न बना दें।

स्वास्थ्य

१—स्वास्थ्य परम धन है। २—स्वास्थ्य की आवश्यकता। ३—स्वस्थ और अस्वस्थ की तुलना। ४—आजकल के रहन-सहन से स्वास्थ्य पर दुःपरिणाम। ५—विगत डेढ़-सौ वर्षों में राष्ट्रीय स्वास्थ्य की हानि। ६—सब सांसारिक सुखों का मूल्य कारण स्वास्थ्य ही है।

स्वास्थ्य से बड़ा कोई धन नहीं है। यह परम धन है। जो व्यक्ति इस अमूल्य धन से वंचित है, वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह अपने समाज, अपने कुटुम्ब और अपने राष्ट्र पर भार रहेगा। जब उसका अपना ही काम उससे न हो सकेगा तो वह किसी का क्या उपकार करेगा?

अस्वस्थ शरीर में मन भी अस्वस्थ रहता है। अस्वस्थ मनुष्य संसार के प्रत्येक कार्य के प्रति घृणा और असमर्थता प्रगट करता है। उसे प्रत्येक काम से विरक्ति मालूम होती है। यदि कोई उसे कुछ करने को भी कहे तो हाथ-पैर चला न सकने के कारण वह उस काम के प्रति विरक्ति ही प्रगट करेगा। वह ज़रा-ज़रा सी बात में झल्ला उठेगा। सच तो यह है कि, स्वास्थ्य-हीन के लिए अपने शरीर, हृदय और मन का आनन्द उपभोग्य नहीं रहता और दूसरे को इस तरह का आनन्द भोगते हुए देख कर वह उनसे ईर्ष्या करके और भी दुखी होता है। संसार में जो वस्तुएँ दूसरे स्वस्थ पुरुष-स्त्रियों को

आनन्द देता है, वे उसे कष्टकर और शूलवत् लगेंगी। नारी का सौंदर्य, प्रकृति का सौंदर्य और कला का सौंदर्य—इनका आनन्द वह क्या जाने ? उसके समान हतभाग्य इस संसार में दूसरा नहीं है। सुख का अमृत भरा सागर उसके सामने है। परन्तु उसके हाथ-पैर में जान नहीं है।

स्वस्थ मनुष्य का मुखमण्डल प्रशांत और उत्साहपूर्ण होता है। आलस्य, उदासीनता और क्षोभ उसके पास नहीं फटकते। वह सभी कामों को प्रफुल्लचित्त होकर परिश्रम-पूर्वक करता है अच्छे स्वास्थ्य के कारण वह बड़े परिश्रम को भी फूलवत् वहन कर जाता है, वह उसके लिये भार नहीं होता। यदि वह एक बार अकृतकार्य हुआ तो दूसरी बार द्विगुणित परिश्रम और अध्यवसाय से उसके ऊपर झुक जाता है और उस समय तक उसे नहीं छोड़ता जब तक वह सफलीकृत नहीं होता। स्वास्थ्यहीन पुरुष के लिए कोई भी कार्य सहज नहीं है। उसमें उत्साह का लोप होता है। यदि किसी उत्कृष्ट इच्छा के वशीभूत होकर वह किसी काम में हाथ भी दे, तो भी स्वास्थ्यहीनता के कारण वह उसमें पर्याप्त परिश्रम का योग नहीं दे सकेगा। इसी कारण वह उसे सुचारु रूप से सम्पन्न न कर सकेगा। यदि वह विफल हुआ तो, उस काम में फिर लगना उसके लिए पहाड़ पर चढ़ना है। बालकों को ही लीजिये। जिन बालकों के स्वास्थ्य अच्छे होते हैं, वे देखने में कितने सुन्दर लगते हैं; उन्हें देखकर हृदय का कमल खिल उठता है। उन्हें प्यार करने को जी चाहता है। वे प्रफुल्ल-चित्त और उत्साह-पूर्ण बालक आनन्द के साथ खेल में लगे रहते हैं। अस्वस्थ बालक अपना लम्बा-सा मुँह लटकाये एक ओर रोनी शक्ल किये खड़े रहते हैं। कोई उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता। उन्हें कितना दुःख होता होगा जब वे यह देखते होंगे कि वे खेल में भाग नहीं ले सकते। उनके लिए उनका बचपन बुढ़ापा है।

सुख बाहर की वस्तु नहीं है, वह तो अन्दर की स्फूर्ति है। जिस मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, उसे यह स्फूर्ति नहीं होती। वह चाहे अतुल वैभव का अधिकारी हो, चाहे उसका कुटुम्ब धन-धान्य, पुत्र-कलत्र से परिपूर्ण हो, चाहे उसे कितना ही यश और सम्मान मिले, वह व्यक्ति क्षण मात्र के लिए भी अपने अंतःकरण में सच्चे सुख का अनुभव नहीं कर सकता। आहार-

विहार, आमोद-प्रमोद, वार्तालाप, उसे किसी में भी सुख नहीं। उसपर यदि कोई रोग लग गया तो फिर यही पृथ्वी पर उसके लिए रौरव है। उसे ऐसा लगता है जैसे वह इस संसार में दंड पाने के लिए ही भेजा गया है एवं किसी पूर्व जन्म के पाप का भुगतान भुगत रहा है।

अर्थ के द्वारा संसार से बड़ा सुख प्राप्त होता है। इसीलिए लोग अर्थ की उपासना करते हैं। धन से ऐश्वर्य, यश, सम्मान सभी की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु क्या स्वास्थ्य भी मोल बिकता है? क्या पैसे देकर स्वास्थ्य और सुख खरीदे जा सकते हैं? शोक! स्वास्थ्यहीन मनुष्य अर्थ के द्वारा कोई सुख नहीं पा सकता। वह भले धनकुबेर हो, उसका धन-संग्रह दो कौड़ी का भी नहीं। इससे तो वह किसान अच्छा है जो दिन भर के कड़े परिश्रम के बाद रात को आनन्दपूर्वक विश्राम करता है और दूसरे दिन प्रातःकाल फिर नव-उत्साह के साथ अपने कार्य में लग जाता है। उसे जैसी गहरी नींद आती है वैसी धनकुबेर अस्वस्थ मनुष्य को सपने में भी नहीं आयेगी।

यदि हम स्वास्थ्य के इस मूल्य को समझते हैं तो हमें सदैव उसके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यत्नपूर्वक स्वास्थ्य की उन्नति और रक्षा करना मनुष्य का पहला धर्म है। देह को आत्मा का मंदिर समझो। उसे सुन्दर और पुष्ट बनाये रखने की चेष्टा सराहनीय है। जिस व्यक्ति की देह हृष्ट-पुष्ट होगी, उसका आत्मा भी पुष्ट होगा। वह कठिनाइयों और कुत्सित परिस्थितियों के आगे सिर नहीं झुकाएगा। इसी बात को ध्यान में रख कर स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था—'व्यायाम करने और गीता पढ़ने, इन दो बातों में यदि तुम्हें एक ही चुनना हो, तो मैं कहूँगा व्यायाम को चुन लो। जब तुम्हारी देह पुष्ट हो जायगी तो गीता का ज्ञान स्वयम् तुम्हारे भीतर से फूटेगा।'

विगत डेढ़-दो सौ वर्षों में हमारे राष्ट्रीय स्वास्थ्य में बहुत अन्तर हो गया है। देश ने पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति का अनुकरण ठीक समझा। परन्तु, यह अनुकरण ऊपर की टीप-टाप में अधिक हुआ। फल यह हुआ कि हमारा सारा देश फैशन का गुलाम हो गया है। छोटे-छोटे बालक स्वास्थ्यकर वस्तुओं का सेवन न करके ऐसी वस्तुएँ खा-पी रहे हैं जिनसे

स्वास्थ्य का कोई सम्बन्ध नहीं, केवल स्वाद का (वह भी विकृत स्वाद का) सम्बन्ध है। तरुण तरुणियों का रूप भर रहे हैं। 'जोश' मलीहाबादी ने इसी नए तरुण-वर्ग को लक्ष्य करके कहा है—"सीख ली निसवानियत से तूने हर रंगी अदा मरहबा ! ए नाजुक अन्दामाने कालेज मरहबा !" (तूने नारीत्व की प्रत्येक रंगीन अदा सीख ली। धन्य है तू ! धन्य है ए कालेज के सुकुमार तरुण !)। हिन्दी का कवि व्यंग को छोड़ कर अधिक स्पष्ट रूप से इस बात को हमारे सामने रख रहा है—

"कवच कहा ये धारिहैं लचकीले मृदुगात।
सुमन-हार के भार जे लीन-लीन बल खात॥"

"कै चढ़ि लै असवार दै, कै बनि लै सुकुमार।
द्वै तुरङ्ग पै एक सँग, भयो कौन असवार ?"

परन्तु आज इनकी बात कौन सुनता है। तरुण अपनी रँगरेलियों में मस्त है। विदेशी वस्तुओं के सेवन, अमिताचार, हानिकर शिक्षा-पद्धति और फैशन के बीच में उनका तेज और स्वास्थ्य लुप्त हो गया है। यदि परिस्थिति यही रही तो, देश का भविष्य अंधकार में है। संसार रक्तरंजित बादलों में से गुज़र रहा है। शक्ति का बोल-बाला है। देश-देश के तरुण मौत से लोहा ले रहे हैं। हमारे तरुण देवदास बनने चले हैं। हमारा साहित्य दुर्बल व्यक्तियों के स्वप्नों से भर गया है। हमारा स्वास्थ्य तनिक से प्रलोभन को पीछे नहीं डाल सकता। देह, बुद्धि, मन और आत्मा—इनका स्वास्थ्य ही मानवता को विकास के पथ पर अग्रसर कर सकता है, इस महान सत्य को हम कब समझेंगे ?

विद्यार्थी जीवन

१—परिभाषा। २—हिन्दू आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी-जीवन) का स्थान। ३—विद्यार्थी-जीवन की महानता। ४—विद्यार्थी-जीवन के सुख। ५—विद्यार्थी-जीवन छुरे की धार है।

६—आधुनिक विद्यार्थी-जीवन में ज्ञानप्राप्ति के साधन। ७—विद्यार्थी-जीवन के कर्त्तव्य।

यों तो हम जब तक जीवित रहते हैं, कुछ न कुछ ज्ञान-संचय करते रहते हैं, परन्तु हमारे जीवन का एक विशेष भाग ऐसा होता है, जब हमारे लिए केवल यही एक कार्य सबसे ऊपर हो जाता है, तब हम गुरु के यहाँ रह कर अथवा विद्यालय में अध्ययन के द्वारा ज्ञानोपार्जन करते हैं। इसे ही हम विद्यार्थी-जीवन कहते हैं।

हमारा जीवन छोटा है और संसार के काम बहुत हैं। फ़ारसी के एक कवि ने कहा है—'कारे दुनिया कसे तमाम न कर्द' (संसार के काम इतने अधिक हैं कि वह आदमी का जीवन ले डालते हैं, परन्तु समाप्त नहीं होते।) इन सांसारिक कार्यों के लिए हमें तैयारी करनी होती है। यह इस रूप में कि हम उनके विषय में थोड़ा-बहुत वह ज्ञान प्राप्त कर लें जो हमारे पूर्वजों ने बड़े कष्ट से प्राप्त किया था। इस संसार में जब हम प्रवेश करते हैं तब हम उसके ज्ञान-विज्ञान, रीति-रिवाज, जीवन-यापन के ढंग, विधि-निषेध एवं किसी प्रकार की अन्य किसी भी बात को नहीं जानते। फिर हम इस संसार में ढङ्ग से रह कर अपने पूर्व पुरुषों के नाम में किस प्रकार वृद्धि करेंगे? इसी के लिए विद्यार्थी-जीवन की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक जाति में, चाहे वह किसी भी देश की हो, ऐसी व्यवस्था मौजूद है। इसके बिना यह सृष्टि चल ही नहीं सकती। हिन्दू धर्म में मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार बड़े-बड़े भागों में विभक्त कर दिया गया था। इनमें से प्रत्येक को आश्रम कहते थे। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्थी-जीवन का ही दूसरा नाम है। इस आश्रम में बालक गुरुकुल में प्रवेश करता था और गुरु के मुख से एवं पुस्तकों द्वारा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करता था। कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो, इसलिए वह जब तक यह अध्ययन-कार्य पूरा नहीं कर लेता था, तब तक अविवाहित रहता था। इसके पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर वह विवाह-सूत्र में बंधता और जीवन के दूसरे चरण—गृहस्थाश्रम—में प्रवेश करता था।

जीवन का वह भाग, जिसमें हम विद्याध्ययन में लगे होते हैं अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। यही वह समय है जब मनुष्य अपने सफल जीवन का शिलारोपण करता है। इस समय उसे संसार के सभी झंझटों से अलग रहने का अवकाश मिलता है। वह पूर्ण मनोयोग-द्वारा एक ही कार्य में दत्तचित्त हो सकता है। उस समय यही प्रधान कर्त्तव्य है। वह समवयस्क सहपाठियों से घिरा होता है। सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रह कर बड़े-बड़े कवियों, आचार्यों, धर्मसंस्थापकों और महापुरुषों की रचनाओं से आनन्द और लाभ प्राप्त करना कैसे सौभाग्य और आनन्द की बात है।

सच तो यह है कि जीवन का कोई अंग विद्यार्थी-जीवन से अधिक सुखमय नहीं। इस समय शरीर स्वस्थ और सबल रहता है। मन आशाओं के झूले में झूलता है। आगे एक लम्बा जीवन और विस्तृत संसार पड़ा होता है। ऐसा लगता है जैसे संसार की यह सारी विभूति हमारे लिए है; जरा-सा परिश्रम कर लेने पर हमारे चरणों में लोटने लगेगी। इस समय हमारी मोरी मनोवृत्तियाँ उसके और उन्नतिशील रहती हैं। यत्न, अनुराग, उद्यम, सहिष्णुता, साहस, उच्चादर्श ये हमें बराबर आगे ठेलते जाते हैं। यह जीवन का प्रभात होता है। जिस काम की हमें इच्छा होगी, उसे हम सहज ही में सुन्दर रीति से संपादित कर सकेंगे।

यही समय है जब प्रत्येक नवयुवक नाश के पथ पर भी अग्रसर हो सकता है। पाप और पुण्य, अमरत्व और सर्वनाश, दोनों के सहस्र-सहस्र पथ सामने खुले हैं। इनमें से मार्ग है, बल है; जिधर चाहो चल पड़ो। पुण्य का मार्ग दुर्गम और कष्टकर है; पाप का पथ सुन्दर और सीधा है। परन्तु जहाँ बढ़े, वहाँ लौट नहीं सकते। एक बार आगे पग देने भर की देर है, फिर या तो उन्नति अथवा पढ़ी या अवनति। यही कारण है कि प्रत्येक नवयुवक को एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है जो ऐसे कठिन समय में उसे सावधान रखे। ऐसा पथप्रदर्शक गुरु है। योग्य पथप्रदर्शक मिल गया तो जीवन सफल हो गया। इसलिए हमारे प्राचीन ग्रन्थों में "सद्गुरु" को इतना महत्त्व दिया था। कबीर ने कहा था :

गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने जो सत्गुरु दियो बताय॥

इसे इस लौकिक पक्ष में यों समझ सकते हैं कि अच्छे पथप्रदर्शक के बिना हमारे संसार में भटकने और अवनति को प्राप्त होने की ही अधिक संभावना है। यह कठिनाई इस कारण और भी बढ़ जाती है कि बालक का हृदय स्वभावतः सरल और उसका मन अपरिपक्व होता है। क्षुद्र प्रलोभन भी उसे पाप की ओर झुका सकता है। कुसंगति या बुरी टेव उसके लिए विष का काम कर सकती है। वह मिट्टी के कच्चे कोमल बर्तन की तरह है। उस पर जो भी रेखा खिंच जाएगी, बुरी हो या भली, वह घड़ा पकने के साथ अमिट ही रहेगी।

वर्तमान समय में विद्यार्थियों को तीन तरह से ज्ञान की प्राप्ति होती है। पुस्तकों के द्वारा, गुरु के मुख से अथवा अन्य विद्यार्थियों के सहयोग-संसर्ग से। पहली दो शिक्षाएँ मस्तिष्क से संबंध रखती हैं, तीसरी हृदय से। प्राचीन गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली से एक तीसरे प्रकार की शिक्षा भी मिलती थी—वह शिक्षा थी आचरण व्यवहार की। आज की शिक्षा में उसका स्थान नहीं है। परन्तु है वह परम आवश्यक। केवल पोथियों का ज्ञान प्राप्त करके ही विद्यार्थी-जीवन का उद्देश्य समाप्त नहीं हो जाता। विद्यार्थी माता पिता तथा अन्य गुरुजनों के प्रति भक्ति सीखे, समवयस्कों के प्रति उसे प्रेम हो। वह भद्र बने। उसमें स्वदेश के प्रति अनुराग उत्पन्न हो। दया, उदारता, परोपकार जैसी सद्वृत्तियाँ उसके चरित्र का अंग बन जाएँ। यदि यह सब बातें नहीं प्राप्त हुईं तो फिर विद्यार्थी-जीवन का पूरा-पूरा लाभ विद्यार्थी को नहीं मिला। कारण यह है कि केवल पोथी-ज्ञान के सहारे विद्यार्थी आजकल का अच्छा नागरिक नहीं बन सकता! कल वह कुटुम्ब समेट कर रहेगा; जाति-समाज और राष्ट्र के संचालन के संबंध में अपना मत देगा। यह कैसे होगा? मन और हृदय की स्वच्छता और सतर्कता उसे कैसे प्राप्त होगी। बाल्यकाल के बीत जाने पर ऐसी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर हाथ नहीं लग सकता। यदि विद्यार्थी-जीवन असफल रहा तो मनुष्य जाति, समाज और राष्ट्र के लिए सदा अस्वस्थ बना रहेगा।

विद्यार्थी-जीवन आगामी जीवन की भूमिका है। जहाँ भूमिका पुष्ट होगी, वहाँ निबंध भी सुन्दर होगा। यही समय है जब हम अपनी देह, अपने मन

और अपने चरित्र को पुष्ट कर सकते हैं। यदि हम यह समय आलस्य में बिता देंगे तो कल रोयेंगे। कहा है—'आलस्य' हि मनुष्याणाम् शरीरस्थो महान् रिपुः' इसलिए विद्यार्थी इस शत्रु से जितना सतर्क हो जाय उतना अच्छा। विद्यार्थी को न मानसिक परिश्रम से डरना चाहिए, न शारीरिक से। वर्त्तमान् शिक्षा-पद्धति में दैहिक श्रम का कोई स्थान नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि विद्यार्थी उसे हेय दृष्टि से देखते हैं। यह अनुचित है। श्रम चाहे देह का हो चाहे मन का—सब समान है। पश्चिम के प्रसिद्ध विचारक कार्लाइल ने इसी को लक्ष्य करके कहा है—"All work is noble" (कोई काम बुरा नहीं, कार्यमात्र अच्छा है।) हमें भी इसी मंत्र का पालन करना होगा।

विद्यार्थी का सबसे बड़ा धर्म यह है कि उसे ज्ञान-पिपासा होनी चाहिए। उसका जिज्ञासु-भाव सदा जाग्रत रहे। किसी भी विशेष विषय के प्रति उदासीनता दिखाना उसे उचित नहीं। उसकी आसक्ति अनासक्ति का कोई प्रश्न है ही नहीं। गुरुजन जो भी विषय उसके लिए निर्धारित करें, उसकी ओर वह अपनी रुचि बढ़ाए। जिस प्रकार बसंत में पल्लवित और कुसुमित न होने से वृक्ष ग्रीष्म ऋतु में फल नहीं दे सकते उसी प्रकार विद्यार्थी-जीवन में यदि विनय, क्षमा, आज्ञाकारिता और सेवा आदि के पल्लव न लगे और ज्ञान-विज्ञान के पुष्प न फूटे तो प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में मनुष्य समाज, देश और राष्ट्र को क्या देगा ?

आदर्श गृहिणी

१—आज गृहिणी के आदर्शों को समझना कठिन है। २—आधुनिक गृहपति और गृहिणी। ३—सद्गृहिणी की जीवनचर्या और उसमें सहायक गुण। ४—गृहिणी का महत्त्व और गृहिणी सीता का एक चित्र। ५—नवीन और प्राचीन आदर्श। ६—'गृहलक्ष्मी'।

पाश्चात्य सभ्यता की जादू की छड़ी के स्पर्श से हमारा सब कुछ बदल गया है, परन्तु कुटुम्ब अब भी बहुत कुछ उसी ढंग पर चल रहा है। इसलिए

कुटुम्ब, जिनमें चाचा-ताऊ, भाई-बंधु एक ही छत के नीचे रहते थे, टूट रहे हैं। परन्तु अभी पूरी तरह अंग्रेज़ी ढंग के कुटुम्ब जन्म नहीं ले सके हैं। ऐसे समय पर गृहिणी के आदर्शों को समझना कुछ कठिन हो गया है। यह बात पढ़े-लिखे वर्गों में साफ़ देखने में आती है। विवाह के बाद नया पति चक्कर में पड़ जाता है कि अपनी पत्नी को किस साँचे में ढाले।

आधुनिक गृहपति नवयुवक अपनी पत्नी को पत्नी के रूप में ही अधिक देखना चाहता है। गृहिणी शब्द की सार्थकता उसके मन में भली-भाँति जम नहीं सकी है। वह अपनी पत्नी को समाज में स्थापित करने के लिए, उसे घर के बाहर प्रतिष्ठित करने के लिए लालायित है। यह पश्चिमी आदर्श है। हमारे देश में पत्नी मातृत्व प्राप्त कर और गृहिणी बनकर ही सफल-जीवन मानी जाती थी। वह एक कुटुम्ब के बीच प्रतिष्ठित होती थी, घर सँभाल कर बैठती थी और उसके प्रत्येक प्राणी के हृदय-मन में शांति, प्रेम, मृदुता और सुख का संचार करती थी। उसका प्रेम, पति की क्षुद्र बाहुओं से निकल कर कुटुम्ब और कुटुम्ब के द्वारा समाज को प्लावित करता था। समाज तो कुटुम्बों के समूह का ही नाम है। जहाँ कुटुम्ब सुखी होंगे, वहाँ समाज भी सुखी होगा। कुटुम्ब स्त्री की सेवा पाकर सुखी होते थे। आज वह बात नहीं। पति-पत्नी अपने ही लिए जीना चाहते हैं; उन्हें घर के अन्य व्यक्तियों से मतलब नहीं।

घर में पति के अतिरिक्त कई प्राणी होते हैं। सास-ससुर, देवर-ज्येष्ठ, ननद-देवरानी, पुत्र-पुत्री, भृत्य, निकट के सम्बन्धी। गृहिणी का संबंध इन सभी से होता है। वह अपने पति को प्रिय होती है परन्तु उस थोड़े से मधुर पति-प्रेम का स्वाद पाकर उसी के बल पर इन सभी कुटुम्बियों की सेवा के लिए लगी रहती है, हरेक को यथोचित स्नेह बाँटती चली जाती है। सचमुच, यह एक बड़ा काम है। भिन्न-भिन्न रुचियाँ इस काम को कठिन बना देती हैं। इतने जनों में रह कर वह सुचारु-रूप से प्रत्येक की सेवा करे, सब को अपना बनाए, सब उसके स्नेह के भाजन बनें। बच्चे उसे घेरे रहें, देवर-देवरानी उस पर प्राण दें; ज्येष्ठ, ननद उसका आदर करें, सास-ससुर उसे आँख की पुतली बना कर रक्खें—इसके लिए साधना की भी तो आवश्यकता है। वह

साधना है—एकमात्र सेवा। इस सेवा के पीछे पति का प्रेम है जो एक कठिन कार्य को जीते-रहने की तरह सरल बनाए रखता है।

जब काम इतना कठिन है तो उसके लिए गृहिणी में गुण भी तो चाहिये। ये गुण हैं:—नम्रता, सहनशीलता, मितव्ययता, मधुरभाषण, गृहस्थी के काम-काज की कुशलता, घरेलू चिकित्सा का ज्ञान, उपयोगी कलाओं की जानकारी, स्वास्थ्य और स्वच्छता में रुचि। बिना इनके ऐसे कठिन कार्य में सफलता पाने की आशा करना एकदम मरु में जल की आशा करने के समान है। यह बातें ऐसी हैं जिनकी शिक्षा प्रत्येक कन्या को मिलना आवश्यक है। आज स्त्री-शिक्षा का जो रूप प्रतिष्ठा पा रहा है, वह भारतीय आदर्शों के अनुकूल नहीं है। स्वर्गीय अकबर इलाहाबादी ने कहा था—

तालीम लड़कियों की भी लाज़िम तो है मगर।
खातूने खाना हों, वह सभा की परी न हों॥

(लड़कियों की शिक्षा भी आवश्यक है, परन्तु वह पढ़-लिखकर गृहिणी बनें, केवल सभाएँ ही न चलाएँ।) सच तो यह है कि यही आदर्श हमारे सामने होना चाहिये। लड़कियाँ वही शिक्षा प्राप्त करें जो उन्हें संसार की प्रगति से परिचित करावें और पति और कुटुम्बियों के बीच में प्रेम, स्नेह और प्रतिष्ठा पाने योग्य बनाएँ। यदि स्त्री को शिक्षित करना हो तो उसे पति और उसके कुटुम्ब के लिए तथा अपने बच्चों के लिए शिक्षित बनाओ। संक्षेप में, आदर्श गृहिणी का लक्ष्य सामने हो।

संसार के सभी नेताओं, धर्मव्यवस्थापकों और महाकवियों ने गृहिणी के महत्त्व को समझा है। स्वयं उनके लालन-पालन में उनकी माताओं का प्रधान हाथ रहा था। उन्होंने सहस्र बार माताओं को श्रद्धाञ्जलि दी है। कुटुम्ब की संस्था किसी न किसी रूप में सारे संसार में चल रही है और जहाँ-जहाँ वह है (वह कहाँ नहीं है) वहाँ-वहाँ उसके केन्द्र में पति-प्राणा पत्नी, सेवा-भाव: पुत्रवधू, हँसमुख ननद-भावज और पुत्र-वत्सला माता ही को दिखलाई देती। कदाचित् कोई भी महाकाव्य गृहिणी के चित्र से शून्य हो। तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में सीता के गृहिणी-रूप का बड़ा सुन्दर आदर्श-चित्र उपस्थित किया है, जो इस प्रकार है—

पति अनुकूल सदा रह सीता । सोभा खानि सुसील बिनीता ।।
जानति कृपासिंधु प्रभुताई । सेवति चरन कमल मन लाई ।।
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ।।
निज कर गृह परिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ।।
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ । सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ।।
कौशिल्यादि सासु गृह माहीं । सेवइ सबन्ह मान मद नाहीं ।।

यही भारतीय आदर्श है । इस आदर्श की महत्ता कल भी थी, आज भी है । स्त्री अपने कुटुम्ब के भीतर ही संसार, राष्ट्र और समाज को प्रेम और शांति प्रदान करती है । इसलिए उसको रङ्गमञ्च पर आने की आवश्यकता नहीं । उसका काम कितना भी करतलध्वनियों से पुरस्कृत नहीं किया जा सकता । वह जाया है । धात्री है । राष्ट्र की माता है । समाज की शिक्षिका है । उसे अपनी सीता की रसोई के भीतर से संसार को सेवा और सामर्थ्य का वरदान देना होगा । यही उसकी सार्थकता है ।

लोग कहेंगे, यह तो पुराना रोना है । पुराना आदर्श है जो कब का मर चुका । परन्तु पुराना होने से ही कोई आदर्श बुरा नहीं हो जाता । उसमें नए-नए गुण मिलें, तो मिलें, वह अनुपादेय क्यों हो जाय ? कल यदि गृहिणी घर के भीतर अधिक थी, बाहर कम, तो आज उसे बाहर भी ला आओ । परन्तु यदि वह बाहर ही रह गई, तो कुटुम्ब समेट कर कौन बैठेगा ? उसका सारा प्यार यदि बाहर ही बिखर गया तो घर को कौन उज्ज्वल करेगा ? पति और कुटुम्बियों को क्या वस्तु उत्साह देगी ? आज गृहिणी को राजनीति, कला, ज्ञान-विज्ञान और संसार की परिस्थिति समझाने की आवश्यकता है, जिनसे वह अपने नागरिक के अधिकारों को स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सके; परन्तु क्या इन नवीन आवश्यकताओं के उत्पन्न हो जाने से पुरानी आवश्यकताओं का सर्वथा लोप हो गया ?

हमारे यहाँ गृहिणी के लिए एक और शब्द भी था—'गृहलक्ष्मी' आज हमें 'गृहलक्ष्मी' ही की आवश्यकता है । 'लक्ष्मी' का आदर्श राष्ट्र को अधिक दूर नहीं ले जाता । सहनशीला, सहनशीला, मितभाषिणी, मितव्ययी गृहलक्ष्मी हमारी सीता, सावित्री, अनुसूया बनेगी । जिस दिन एक बार फिर

ऐसा होगा, उस दिन उस सिंह-प्रसवा की सन्तान अपनी पदचाप से धरती हिला देगी और उसके गौरव-निनाद से महाकाश गूँज उठेगा।

पुस्तकों का अध्ययन

१—पुस्तकों के प्रकार। २—उसका विश्लेषण। ३—अध्ययनविधि। ४—किस प्रकार की पुस्तकें किसे पढ़ना चाहिए। ५—पुस्तकों से लाभ। ६—पुस्तकों द्वारा सत्संगति लाभ।

पुस्तकें तीन बातों के लिए पढ़ी जाती हैं—ज्ञानप्राप्ति के लिए, मन-बहलाव के लिए और आनन्द के लिए। इस धारणा के अनुसार हम पुस्तकों के तीन बड़े-बड़े भाग कर डालते हैं। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ने जा रहे हो तो हमें यह देख लेना चाहिए वह इन तीनो भागो में से किस भाग का पुस्तक है और उसी पर ध्यान रख कर उसे पढ़ना चाहिए।

ज्ञानप्राप्ति के लिए जो पुस्तकें पढ़ी जाती हैं उनके लिए ही शायद महामति बेकन ने कहा है—"पुस्तकें तीन तरह की होती हैं। कुछ तो ऐसी जिन्हें चखो उलट कर फेंक दो, कुछ ऐसी जिन्हें एक बार पढ़ डालो, परन्तु बहुत [illegible] ऐसी पुस्तकें [illegible] जिन्हें बार बार पढ़ना चाहिए।" बेकन ने बहुत ठीक बात कही है, बात यह है कि [illegible] ज्ञान-प्रदर्शन के लिए या ज्ञान का [illegible] बना कर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। कुछ ऐसी हैं जो किसी विशेष अवस्था में कुछ समय [illegible] होनी चाहिए। कुछ पुस्तकों में इस [illegible] होता है कि [illegible] बहुत ही [illegible] हैं। ऐसी सब पुस्तकें पढ़ कर फेंक देनी चाहिए। कुछ पुस्तकें ऐसी बातें बतलाती हैं जो पाठक को पहले मालूम होती हैं अथवा जो ज्ञान वे उपस्थित करती हैं वह साधारण-कोटि का होता है या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता, ऐसी सब पुस्तकें एक बार ही पढ़ी जानी चाहिए। सम्भव है, कोई नई बात हाथ लग जाए। परन्तु जो पुस्तकें ऊँचे दर्जे के तत्त्व-ज्ञान, धर्म-ज्ञान, समाज-ज्ञान, इतिहास, पुराण अथवा

उच्चश्रेणी के साहित्य के अन्दर आती हैं, उन्हें एक से अधिक बार पढ़ना श्रेयस्कर होगा।

मन-बहलाव के लिए जो पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, साधारणतः उतनी उच्चकोटि की नहीं होतीं कि उन्हें बार-बार पढ़ा जाए। जासूसी और ऐयारी के उपन्यास, चलते काव्य, यात्रा की पुस्तकें, देश-विदेश के वर्णन ग्रंथ, ये कुछ ऐसी सामग्री हैं जिनसे लोग मन बहलाया करते हैं। विद्यार्थी-जीवन में मन-बहलाव के लिए अनेक अधिक स्वस्थ साधन मिल सकते हैं, अतः इस प्रकार की पुस्तकें दुकानदारों, नौकर पेशों और रोजगारी गृहस्थों के लिए ही ठीक हैं। फिर उन्हें भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये पुस्तकें कुरुचि उत्पन्न न करें और व्यर्थ की उत्तेजना और रोमाञ्च से मन को न भर दें।

तीसरे प्रकार की पुस्तकें विद्यार्थी के लिए वर्जित नहीं हैं। परन्तु यहाँ उसे यह समझ लेना होगा कि पुस्तकों का आदर्श आनन्द क्या होना चाहिए। यह आनन्द मन-बहलाव से भिन्न है। इस आनन्द को जानकारों ने 'रस' कहा है और इसे ब्रह्मानन्द की संज्ञा दी है। यह केवल व्यर्थ की उत्तेजना नहीं है, इससे हृदय और मन का संस्कार होता है। परन्तु व्यर्थ की स्नायुओं की उत्तेजना और हृदय-मन को परिपुष्ट करने वाले आनन्द में भेद करना कठिन है। इसीसे कोई-कोई प्रत्येक रोचक पुस्तक को साहित्य समझ लेते हैं और उस विष के कीड़े को छाती से चिपकाए रहते हैं।

जिन पुस्तकों से हमें 'रस' की प्राप्ति होती है, उन्हें कविता, उपन्यास, प्रहसन, कहानी और नाटक के पारिभाषिक नाम दिए गए हैं। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय 'कहानियाँ' और 'उपन्यास' हैं। कहानी और उपन्यास आज जनता में जितने प्रिय हैं, उतना साहित्य का कोई भी दूसरा प्रकार नहीं। प्राचीन भारतीय कविता से अधिक आनन्द लिया करते थे, आज उसका स्थान कथा ने ले लिया है।

पुस्तकों के अध्ययन से यह लाभ तो हैं ही जो ऊपर दिए गए हैं; उनसे ज्ञान की वृद्धि होती है, मनबहलाव हो जाता है, रस की अनुभूति होती है;

परन्तु इनके अतिरिक्त और भी कितने ही लाभ हैं। पुस्तकें आत्म-संस्कार का सबसे बड़ा साधन हैं। सत्पुरुषों की संगति को सबने अच्छा कहा है। कबीर कहते हैं —

सतसँग लागि रहो रे भाई।
तेरी बिगरी बात बनि जाई॥

परन्तु सत्पुरुष सभी को तो सुलभ नहीं, फिर सभी स्थानों में भी सुलभ नहीं। इसलिए आज तो इस सम्बन्ध में भी पुस्तकों का ही आश्रय है। आज पुस्तकें ही हमारी गुरु हैं। उनके द्वारा हम श्रेष्ठ सन्तों, कवियों और विचारकों की जीवन भर की साधना और उस साधना के फलस्वरूप प्राप्त ज्ञान से परिचित हो पाते हैं। कबीर, सूर, तुलसी, प्रेमचन्द, बाल्मीकि, कालिदास, भगवान् व्यास, भगवान् कृष्ण, इनकी सङ्गति प्राप्त करने का उपाय वह ज्ञानभंडार ही तो है जो वे हमें दायस्वरूप छोड़ गए हैं। उसके स्पर्शमात्र से हमारे जीवन में शांति का प्रादुर्भाव होगा और हमें आनन्द की अनुभूति होगी। परन्तु पुस्तकें चरित्र दृढ़ करने अथवा आत्मसंस्कार के लिए ही नहीं पढ़ी जातीं। वे हमारी मित्र भी सिद्ध हो सकती हैं। जब हम शोक से आकुल हों, जब हमारा मन निराशा में डूब गया हो, तब हमें ऐसी पुस्तकें मिल सकती हैं जिनके पढ़ने से हमें सान्त्वना मिले, और हमारे हृदय-मन में एक बार फिर स्फूर्ति आये। किसी-किसी पुस्तक का एक ही वाक्य वह काम कर जाता है, जो सैकड़ों औषधियाँ नहीं कर सकतीं।

को करि तर्क बढ़ावै साखा।
होइहि वह जु राम रचि राखा॥—तुलसी

ऐसी रहनि रहो बैरागी।
सदा उदास रहै माया से, सतनाम अनुरागी।
छिमा की कंठी सील सरीनी, सुरति सुमिरनी जागी॥
टोपी अभय भक्ति माथे पर, काल कल्पना त्यागी।— कबीर

अब भी चेत ले तू नीच।
दुःख परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच।
काम तृष्णा पाश से नर, कण्ठ को जिन खींच॥

स्नान कर करुणा सरोवर, धुले तेरा कीच ।—सूर

इस प्रकार की उक्तियाँ किस दुखित हृदय के मन को शांति नहीं देंगी ? ये अमूल्य उक्तियाँ कहाँ मिल सकती हैं ? दुःख और क्षोभ के समय हमें उन पुस्तकों का ही सहारा रखना चाहिये जो ज्ञान-वैराग्य के द्वारा हमें मौन सान्त्वना दें। यह सान्त्वना सच्ची होती है, अतः हृदय के भीतर पहुँच जाती है। संसार के मनुष्यों की सहानुभूति शरीर को ही स्पर्श करके रह जाती है।

हिन्दू-समाज

१—हिन्दू-समाज का जटिल रूप। २—प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दू-समाज में तुलना। ३—कुछ त्रुटियाँ और गुण। ४—आज की परिस्थिति। ५—चेतावनी।

हिन्दू-धर्म की तरह हिन्दू-समाज को भी पूर्ण रूप से समझना कठिन है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे छोटे समाज, परस्पर विरोधी रीत-व्यवहार, अनेक मूलों से प्राप्त उत्सव-समारोह इस प्रकार घर कर गए हैं कि विश्लेषण किए नहीं बनता। संसार में शायद ही कोई दूसरा समाज हो जिसके आँगन में इतने विभिन्न विचार, धर्म, चिंतन स्नेह के साथ खेल रहे हों। उसने न जाने कब से कितनी साधनाओं और कितने चिन्तनों को अपने में स्थान दिया है, कितने पाखंडों को शुद्ध करके अपने हृदय का हार बनाया है, कितनी आरण्य-भावनाओं को संस्कृत किया है। उसकी इसी उदार-वृत्ति का फल यह हुआ कि वह एक समय विद्या, कला-कौशल और सभ्यता में अद्वितीय था, एकदम अद्वितीय, निरुपम। उसके पास वेदों के वे रत्न थे जिन्हें देख कर मेक्समूलर पुकार उठा था—Transcendental, boyond ! (अलौकिक, अनुपम !)। उसकी सभ्यता के चिह्न आज भी उसके महाकाव्यों में उसी उज्ज्वलता से चमक रहे हैं। दो हजार वर्ष पहले के भारतीय हिन्दुओं के हाथ के बने हुए वस्त्र अन्य देश के राजाओं की ममियों (शव) को ढाँपे हुए हैं। यह बात कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसकी एक ही भाषा के ग्रन्थों की संख्या दस लाख तक चली गई है। संसार की कोई भी

विचारधारा, उसका कोई भी ज्ञान-विज्ञान, कोई भी आचार-विचार ऐसा नहीं है, जो कहीं न कहीं किसी हिन्दू-मस्तिष्क ने नहीं सोचा है। यह तब संभव था जब हिन्दू समाज अपने गौरव के शिखर पर था, भगवान् उसमें देह धारण करते थे और देवगण उसके संरक्षक बने थे।

आज हमारे हिन्दू-समाज की दशा प्रत्येक दिशा में गिरी हुई है। क्या विद्या, क्या कला-कौशल, क्या रहन-सहन, सभी विषयों में हमें नतमस्तक होना पड़ता है। आदर्श आकाश से भी ऊँचे, चरित्र धरती से भी नीचे। यह बात जितनी प्रत्येक हिन्दू के जीवन पर चरितार्थ होती है, उतनी सामूहिक रूप से हिन्दू-समाज पर भी। हिन्दू-समाज छोटी-बड़ी कुरीतियों का इतना बड़ा बोझ कमर पर लादे हुए है कि यदि यही परिस्थिति रही तो कल उसके ढह जाने में कोई शंका नहीं। स्त्रियों की दुर्दशा है। उनमें शिक्षा नहीं, गृहिणी होने की योग्यता नहीं, स्वास्थ्य नहीं, सेवा-भाव नहीं। इन्हीं कारणों से हमारे कुटुम्ब सन्तोष और सुख से दूर जा पड़े हैं। 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।'—यह सिद्धान्त ढोल, गँवार, शूद्र और पशु के सम्बन्ध में नहीं तो नारी के सम्बन्ध में तो आज बराबर मान्य दिखलाई पड़ता है। पर्दे का रिवाज कम से कम हमारे संयुक्त प्रान्त और बिहार में हद से ज्यादा बढ़ा हुआ है। उसके कारण शंकालु, असन्तुष्ट ब्रह्मचर्य-हीन वातावरण की सृष्टि हो गई है। चरित्र का पतन होते देर नहीं लगती क्योंकि यहाँ स्त्री-पुरुष का अलग-अलग रहना एक ऐसी मनोभूमि तैयार रखता है कि अवसर पाते ही कदम डगमगा न जायँ। बालविवाह को शारदा एक्ट ने रोक दिया है, परन्तु फिर भी जनता इस कानून की सहायता करने के लिए तैयार नहीं। कुछ-छोटे अब भी बाल-विवाह होते रहते हैं। अनेक पत्नीव्रत (बहु-विवाह) तो अब भी जारी है। विधवा विवाह का प्रचलन भी अधिक नहीं हो पाया है। सारा स्त्री समाज अधिकारों की माँग कर रहा है, परन्तु साधारण रूप से हिन्दू स्त्रियों में न अधिकार ही की चाह है, न उसको सँभालने का बल।

शूद्रों की दशा में वर्तमान आन्दोलनों, विशेषतया आर्य-समाज और गाँधीजी के हरिजन आन्दोलन, और शासन सुधारों के कारण थोड़ी-बहुत

उन्नति हो पाई है, फिर भी छुआछूत है ही, उत्तर में जरा कम, दक्षिण में अधिक बलशाली ढङ्ग से। शूद्र के लिए मन्दिर-प्रवेश वर्ज्य है, कुएँ से पानी लेना मना है, हिन्दुओं के सामाजिक उत्सवों को दूर से देखना ठीक है। यह मनोवृत्ति अब कुछ बदल रही है यद्यपि परिवर्त्तन की गति तीव्र नहीं है। परन्तु अब अछूत वर्ग सचेष्ट हो गया है।

फिर जाति-पाँति सवर्ण हिन्दुओं को भी अलग-अलग पंक्तियों में बाँटे रखती है। इनका जन्म चाहे जिस कारण हुआ हो, चाहे इनसे पहले जितना लाभ हुआ है, अब वह अपना जीवन जी चुकी। जाति-पाँति के आडम्बर को अब तक समाप्त हो जाना चाहिए था। परन्तु वह वैसा ही बना है। उसकी पीठ सहलानेवाले भी मौजूद हैं। खान-पान में परहेज, एक संकुचित क्षेत्र में विवाह, छुआछूत, कभी-कभी विरोधी जाति-सङ्गठन, ये सब बातें हिन्दू समाज की पीठ पर खाज की तरह विद्यमान हैं जिसे छू-छू कर वह आज भी आनन्द ले रहा है, यद्यपि उसके अङ्गों में विष बराबर फैलता जाता है।

अनेक संस्कार पुरानी मूल भावनाओं से दूर जा पड़े हैं और इससे आज बेमानी हो गए हैं। विवाह को ही लीजिए। वह संस्कार दो तरुण व्यक्तियों को गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश कराता है। परन्तु अब इसकी क्या दुर्दशा है? इसकी पवित्रता कितनी शेष रह गई है? वर को वधू के गुण-स्वभाव का पता नहीं, वधू को वर के गुण स्वभाव का ज्ञान नहीं। ऊपर वाले ने बात ठहराई। ऊपर वाले गाजे बाजे के साथ ब्याह लाए। ऐसी दशा में यदि दुर्घटनाएँ हों, इसमें आश्चर्य कैसा? जो गार्हस्थ्य जीवन देवताओं द्वारा प्रशंसित था, वह आज कलह का घर बना हुआ है। विवाह संस्कार के समय जन्मपत्री देखी जाती है या धन। जहाँ धन मिल गया, वहाँ जन्मपत्री मिले या न मिले। बहू-बेटे की अभिरुचियाँ मिलेंगी, गुण-स्वभाव मिलेंगे, इन बातों की चिन्ता कौन करता है? ऐसा तो होता चला आया है। अग्नि देवता की साक्षी देकर जो विवाह सम्पन्न होगा, वह कहीं अमांगलिक हो सकता है? यदि हो भी तो बहू-बेटे का दुर्भाग्य! यह तर्क हमें आज कहाँ ले जा रहा है, यह ईश्वर जाने या हमारे कर्णधार। दहेज की कुप्रथा विवाह संस्कार को कलंकित करती हुई आज भी बनी हुई है। इसी का फल यह है कि लड़की

को माता-पिता भार मानते हैं। कोई समय था जब लड़की की हत्या करके दहेज भय से छुटकारा पाया जाता था। अब दह भय से ऐसा तो कहीं-कहीं होता है, परन्तु बेचारी बालिकाओं की क़दर नहीं। घास-फूस की तरह बिना जल-दूध के बढ़ने वाली इन लड़कियों के विवाह का समय आते ही पिता पीला पड़ जाता है।

अब तो हिन्दू समाज अन्ध विश्वासों और ढकोसलों की एक बड़ी मोट (पोटरी) बन कर रह गया है। ऋषि का ईश्वर-चुम्बी चिंतन कहाँ, दार्शनिक आचार्यों के विवेक-सूक्ष्म विचार कहाँ? धर्म रह गया है मूर्त्ति-पूजा में, श्राद्ध व्रतों में, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण दान में। आज अनेक देवता इसके इष्ट हैं। देवियों की संख्या भी कम नहीं, क्योंकि अविवाहित रहना हिन्दू-धर्म में ऐसा पाप है जो रौरव का अधिकारी बना देता है; और इसलिए प्रत्येक देवता के एक पत्नी क्यों न हो। आज इन्हीं देवी-देवताओं के ऊपर खील-बताशे चढ़ा कर असमर्थ पति की मंगलकामना करने में ही हिन्दुत्व पुण्य का अधिकारी बनना चाहता है। कहीं-कहीं देवताओं को संतुष्ट करने के लिए भैंसे बकरों की बलि चढ़ाई जाती है। जहाँ करोड़ों व्यक्तियों को खाने को नहीं मिलता, वहाँ करोड़ों रुपयों की खाद्य-सामग्री देव मन्दिरों में सड़ती है। फिर इस अन्ध-विश्वास के सहारे करोड़ों पाखंडियों को आश्रय मिलता है जिनमें साधना का बल नहीं, ज्ञान की ज्योति नहीं, ब्रह्मचर्य की सात्त्विकता नहीं। समाज स्वयम् दोनों समय निर्जला एकादशी रखता है, परन्तु इनको खिलाता है। इन बड़े-बड़े पीठ के फोड़ों के कारण आज वह सूर्य-नमस्कार भी नहीं कर सकता, फिर इसका स्वास्थ्य नष्ट कैसे न हो। जो रही-सही धर्म-विवेक की बातें थीं उन्हें एक ओर जनसाधारण की गंडे तावीज-आस्था और पोप-पीर-पूजा ने और दूसरी ओर नई रोशनी के 'अंग्रेज़ी-पढ़े' की नास्तिकता ने अर्द्धचंद्र देकर निकाल दिया है। अब कोई चाणक्य ही उत्पन्न हो, जो शिखा खोल कर इन कुरीतियों के पीछे ही पड़ जाये, तब ही उद्धार संभव है। नहीं तो हिन्दू-धर्म और रसातल में अधिक दूरी नहीं रह गई जान पड़ती।

सुधारक उत्पन्न हुए, समय-समय पर उन्होंने प्राणपन से कुरीतियाँ मिटाने की चेष्टा की; परन्तु हिन्दू समाज कुम्भकरण की नींद सोता रहा। अन्य समाजों

जो जागरण के बिगुल सुन लिए हैं, वे आगे बढ़ गए हैं, परन्तु हिन्दू समाज के देवमन्दिर के देवता भी क्षीर सागर में शयन कर रहे हैं। यदि समाज जागा भी, तो भी उसकी चाल इतनी तेज़ होगी कि गणेशजी के प्रसिद्ध वाहन अपनी प्रगति पर गर्व करेंगे।

पाश्चात्य सभ्यता का भारत पर प्रभाव

१—भूमिका। २—गम्भीरता का नाश और परिचय का अंधानुकरण। ३—उच्छृंखलता की ओर। ४—फैशन से अभिरुचि। ५—कुछ लाभ। ६—समन्वय की चेष्टा।

हमारी सभ्यता के मूल में धर्म की भावना थी। सांसारिक जीवन के सारे कार्य-व्यापार इसी मूल भावना को आधार मान कर चलते थे इसीलिए ऐहिक जीवन को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। सरलता से रहो आचार, विचार और पुरुष को कसौटी ही पर कसते रहो, जीवन के आगे के जीवन (परलोक) को देखो—यह था हमारे शास्त्र-वेत्ताओं का सदेश। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, समाज-शास्त्र और साहित्य सभी धर्म के काँटे पर तुलते थे और संतोष-शांति की ओर अग्रसर होना अपना ध्येय समझते थे। ऐसी सभ्यता की मुठभेड़ हुई पाश्चात्य से जिसमें धर्म की भावना कम थी, सत्पुरुष की ओर भी कम, और आध्यात्म की जरा भी नहीं। उसका मेरुदंड अधिक से अधिक समाज था।

फल यह हुआ कि आज हमारा दृष्टिकोण बदल गया है। पढ़े-लिखे समाज से, जिस पर पाश्चात्य सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव है, धर्म उठ-सा गया है। वह समाज को ही सब कुछ मानने लगा है। उसका समाज भी भारतीय नहीं है। उसने अपनी ढाई ईंट की मस्जिद अलग खड़ी की है और उसी की नमाज़ियों की रुचि द्वारा, उसका पठन-पाठन, उसका रहन-सहन, परिचालित है। उसने अंग्रेज़ी लबोलहजा, अंग्रेज़ी रहन-सहन, अंग्रेज़ी धर्मनीति को अपना आदर्श बना लिया है। पुरुष साहब बन गया है स्त्री

मेम। वह पश्चिमी ढंग के बंगलों में रहने लगा है। बाहरी टीम-टाम खूब है, जेब खाली है; क्रीम, पाउडर, सूट, बूट, टाई, अँग्रेजी ढंग के बाल, मूछें सफाचट या कर्जन ढंग की, हाथ में रिस्टवाच, जेब में फाउनटेनपेन—एक नई जाति के मनुष्य का सृजन हमारे देश में हो गया है, जो अपना वंशवृक्ष भी पश्चिम से मिलाने को तैयार है। इस अंग्रेज़ी फैशन का भूत अंग्रेज़ी के दो अक्षर जान लेने पर ही सवार हो जाता है। समाज की भावना का अधिक ज़ोर होने से व्यक्तित्व मिट चला है। ऊपर की दिखावट बढ़ गई है। एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर बनना चाहता है। इसलिए जीवन के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण भी बदल गया है। फ़ैशन और दिखावटीपन के निभाने के लिए रुपया चाहिये। वह किसी भी तरह आये। घूसखोरी या रिश्वत, चाटुकारी, ग़बन, झूठ की पालिसी—ये बातें आज संसार चलाने के लिए आवश्यक समझी जाने लगी हैं। आत्म-गौरव का नाश हो गया है। जब मनुष्य अपने को छोड़ कर दूसरों पर दृष्टि रखने लगता है, तो फल यही होता है जो यहाँ दिखलाई पड़ता है। हाँ, पैसा हाथ से जाए नहीं। इसीलिए दया, क्षमा, परोपकार, अतिथि सत्कार—जैसे भारतीय आदर्श सठियाए हुए बुड्ढे की बक से अधिक महत्त्व नहीं रखते। सच तो यह है कि इन सभी विषयों में आधुनिकों की आज में खाली जेबें और उनसे भी अधिक खाली हृदय साफ़ दिखाई पड़ते हैं।

बड़े लोग धर्म से उदासीन हो गए हैं; यद्यपि नीचे स्तर में अब भी भक्ति, ईश्वर-विश्वास और कर्मनिष्ठा चली आती है। शिक्षित अवश्य ईश्वर के नाम पर मारने दौड़ते हैं। नास्तिक बनना फ़ैशन हो गया है। मनुष्य ही सबसे ऊपर है। उसीने समाज बनाया, सभ्यताओं को जन्म दिया और अर्ध विकसित मन के अंधकार से देवी-देवताओं और उनके गुरु ईश्वर को निकाला। अब मनुष्य भी महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है; समाज ही सब कुछ है। वह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। इस यात्रा में उसे और कुछ छोड़ना पड़े, या न पड़े, ईश्वर और ईश्वरीय कहे जाने वाले गुणों को अवश्य जलांजलि देनी पड़ेगी। यह आधुनिक सभ्यता का दृष्टिकोण है।

परन्तु क्या पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हानि ही हानि हुई है, लाभ

कुछ भी नहीं, यह एक प्रश्न है। इसके लिए हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हानि के साथ लाभ भी हुए हैं। हम घर की चहारदीवारी से बाहर निकल, सारे संसार को दृष्टि में रखकर विचार करने लगे हैं। संसार भर की प्रगति से हम प्रभावित होते हैं। हम अध्यात्म की भूल-भुलैयों से निकल कर ऐहिक जीवन की वास्तविकता में पहुँच गए हैं। नये आदर्श, जिसमें एक राष्ट्रीयता है, एक विश्व-बन्धुत्व, एक समाजवाद, एक विश्वसंघ, एक 'धर्म' नहीं, हमें आन्दोलित कर रहे हैं। हमारे साहित्य ने लोक-भावों को प्रधानता देनी शुरू की है। वह साधारण जीवन के अधिक निकट आ गया है। उसमें, मनुष्य ही क्या, कुत्ता-बिल्ली को भी स्थान मिलने लगा है। यह अवश्य उन्नति के चिह्न हैं।

सच तो यह है कि आज कोई भी देश कूपमण्डूक बना नहीं रह सकता। परिस्थितियाँ उसे उसके अंधकूप से निकाल कर संसार के आँगन में खड़ी कर रही हैं। वह किसी प्रकार अन्य देशों और उनमें रहनेवालों के विचारों से अछूता नहीं रह सकता। आजकल के विज्ञानयुग में तटस्थता का ढोंग बनाए रखना कठिन ही नहीं, हास्यास्पद भी है। सबसे अच्छी बात है सामंजस्य। हम अपनी संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करते हुए पश्चिम से ही क्या कहीं से भी जो कुछ लें सकें लें इसमें कोई हानि नहीं। ध्यान यह रखना होगा कि हम अंधानुकरण तो नहीं कर रहे हैं। दूसरे प्रभाव हमारी संस्कृति के विपरीत तो नहीं हैं। बात कठिन है। समझ-बूझ कर काम करना होगा।

हर्ष की बात है कि अब हम यह सत्य समझ गये हैं। अंग्रेज़ों की विजय से प्रभावित होकर उनकी भाषा, सभ्यता और संस्कृति की ऊपरी बातों का अनुकरण आँधी के बल से चला, परन्तु अब उसकी चाल फीकी पड़ गई है। पिछले ५५-६० वर्षों में हमने बड़ी वेदना के साथ अपने प्राचीन गौरव को समझ लिया है। यही वेदना हमें अपनी दाय सम्पत्ति की ओर ठेल रही है। हमने अपने धर्म और दर्शन की महत्ता स्वीकार कर ली। कल हम अपनी भाषा और अपने रहन-सहन के गौरव-मान को भी समझने लगेंगे। साथ ही हमने पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान को भी नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया है। जिस दिन पूर्व के दर्शन-धर्म और पश्चिम के विज्ञान का मणि-काञ्चन-

संयोग होगा, वह दिन संसार के विकास के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ होगा।

साहित्यिक निबन्ध

हिंदी भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

१—भूमिका। २—विदेशी शासन के कारण विदेशी प्रभाव कुछ अनैसर्गिक रहा; विशेषकर भाषा की दृष्टि से। ३—मुसलमान शक्ति, उनकी भाषा और साहित्य का प्रभाव (१२०० के बाद)। ४—यूरोपियन शक्तियाँ और उनका प्रभाव; विशेषतः अंग्रेजों का प्रभाव (१८०० के बाद)। ५—अन्तर्प्रान्तीय प्रभाव। ६—इन प्रभावों के होते हुए भी हिंदी ने अपनी मौलिकता बनाये रक्खी है।

हिन्दी भाषा की उपमा गंगा की विशाल, स्वच्छ जलधारा से दी जा सकती है जिसमें विदेशी भाषा और साहित्य के रूप में अनेक छोटी-बड़ी धाराएँ समय समय पर मिलती रही हैं और अब उसमें इस प्रकार एकाकार हो गई हैं कि उनका अलग व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। उन्होंने मूल-धारा पर अपना थोड़ा-सा रंग ज़रूर चढ़ाया है और साथ ही उसे थोड़ा बल भी दिया है। साहित्य के विद्यार्थी को विश्लेषण करके यह जान लेना चाहिए कि विदेशी प्रभाव कहाँ है और कितना है।

पहले हमें एक बात समझ लेना चाहिये। हिंदी भाषा की उत्पत्ति के कुछ ही दिनों बाद हिन्दी प्रदेश विदेशियों के हाथ में पड़ गया। इन विदेशियों की अपनी भाषा थी, अपना साहित्य था, अपनी संस्कृति थी। यह परिस्थिति अब तक बनी हुई है। शक्ति एक विदेशी सत्ता के हाथ से निकल कर दूसरी विदेशी सत्ता के हाथ में चली गई है। अतएव इन आठ सौ शताब्दियों के बीच में भाषा और साहित्य को एक अनैसर्गिक वातावरण में विकसित होना पड़ा। इसीसे उस पर विदेशी प्रभाव कुछ अधिक है। यदि राजशक्ति की बागडोर विदेशियों के हाथ में न रहती तो इतना

विदेशी प्रभाव हम नहीं देखते। यह आश्चर्य और गर्व की बात है कि हिन्दी की आत्मा इस प्रभाव के आगे झुक नहीं गई।

१२०० ई० के बाद मुसलमानों के साथ अरबी और फ़ारसी भाषाएं हिन्दी-प्रदेश में आई। शीघ्र ही इन भाषाओं का, विशेष कर फ़ारसी का, प्रभाव हिन्दी बोलियों पर पड़ा। बहुत से फ़ारसी शब्द अपना लिए गये और उनके साथ कुछ विदेशी ध्वनियाँ (क़ ख़ ग़ ज़ फ़ स़) हिन्दी में आईं। साहित्य पर विदेशी प्रभाव शीघ्र नहीं पड़ा। चंद बरदाई के रासो में पाँच प्रतिशत फ़ारसी शब्द हैं परन्तु उसकी आत्मा में हमारे महाकाव्यों का स्पंदन है।

चंद के ६० वर्ष बाद दिल्ली के कवि अमीर खुसरू की रचनाओं में हमें पहली बार साहित्य पर पड़े हुए विदेशी प्रभाव के दर्शन होते हैं। विदेशी भाषा का सबसे अधिक प्रभाव दिल्ली और मेरठ के आस-पास की बोली पर पड़ा। उसमें फ़ारसी के शब्द घर करने लगे। उन के साथ फ़ारसी संस्कृति का भी रंग चढ़ा। खुसरू की कविताओं में हमें फ़क्कड़ी जीवन, ऐश-आराम और विलास पर क़ुर्बान होने वाली विनोदी प्रकृति के दर्शन होते हैं। मुसलमानों में एक ऐसा दल भी था जो सूफ़ी कहलाता था। इसने अपने धार्मिक विश्वासों का प्रचार दिल्ली-आगरे की खड़ी बोली में किया। शीघ्र ही इससे सम्बन्ध रखने वाली शब्दावली प्रचलित हो गई। कुछ समय बाद कबीर और परवर्ती सन्त कवियों के साहित्य में इसके प्रभाव के दर्शन होते हैं। हिन्दी का 'प्रेमकाव्य' इसी प्रभाव का फल है।

इसी समय भक्ति की भावना का विकास हुआ। इसका साहित्य ब्रज (कृष्णकाव्य) और अवधी (रामकाव्य) में है। इसकी जड़ें देश के साहित्य में गहरी पैठी थीं; अतः यहाँ-वहाँ कुछ विदेशी शब्दों को छोड़ कर इसका सब कुछ इसी देश का है। इस समय तक दिल्ली में मुग़लों का शासन आरम्भ हो गया था। दिल्ली-आगरे-मेरठ की भाषा (खड़ी बोली) में फ़ारसी शब्दावली का काफ़ी स्थान था; अतः उसका एक ऐसा रूप विकसित हो गया था जो बाद में (१७वीं शताब्दी में) उर्दू के नाम से चल पड़ा। मुग़लों के दरबार में फ़ारसी कवि और हिन्दी कवि साथ रहते; स्वयम् जनता शासकों की देखा-देखी

विलासी हो गई थी। अतः धर्म ने रंगीला रूप पकड़ा। रीति-काल की कविता का आरम्भ हुआ।

प्रेम की इस्लामी भावना सूफ़ी कवियों द्वारा हिन्दी में आ ही गई थी। प्रेम और विरह की अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पनाएँ इसका एक रूप था। धीरे-धीरे आध्यात्मिक संकेत हट गया; लौकिक काव्य में प्रेम की छीछालेदर होने लगी। नेज़े-बरछी चलने लगे।

अठारहवीं शताब्दी तक यही परिस्थिति रही। इस समय तक खड़ी बोली उर्दू काफ़ी विकास पा चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु शीघ्र ही नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं और उसे बिलकुल स्वतंत्र रूप से पनपना न मिला। अंग्रेज़ी शक्ति इस प्रदेश की अधिकारिणी हुई। उसने उर्दू को अदालतों, दफ़्तरों की भाषा बनाया; अपनी भाषा अंग्रेज़ी का पठन पाठन प्रारम्भ किया। हिन्दी की अपेक्षा उर्दू का गद्य अधिक शीघ्रता से बढ़ा। उस पर फ़ारसी का प्रभाव था, विशेषकर उसके उपन्यास साहित्य पर तिलस्म होशरुबा आदि का। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में उर्दू के [illegible] का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा और चन्द्रकान्ता, भूतनाथ प्रभृति तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास लिखे गए। इनमें उर्दू ढंग की इतिवृत्तात्मकता और घटना-वैचित्र्य की प्रधानता है।

अंग्रेज़ी भाषा का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। हिन्दी के ध्वनि-समूह में केवल कुछ ही ध्वनियाँ नई आईं। यह केवल अंग्रेज़ी शब्दों में, जैसे ऑ। शब्द-भाण्डार [illegible] कुछ अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा। अनेक मुहावरों, कहावतों और अनेक शब्द तद्भव रूप में हिन्दी ने [illegible]; अंग्रेज़ी के कुछ तत्सम शब्द भी प्रचलित हुए। [illegible] पर भी प्रभाव पड़ा। '[illegible] गुरु' ([illegible]) [illegible] मिलते हैं। [illegible] के अनेक [illegible] हुए। इतना कुछ होने पर भी साहित्य की भाषा की आत्मा देशी ही रही। हाँ, बोल-चाल की भाषा (खड़ी) पर यह प्रभाव अधिक साफ़ झलकता है, विशेषतः नगरों में।

१९०५ में बंग-विच्छेद की घटना से हिन्दी प्रांत बंगाल की ओर आकर्षित हुआ। पश्चिमी प्रभाव पहले विशेषतया बङ्गला-साहित्य और उसके अनुवादों में होकर हिन्दी में आया। रेनाल्ड्स और शरलाक होम्स के अनुवाद हुए। उनके ढंगों पर मौलिक रचना भी हुई। बङ्गला उपन्यासों और नाटकों की सस्ती भावुकता हिन्दी में आई। डी० एल० राय और शरत् की रचनाओं ने इसमें सहायता दी।

१९१४ में रवि बाबू को नोबिल पुरस्कार मिला। उनकी पुरस्कृत रचना (गीताञ्जलि) अंग्रेजी गद्यानुवाद के रूप में हिन्दी में आई। इसने हिन्दी में एक नई गद्यशैली ही चला दी जो 'साधना' (राय कृष्णदास), 'अन्तर्नाद' (वियोगी हरि) आदि में मिलती है। कविता में इसने एक नई शैली की सृष्टि की जिसे छायावाद कहा जाता है। द्विजेन्द्र और शांतिभूषण सेन के ऐतिहासिक उपन्यासों ने 'प्रसाद' जी को उनके क्षेत्र की ओर इंगित किया।

पिछले पंद्रह वर्षों से हिन्दी लेखकों का क्षेत्र अधिक व्यापक हो रहा है। वे अनेक विदेशी लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं; विशेषकर अंग्रेजी, फ्रांसीसी और रूसी लेखकों की। इन रचनाओं से उन्होंने बल प्राप्त किया है। यूरोप के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों और उन्नीसवीं शताब्दी के काव्य-ग्रन्थों से उन्होंने पर्याप्त सामग्री ली है। एकांकी नाटक तो यूरोप की चीज़ है ही। विज्ञान, आलोचना, इतिहास, भाषाविज्ञान आदि साहित्य के अनेक क्षेत्रों में ग्रन्थों की रचना हो रही है, जो या तो विदेशी ग्रन्थों से अनूदित हैं या उनको सामने रख कर लिखे गये हैं।

इतने प्रभावों के होते हुए भी हिन्दी ने अपनी मौलिकता बनाए रक्खी है। गङ्गा के जल की तरह उसने सभी विदेशी धाराओं को परिष्कृत करके अपना लिया है। वह जीवित भाषा है; क्योंकि जीवित और अनुप्राणित वस्तु पर बाहरी वस्तुओं की प्रतिक्रिया होती है। उसका साहित्य बाहरी प्रभावों को लेकर भी उसका अपना है।

खड़ी बोली की हिन्दी कविता

१—खड़ी बोली का जन्म। २—प्रारम्भिक रचनाएं; सिद्ध, नाथ एवं सन्त काव्य में खड़ी बोली की कविता। ३—खड़ी बोली कविता का नवीन युग; हरिश्चंद्र और उनके परवर्ती कवि। ४—खड़ी बोली की कविता का द्विवेदी युग। ५—छायावाद-स्कूल।

खड़ी बोली की कविता का इतिहास बहुत पुराना है। उसका समय निश्चित करना संभव नहीं है। दसवीं शताब्दी के लगभग शौरसेनी प्राकृत से खड़ी बोली 'भाषा' का विकास हुआ और इसी समय के लगभग के सिद्ध-साहित्य में हमें खड़ी बोली की झलक मिलती है। हिन्दी खड़ी बोली का पहला कवि अमीर खुसरू माना जाता है जिसका समय तेरहवीं शताब्दी है; परन्तु उसकी कविता का जो रूप हमें मिलता है वह बाद को परिष्कृत किया हुआ जान पड़ता है। चौदहवीं शताब्दी में हमें गोरखनाथ के किसी मतावलंबी का ग्रन्थ 'काफ़िर बोध' मिलता है जिसमें हिन्दू-मुसलमान में मेल स्थापित करने की भावना काम कर रही है (हिन्दू-मुसलमान ख़ुदाई के बन्दे। हम जोगी न रहें किसी ही के फन्दे)।

इसके बाद एक शताब्दी पश्चात् से हमें उस कविता-धारा के दर्शन होते हैं जिसे संत-काव्य का नाम दिया गया है। यह काव्य खड़ी बोली में ही है, यह निर्विवाद है; यद्यपि संतों के पर्यटन-प्रिय होने के कारण अनेक भाषाओं के रूप भी इसमें मिलते हैं। इसके प्रवर्त्तक कबीर हैं। सन्तो की उपासना ही जैसे उनकी कविता में साकार हो गई है; सत्य ने ही जैसे उनका हाथ पकड़ कर उन्हें रचना करने की प्रेरणा की है। इसीलिए अलंकार और कला से हीन परन्तु आत्मा की उज्ज्वल आभा से दीप्त यह संत-काव्य अद्वितीय ही है। रहस्यवाद की सबसे ऊँची उड़ान के दर्शन यहाँ होते हैं—

> ये अंखियाँ अलसानी हो पिय सेज चलो,
> खम पकरि पतङ्ग अस डोलै बोलै मधुरी बानी।
> फूलन सेज बिछाय जो राख्यो पिय बिना कुम्हिलानी॥

धीरे पाँव धरो पलँगा पर, जागत ननँद जिठानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो लोक लाज बिलछानी॥

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सन्त-काव्य के रूप में खड़ी बोली चलती रही यद्यपि ब्रज और अवधी के साहित्य को ही अधिक प्रश्रय मिला।

खड़ी बोली का वर्त्तमान युग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। उस समय तक खड़ी बोली गद्य में काम आने लगी थी। भारतेन्दु जी के नाटक खड़ी बोली गद्य में ही हैं। परन्तु पिछले तीन सौ वर्षों से कविता में ब्रज भाषा का बोलबाला था। अतः इन नाटकों में कविता के लिए ब्रज भाषा का ही प्रयोग किया गया। भारतेन्दु का मत था कि कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त नहीं है। इसीलिए उन्होंने हास्य रस के लिए ही इस भाषा का कविता की। गम्भीर कविता ब्रज भाषा में ही होनी चाहिए, यह उनका विश्वास था।

भारतेन्दु के परवर्ती युग में खड़ी बोली कविता की कुछ प्रयोगात्मक रचनाएँ हुईं, परन्तु उनका अर्वाचीन विकास द्विवेदी-युग में हुआ। इस समय संत-युग से आती हुई काव्य-धारा से इसकी लड़ी का मेल बिठाने की चेष्टा नहीं की गई। इसके विकास में द्विवेदीजी और श्रीधर पाठक का हाथ मुख्य था; आरम्भिक रूप होने के कारण इसमें कर्कशता की मात्रा अधिक थी। उसके भावपक्ष में कोई विशेषता नहीं थी। उसका रूप इतिवृत्तात्मक था और भावना नीतिपरक।

खड़ी बोली के इस काल के पहले कई सौ वर्ष से हिन्दी कवि शृंगार की कविताएँ लिखते चले आये थे। शैली इतनी कलापूर्ण हो गई थी कि हृदय का झलक ही कहीं नहीं दीखती थी। इस समय का भावुकता-हीन शुष्क, नीति-संबन्धी काव्य इस परिस्थिति की प्रतिक्रिया मात्र था। धीरे धीरे कवियों ने शृंगार क्षेत्र में भी प्रतिक्रिया शुरू की। उन्होंने प्रकृति का चित्रण किया। देश-प्रेम के गीत लिखे। दयानन्दजी के आर्य समाज-आन्दोलन के कारण संस्कृत का महत्त्व बढ़ गई थी। इसका प्रभाव कविता पर पड़ता था। खड़ी बोली के कवियों का ध्यान संस्कृत वर्ण-वृत्तों की ओर गया। इससे तुक को भी स्वतन्त्रता मिली। हरिऔधजी ने इस ओर अनेक प्रयत्न किये। उनका

महाकाव्य (प्रियप्रवास) इन्हीं प्रयत्नों का फल है। परन्तु वर्ण-वृत्त, समास, सन्धि और विभक्ति प्रधान भाषा के लिए ही उपयुक्त हैं। हिन्दी की प्रकृति मात्रिक छन्दों को अधिक अपनाती है।

द्विवेदी-काल के कवियों (श्रीधर पाठक, रूपनारायण पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी आदि) ने मात्रिक और वर्ण-वृत्त दोनों प्रकार के छंदों में रचना की। इन्होंने संस्कृत के ढङ्ग पर अतुकांत कविता भी लिखी। इनका अधिक प्रयत्न भाषा को माँजने में रहा। इस स्कूल के सबसे बड़े कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं, जिन्होंने भाषा की सफ़ाई के साथ हिन्दू संस्कृति को भी समाज के सामने रक्खा। उन्होंने अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं को कल्पना से पुष्ट कर अपने काव्य का विषय बनाया। विषय की दृष्टि से उनमें मौलिक उद्भावना बहुत नहीं रही।

भारतेन्दु ने भारत-दुर्दशा, नील देवी आदि नाटकों में देश की दुर्दशा के सम्बन्ध में कुछ राष्ट्रीय कविताएँ लिखी थीं। बाद के लेखकों का एक विषय ऐसी ही उत्साहजनक कविताओं की सृष्टि था। श्री सत्यन रायण जी और वियोगी हरि ने ब्रजभाषा में राष्ट्रीय भावसे प्रेरित कविताएँ लिखीं। गुप्तजी ने तो भारत-भारती को ही इसका विषय बनाया और वह पहिली बार राष्ट्रीय कवि के रूप में ही हमारे सामने आए। प्रकृति के सुन्दर चित्र भी खींचे गए, परन्तु उनमें विशेषता कुछ नहीं थी। वे अधिकांश में इति-वृत्त के रूप में होते; प्रकृति के बाह्य चित्रण तक ही जाकर उनका प्रयास रुक जाता।

द्विवेदी-युग के बाद हिंदी कविता के क्षेत्र में एक नई शैली का जन्म हुआ। इसमें कला की मात्रा प्रचुर थी। दिशाएँ भी अनेक थीं परन्तु दृष्टि-कोण की विभिन्नता भी थी। भाषा में अधिक स्वतन्त्रता से काम लिया जाने लगा, विशेष कर उसकी व्यञ्जना-शक्ति में से। कवि आंग्ल और बँगला साहित्य से प्रभावित हुए और उन्होंने एक प्रकार की सूक्ष्मता को जन्म दिया। यह शैली 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारी जाने लगी थी। जयशंकर प्रसाद इसके प्रवर्त्तक थे। सुमित्रानन्दन पंत, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला,' श्रीमोहनलाल महतो, वियोगी हरि और श्री माखनलाल इस शैली के प्रधान कवि हैं। कवियों ने बाह्य जगत के सुन्दर चित्रण तो किए ही परन्तु अन्

उनकी दृष्टि अन्तर्प्रदेश की ओर गई। कल्पना, भावना और सूक्ष्म मनोभावों के साम्राज्य में विचरने लगे। कविता के उपकरण सूक्ष्म, अस्थूल और रंगहीन रेखा-चित्रों के द्वारे सवारे जाने लगे।

छंदों में भी स्वतन्त्रता बरती जाने लगी। अंग्रेजी काव्यशास्त्र का सहारा लेकर छन्दों की कड़ी ढीली की गई। निरालाजी ने मुक्त छंद (Free Verse) भी लिखा। इसमें मात्रा और अक्षरों की गणना का नियम नहीं था, यह केवल स्वराघात के सहारे बल लेता चलता था—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सोहाग भरी,
स्नेह-स्वप्न-मग्न,
अमल-कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बंद किए शिथिल पत्राङ्क में—

पंत जी का एक छन्द स्वातन्त्र्य का उदाहरण देखिए—

देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये, भर-भर अपना आसव
पिलाता है मधुकर को;
नवोढ़ा बाल लहर
किनारे उपकूलों के—
सरकती है सत्वर।

इस तरह कविता की द्विवेदी काल की जड़ता जाती रही, सौन्दर्य और भावना से आकृष्ट हो कवियों ने एक नवीन काव्य की सृष्टि की। प्रकृति को प्रति कलात्मक ढङ्ग से देखा गया। उसमें रहस्यमय, जीवित, अनुप्राणित सत्ता की कल्पना की गई।

देश में जो अनेक सांस्कृतिक और राजनैतिक धाराएँ बहीं उनका प्रभाव इन नए कवियों की कविता पर पड़ा है। विदेशी सत्ता और आर्थिक कठिनाइयों से असफल-सामना करने के कारण एक निराशामय प्रवृत्ति का जन्म

हुआ। कवियों ने एक प्रकार के आध्यात्मिक दुःख का अनुभव किया। महादेवी की कविताओं में वह मुखर है। कवि कहने लगा—

गगन के उर में भी हैं घाव।
देखती तारायें भी राह॥

बच्चन की कविताओं में इस आध्यात्मिक असन्तोष ने भयङ्कर विद्रोह का रूप ग्रहण कर लिया है।

आज हिन्दी की खड़ी बोली की कविता सभी सूक्ष्म मनोभावों के प्रगट करने में समर्थ है। अनेक महाकाव्यों की सृष्टि हुई है। गुप्त जी ने साकेत, द्वापर आदि महाकाव्य लिखे हैं। प्रसादजी का महाकाव्य 'कामायनी' छायावाद की सबसे ऊँची रचना है। मानसिक भावों के मूर्त चित्रों का जितना अच्छा अंकन यहाँ हुआ है उतना अच्छा विदेश के भी किसी काव्य ग्रन्थ में नहीं हुआ। काव्य-क्षेत्र में गेय गीतों की सृष्टि प्रारम्भ हुई है और इस दिशा में अच्छा काम हो रहा है। यों तो हमारा साहित्य ही गीतात्मक है परन्तु शुद्ध गीत की ओर झुकाव पिछले युग की वर्णनात्मकता के विरुद्ध सफल प्रतिक्रिया है। आज खड़ी बोली की कविता राष्ट्रीय और सामाजिक अपने प्रतिक्रियाओं को व्यक्त कर रही है। वह भारत की आत्मा के निकट है। नवीन अलङ्कारों और नूतनतम कलाविधानों के भीतर भी कवियों ने भारती की मूर्ति के दर्शन किए हैं और उसे 'पत्र-पुष्पम्' समर्पित किए हैं।

हिन्दी-चित्रपट

१—हिन्दी चित्रपट का क्या अर्थ है? २—चित्रपट का इतिहास। ३—चित्रपट और रङ्गमञ्च। ४ हिंदी चित्रपट की आवश्यकताएँ। ५—कुछ प्रश्न।

सच तो यह है कि हिन्दी-चित्रपट नाम की कोई चीज़ हमारे सामने नहीं है। चित्रपट का सारा व्यवसाय कलकत्ते और बम्बई के प्रान्तों में सीमित है। हिन्दी-प्रदेश में कोई चित्रपट नहीं बना है। हाँ, यदि हम ऐसे चित्रपटों को

हिन्दी-चित्रपट कहना चाहें जिनकी भाषा हिन्दी है तो हम उन बहुत से चित्रपटों को इस नाम से पुकारेंगे जो हिन्दी-प्रांत के बाहर हमारी भाषा और संस्कृति के अज्ञान से भरे हुए वातावरण में बनते हैं; परन्तु जिनकी भाषा, व्यवसायिक सुविधा के कारण, हिन्दी रहती है।

चित्रपट महायुद्ध के बाद का आविष्कार है। इतने थोड़े समय में ही यह मनोरञ्जन का एक बड़ा साधन बन गया है। पहले कुछ दिनों अवाक् चित्रपट चलते रहे। इनमें नाट्य के लिए स्थान नहीं था, अतः नृत्य ऊँचे दर्जे का रहता था। चरित्र-चित्रण और भावभङ्गिमाओं की ओर प्रेक्षकों का ध्यान अधिक जाता था। परन्तु सवाक् चित्रपट के आविष्कार के बाद अवाक का चलन जाता रहा, यद्यपि उसमें कलात्मक अभिनय कहीं ऊँची श्रेणी का होता था।

चित्रपटों के प्रवेश के पहले रङ्गमञ्च पारसियों के हाथ में था। अतः पहले चित्रपट इन्हीं लोगों ने बनाए और ये पारसी नाटकों का रूपान्तर मात्र थे। इनमें न कथानक की मौलिकता थी, न कला की अन्तर्दृष्टि। अब भी चित्रपटों का व्यवसाय इसी वर्ग के हाथ में है, विशेष कर बम्बई की तरफ, परन्तु इस क्षेत्र में बङ्गाल के प्रसिद्ध कलाकारों के आ जाने के कारण प्रतियोगिता ने इन्हें भी कला का आश्रय लेने के लिए मजबूर कर दिया है। पारसी-स्टेज के प्रभाव के कारण सवाक् चित्रों में सङ्गीत और पद्य भाग का आधिक्य रहा; विशेषतः पहले चित्रपटों में। अब परिस्थिति बदल रही है।

चित्रपट और रङ्गमञ्च में अन्तर है। रङ्गमञ्च पर अनेक दृश्य दिखाए नहीं जा सकते। उस पर दृश्य को लगातार बदलते रहना अस्वाभाविक है। इस समय संसार में यथार्थदर्शन की ओर जो अभिरुचि है उसे चित्रपट बहुत बड़े अंश में पूर्ण करता है। इन चित्रपटों के द्वारा मनुष्य ने संसार के प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग पहली बार किया है। कैमरे के कौशल के कारण मीलों तक फैले हुए मैदान, खेत, समुद्र और मरुभूमि तथा नदी, उपवन, नगर सभी हमारे सामने अपने यथार्थ रूप में आ जाते हैं। रङ्गमञ्च पर यदि जीवन का एक अंश दिखाया जा सकता था तो चित्रपट पर जीवन के सभी अंग सारी विशदता और विपुलता के साथ।

परिस्थिति कुछ इस प्रकार है। रंगमंच का क्षेत्र सीमित है। चित्रपट का क्षेत्र असीम है। रङ्गमञ्च पर सेनाओं के लड़ने और जलयानों के चलने के दृश्य दिखाना असम्भव है। चित्रपट पर ये बातें सम्भव हो जाती हैं। संसार में जो भी कभी हुआ या होगा; मनुष्य ने जो भी कभी सोचा है या सोचेगा; आज वह सभी चित्रपट पर अंकित करना सम्भव है। मनुष्य जिस नवीनता का परिचय प्राप्त करना चाहता है, वह यहाँ उसे थोड़े से खर्च में मिल जाता है।

ऊपर चित्रपट के आकर्षण के कुछ कारण दिये हैं। हिन्दी-चित्रपट को पश्चिम का विकसित रूप सहज में ही प्राप्त हो सका। उसके सामने ऊँचे कलात्मक नमूने मौजूद थे। यदि वह इस समय तक इतना विकसित नहीं हो सका जितने पश्चिम के चित्रपट तो यह उसकी अपनी अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण हैं। चित्रपट के लिए पहली महत्वपूर्ण वस्तु कहानी है। हमारे डायरेक्टर इस ओर ध्यान नहीं देते। इधर-उधर की कहानियों को हिन्दी का चोला पहना कर रख देना कला को भ्रष्ट कर देना है—परन्तु इस ओर ध्यान कौन दे? आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी के अच्छे कहानी-लेखकों और उपन्यासकारों से कहानी लिखाई जाए; उन्हें कहानी की सामग्री इकट्ठी करने की सुविधा दी जाय; उनके सामने विदेशी कलापूर्ण चित्र रक्खे जायँ। कथोपकथन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। वह शुद्ध और स्वाभाविक हो। कला की विशेष बातें चाहे वे बाहर से लें परन्तु उन्हें हिन्दी और हिन्दोस्थान की संस्कृति का ध्यान रख कर चलना होगा। तभी राष्ट्रीय चित्रपट का निर्माण हो सकेगा।

एक बात और। यह भी ज़रूरी है कि सभी फ़िल्म कम्पनियाँ एक ही तरह के चित्रपट नहीं बनाएँ। कुछ ऐतिहासिक चित्रपट बनाएँ; कुछ सामाजिक; कुछ कल्पनात्मक। इससे कार्य का विभाजन हो जायगा और शक्ति का अपव्यय भी नहीं होगा। ऐतिहासिक चित्रपट बनाने वाली कम्पनी को वातावरण (Setting) उपस्थित करने के लिए खोज, सामग्री आदि में इतना व्यय करना होगा कि वह कथा के अन्य क्षेत्रों में सफल न हो सकेगी। इसी प्रकार डायरेक्टरों का दृष्टिकोण विशेषज्ञ का होना चाहिये। अब जनता की

रुचि पहले से अधिक परिष्कृत है। वह इस प्रकार के चित्रपटों का स्वागत करने को तैयार है। आवश्यकता है इस दिशा में प्रयत्न की। साधारण जनता और विद्यार्थियों के लिए शिक्षा-सम्बन्धी (ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक आदि) चित्रपट भी बनें। हमारे देश में बच्चों के मनोरञ्जन की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता है। उनके लिए व्यंग परिहास-चित्र और छाया-चित्र बनाना चाहिये। इस प्रकार के छाया चित्रों का प्रचार हमारे संस्कृत के रङ्गमञ्च पर था। ये छाया-चित्र जीवित पात्रों के भी हो सकते हैं और कठपुतलियों के भी।

परन्तु यह परिस्थिति उस समय तक रहेगी जिस समय तक हिन्दी-प्रदेश के धनी व्यवसायी इस ओर ध्यान नहीं देते। हमें अपने घरों और कुटुम्बों को चित्रपट में स्थान देना है। यह अन्य प्रांत-वासी द्वारा होना सम्भव नहीं। उसकी पहुँच कितनी गहरी होगी? हमारे अपने प्रांत की कितनी विशेषताएँ हैं जो अभी तक हिन्दी-चित्रपटों में आई हैं? क्या उन्होंने हमारी संस्कृति की रक्षा की है? क्या उनके द्वारा भावी सन्तानें हमें यथार्थ रूप में समझ सकेंगी? यदि नहीं तो अभी प्रयत्न के लिए बहुत जगह है। हमारे यहाँ प्राकृतिक दृश्यों का इतना बड़ा संग्रह है कि हमें कहीं दूर नहीं जाना है। हमारे यहाँ लेखक भी हैं। प्रेमचंद और प्रसाद के उपन्यासों और कहानियों को हमने चित्रपट पर लाने के लिए क्या किया है? बङ्गाल और गुजरात के लेखक चित्रपट पर चल सकते हैं तो हिन्दी-प्रदेश में उसकी आत्मा को पहचानने वाला गरीब हिन्दी का लेखक क्यों नहीं?

साहित्य और समाज

१—साहित्य और समाज का संबंध। २—'कवि या लेखक युग का प्रतिनिधि है'। ३—साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। उसमें देश और समाज की विशेषताओं की झलक अवश्य रहती है। शेक्सपियर और कालिदास की रचनायें। ४—हमारे साहित्य और समाज की

विशेषताएँ। ४— युगधर्म और साहित्य। ६—साहित्य का समाज पर प्रभाव।

साहित्य और समाज का एक दूसरे से इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक को समझ कर हम दूसरे की स्थिति का ठीक ठीक अनुमान कर सकते हैं। कहावत है—मुख मस्तिष्क का दर्पण है। साहित्य समाज का मुख है। उस पर समाज की सारी भावनाएँ, सारी महत्वाकांक्षाएँ, सारी प्रेरणाएँ स्पष्ट रूप से झलकती हैं। परन्तु ऐसा क्यों है?

साहित्य का स्रष्टा भी समाज का एक व्यक्ति होता है। चाहे वह कवि हो, चाहे उपन्यासकार, वह अनेक संबंध से समाज से बँधा होता है। प्रत्येक समाज की अपनी परंपरा है, अपनी रूढ़ियाँ हैं और अपने आचार-विचार हैं। कवि या लेखक उनमें पलता है। ये चीजें उसकी सीमा बन जाती हैं। वह अनायास ही उन्हें ग्रहण करके अपने साहित्य का अङ्ग बना लेता है। उसकी सहृदयता औरों से बढ़ी होती है। इसके बल पर वह वायुमंडल में घूमते हुए विचारों और अपने पड़ोसियों की प्रतिक्रियाओं को उनसे अच्छी तरह व्यक्त कर देता है—कल्पना तीक्ष्ण होती है। इसलिए वह अपने युग की सांस्कृतिक विशेषताओं का सफल चित्र उतार सकता है। अतएव हम कवि या लेखक को युग का प्रतिनिधि कहते हैं। वह समाज का मुख है।

मनुष्य की तरह साहित्य का भी एक व्यक्तित्व होता है और जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अन्य मनुष्य के व्यक्तित्व से भिन्न होता है, उसी प्रकार की बात साहित्यों के संबंध में भी है। मनुष्य की मौलिक भावनाओं में कोई अन्तर नहीं है परन्तु जातिगत विशेषताओं के कारण एक जाति या समाज के व्यक्ति के कार्य-कलाप अन्य जाति या समाज के व्यक्ति के कार्य-कलाप से नहीं मिलते। एक जाति या समाज के ही साहित्य में उसके विकास के साथ-साथ अनेक भावनाएं परिष्कृत और परिवर्धित होती चलती हैं। उन्हीं के अनुसार उसके साहित्य में भी बराबर अन्तर पड़ता जाता है।

हमारा देश प्रकृति के अनुराग रङ्गों से भरा हुआ है। वर्षा, शरत्, हेमन्त और वसन्त के अनेक दृश्य हमें प्रभावित करते रहते हैं। एक प्रकार की विशदता, विपुलता और विराटता हमारे देश की प्रकृति में है। हमारे

साहित्य में भी इसी का प्रतिबिम्ब है। पश्चिम का साहित्य संघर्षमय है, इसलिए कि वहाँ प्रकृति इतनी दानशील नहीं। वहाँ छोटे-छोटे देशों के बीच पहाड़ और अनेक प्राकृतिक बाधाएँ हैं जिन्होंने उनमें बसने वाली जातियों को कर्म-प्रधान बना दिया है। यूरोप का लक्ष्य कर्म है, हमारा कर्म से परे की शांति। यदि हम शेक्सपियर और कालीदास की कृतियों को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। जहाँ पश्चिम का महाकवि "To be or not to be" (जीवन या मृत्यु ?) की समस्या सुलझाता होता है, वहाँ पूर्व का महाकवि तपोवनों की शांति के रहस्य को खोलता होता है। हमारे देश की जनता धर्म-प्राण है; हमारा साहित्य इसका साक्षी है। हमारे साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र के बीच में विभाजित रेखाएँ खींचना कठिन है।

समाज के विश्वास उसके साहित्य में प्रतिफलित होते हैं। कर्म और आवागमन के भाव हिन्दू जाति की सम्पत्ति हैं। तभी कालिदास कहते हैं—

कल्याण बुद्धेरथवा तवाय न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुर प्रसह्यः॥

(रामचन्द्रजी के संबन्ध में मैं यह शङ्का नहीं कर सकती कि यह काम उन्होंने स्वेच्छाचार से किया, वरन् मेरे ही जन्मान्तर के किए हुए पापों का फल है और मुझको वज्र के समान असह्य हो रहा है) यही निर्वासिता सीतादेवी के वाक्य हैं। पश्चिम के नाटकों का नायक दैव के विरोध में युद्ध करता है, हमारे यहाँ समर्पण।

हमारे साहित्य में त्याग और अहिंसा की भावनाओं का प्राधान्य है। संयम की आग में तप कर प्रेम जब तक शुद्ध नहीं हो जाता तब तक दुश्यंत शकुन्तला को ग्रहण नहीं करता। काम के भस्म होने पर ही शङ्कर पार्वती को स्वीकार करते हैं और कार्त्तिकेय का जन्म होता है। सच तो यह है कि हमने उन्हीं महापुरुषों का आदर किया है जिनमें ये विशेषताएँ थीं और हमारा साहित्य उन्हीं की गौरवगाथा होने के कारण समाज की अन्तरतम प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है।

भाव-प्रधान होने के कारण हमारे समाज में अलंकार-प्रियता आई है। हमारे यहाँ सौन्दर्य के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है और उसमें अलंकारों का

स्थान है। यूरोप में ऐसा नहीं। वहाँ सीधी-सीधी बात कहना अलम् है। इसीलिए हमारे साहित्य में कवित्व और अलंकारतत्त्व की प्रधानता है।

साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास के समानान्तर चलता रहता है। दोनों परस्पर प्रभावित होते हैं। PLEASE GIVE RE

परवर्ती संस्कृत आचार्य-कवियों के समय और मुसलमान काल में समाज निष्प्राण, निर्वीर्य और विलासी हो गया था। उस समय का साहित्य इस बात को स्पष्ट करता है। कलाकार उस चितवन को खोजने में लगे थे, जिसके वश में सुजान हो जाते हैं (अनियारे दीरघ-नयन किते न तरुनि अजान। वा चितवन कुछ और है जिहि बस होत सुजान।।) इसी कारण काव्य में कला-प्रियता मिली। सन्तों और वैष्णवकवियों की रचनाएँ तत्कालीन हिन्दू समाज के हृदय के प्रतिबिम्ब के सिवा क्या हैं? आज गुलामी के कारण हमारे साहित्य का दृष्टिकोण बहुत कुछ निराशावादी, कुछ आशावादी है। जाति की अन्तर्वेदना बच्चन, महादेवी और भगवतीचरण की कविता में सुनाई पड़ती है। प्रेमचन्द की रचनाओं ने अर्वाचीन हिन्दोस्थानी हृदय का सफल चित्र अंकित किया। आज से चार सौ वर्ष बाद भी उनके द्वारा उपस्थित किए हुए साहित्य को टटोल कर इस युग का हृदय जाना जा सकेगा।

फिर साहित्य केवल समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं होता। उसका समाज पर प्रभाव भी पड़ता है। साहित्य और समाज दोनों अन्योन्याश्रित हैं। साहित्य में प्रतिभावान मनुष्यों के विचार सन्निहित रहते हैं। ये प्रतिभावान मनुष्य देश काल समाज से रस लेकर बढ़ते हैं परन्तु इस त्रिमूर्ति से भी ऊपर उठ जाते हैं। जो निष्कर्ष ये युगद्रष्टा निकालते हैं, वे सदियों तक लिपि-बद्ध रह कर भावी की पीढ़ियों को अनुप्राणित करते रहते हैं। तुलसी को ही लीजिए। उन्होंने अपने समय के समाज की भक्ति-भावना को रूप दिया परन्तु उनकी कृति ने तीन-चार शताब्दी तक उस भावना को हिंदू समाज में जिलाए रक्खा। क्या यह सम्भव था कि तुलसी के मानस का आधार पाये बिना रामोपासना अब तक चली आ सकती? साहित्य ने समाज पर अंकुश रक्खा है, उसे बल दिया है। वह समाज का मेरुदण्ड है। उससे हम जातीय गौरव का अनुभव करते हैं। उसके द्वारा प्रत्येक समाज पिछली संस्कृति की अंतिम

को पहचानता है और इसी कारण प्रत्येक पीढ़ी में विकास को प्राप्त होते हुए भी समाज की जातिगत विशेषताएँ नष्ट नहीं हो जातीं।

प्रेमचन्द की एक रचना के विषय में

(मित्र के भाई को पत्र)

१—भूमिका। २—कर्मभूमि में कर्मप्रधान जीवन के भीतर से प्रेमचन्द का संदेश। ३—अमरकान्त और मुन्नी के चरित्र। ४—उपसंहार। ५—पत्र का अंत।

म्योर होस्टल, प्रयाग।
२६ सितम्बर, १९४१

रामी भाई,

तुम्हारा पत्र मिला। उसे पढ़ कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि तुमने लिखा था कि तुम बराबर साहित्य का अध्ययन कर रहे हो और जैसे-जैसे तुम पढ़ते जाओगे तुम अपने प्रिय लेखकों के विषय में मुझे लिखोगे। यह बड़ी सुन्दर बात है।

तुमने लिखा है, "मैंने प्रेमचंदजी का 'कर्म-भूमि' पढ़ लिया है, 'गोदान' पढ़ रहा हूँ।" तुमने कर्म-भूमि के संबंध में कई बातें पूछी हैं। नए कहानी-लेखकों के बारे में भी तुम कुछ जानना चाहते हो।

पहले कर्म-भूमि को ही लो। तुमने उसे पढ़ कर समाप्त तो कर दिया, उसने तुम्हारा मनोरंजन अवश्य किया होगा और संभव है उतनी देर के लिए तुम खाना-पीना सब भूल गये होगे, परन्तु तुम उसके कितने भीतर पैठ सके, यह मैं नहीं जानता। कर्म-भूमि नाम बड़ा सार्थक है। प्रेमचंद यह दिखाना चाहते थे कि जीवन के विकास के लिए अंतर्द्वन्द्व की आवश्यकता है, विशेषकर भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्शों से। मनुष्य कर्म करता है और उसी के द्वारा वह विकास को प्राप्त होता है क्योंकि परिस्थितियाँ मनुष्य से टकराती हैं तो उसकी प्रवृत्तियों को धक्का लगता है और वह एक हद तक

बदलने की चेष्टा करती हैं। भावनाओं के क्षोभ के कारण जो आत्मपीड़न होता है, वही समय मिलने पर मनुष्य को दूसरा आदमी बना देता है।

अमरकांत को लो। जब तुमने उपन्यास में प्रवेश किया तब तक वह कैसा आदमी था, जानते हो? दुबला-पतला तो था ही, पर साथ ही उसकी मनोवृत्तियाँ भी उतनी ही दुर्बल थीं। बड़े घरानों में पिता या अभिभावक का एकतंत्र शासन होने के कारण लड़के की जो दुर्गति हो गई है, वह उसकी भी हो गई थी। उसमें आत्म-विश्वास नहीं था; साहस नहीं था; संक्षेप में वह कर्म-भूमि के लिए तैयार ही नहीं हो पाया था। बाद को सुखदा-जैसी दृढ़-विश्वासी और साहसी लड़की से विवाह होने के कारण कुछ इस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि वही अमर दूसरों के दुख-सुख के लिए सब कुछ सहन करता है। वह सुखदा के बढ़ावा देने पर पिता से अलग हो जाता है। अपनी छोटी गृहस्थी का भार उसके सिर पर पड़ता है। तब वह कर्मशील होता है।

देखा तुमने? प्रेमचन्द का संदेश यह है कि तप, साधना और ज्ञान के अतिरिक्त मानसिक भावनाओं के विकास का एक और मार्ग भी है। वह साधारण जनों का मार्ग है। संसार को स्वीकार करो, उसमें निरंतर संघर्ष है—व्यक्तियों का, भावनाओं का और आदर्शों का—और उसमें गुज़रते हुए तुम धीरे-धीरे उसी शांति की ओर बढ़ोगे जो कदाचित् ही किसी कठिन व्रत-साधना से मिल सके। इसीसे तुमने देखा होगा कि उपन्यास के अन्त में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के जीवन में आई हुई शांति की ओर इशारा किया है। कर्म का फल अवसाद नहीं होना चाहिये, वह तो अमर शांति का पेश-ख़ेमा है।

तुमने मुन्नी के चरित्र के संबंध में शंका की है? यह बात बतलाती है कि तुम्हारा दृष्टिकोण कुछ-कुछ आलोचनात्मक हो रहा है। मुन्नी को लेकर प्रेमचन्द ने हिन्दू-स्त्री का एक ऊँचा चरित्र हमें देना चाहा था। हमारे अपने कुछ धार्मिक विश्वास हैं। उनमें एक सतीत्व की भावना भी है। प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि यह भावना समाज में कितनी गहरी पहुँच गई है कि हमारी पत्नियाँ उसे किस प्रकार अनुभूति से ग्रहण कर लेती हैं। हाँ, तुम कह सकते

हो जब उसका पति उसे स्वीकार करने आया था, तो वह लौट जाती। वह तो बलात्कार था जो उसके साथ किया गया। फिर उसमें उसका क्या दोष? वह अपने कुटुम्ब के दुखान्त के लिए दोषी है। परन्तु यही स्थान प्रेमचंद की शक्ति भी कहा जायगा। कौन जाने, सतीत्व की भावना काम की भी है, या पुरानी खूसट हो गई है! प्रेमचंद ने तो हिन्दूनारी की आत्मा निकाल कर रखदी है। अपने पातिव्रत के संबंध में वह कितनी सतर्क, सूक्ष्मानुवेषणी और दृढ़ रहती है! इस एक दिशा में उनकी दृष्टि साफ़ है, ऊँची है।

फिर तुम पूछोगे, मुन्नी के चरित्र के इस पूर्व भाग और उस उत्तर भाग में मेल कैसे बैठेगा? यहाँ एक दृष्टिकोण से प्रेमचंद का चित्रण गिर गया है। हाँ, आलोचकों का यही मत है कि प्रेमचंद कथा की सुन्दरता में बह गए। परन्तु यह बात कुछ खटकती है। जिस चरित्र को प्रेमचंद आदर्श बनाने चले थे, उसे ही क्या वह इस तरह दृष्टि की ओट कर देते? सम्भव है, उन्होंने एक यथार्थवादी चित्र उपस्थित किया हो। वह यह बताना चाहते हों कि परिस्थितियाँ मनुष्य को क्या कर देती हैं।

और, कहानियों के विषय में मैं फिर कभी लिखूँगा। जब तुम 'गोदान' पढ़ लो तो अपनी प्रतिक्रिया मुझे लिखना। यह मुझे अवश्य कहना है कि प्रेमचंद की अपनी हद थी, उस हद में वह कलम के बादशाह थे, उनकी हुकूमत थी। वह मनुष्य की कमज़ोरियों से परिचित थे परन्तु नए यथार्थ-वादी लेखकों की तरह उन्होंने राई का पहाड़ नहीं बनाना चाहा। 'कफ़न' और 'नई बीबी' शीर्षक की उनकी इधर की दो कहानियाँ पढ़ो तो यह बात तुम्हें साफ़ हो जायगी। आज का कहानी-साहित्य इन्हीं कहानियों की दिशा में जा रहा है।

चाचा को मेरा प्रणाम कहना। मुनिया बिटिया पैरों से चलने लगी या नहीं? दशहरे की छुट्टियाँ आ रही हैं। श्याम मुझे अपने साथ लाना चाहता है। देखो, आ सका तो!

तुम्हारा स्नेही भाई,
कृष्ण गोपाल

व्याख्यात्मक निबंध

व्याख्यात्मक निबंध में परीक्षार्थी को कोई उद्धरण, कविता का कोई पद या गद्य का कोई वाक्य या कोई कहावत या उक्ति दे दिए जाते हैं और उसे या तो उसकी व्याख्या करनी होती है या उसके भीतर के सत्य को इस प्रकार प्रकाश में लाना होता है कि पाठक भी उसे मान लें।

जब हम इस प्रकार के किसी विषय या उक्ति आदि पर निबंध लिख रहे हों तो हमें उसके सम्बन्ध में अपने विचार देना चाहिए। उसके प्रतिपादन और विरोध में जो भी बातें कही जा सकती हैं उन पर विचार करना चाहिए असल में हम से तस्वीर के दो रुखों का अध्ययन कह सकते हैं। पहले उसका प्रतिपादन करो, फिर बताओ कि यदि वह सत्य प्रतिपादित न हो तो क्या है। उस सत्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है या जीवन में उसका क्या स्थान है? अपने मत के सम्थापन के लिए कथा-कहानियों आदि का प्रयोग करो। परन्तु जो कुछ व्याख्या तुम दे रहे हो वह वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण हो, उसमें साहित्यिक पुट चाहे जितना हो।

साधारण ढंग से व्याख्यात्मक निबंध का ढाँचा कुछ इस प्रकार रहेगा :—

१—भूमिका—उक्ति को स्पष्ट करो; उसकी आलोचना करो या उसके लेखक की प्रशंसा करो। —व्याख्या के लिए जो उक्ति दी गई है उसको विस्तार पूर्वक समझाने की कोशिश करो। उस उक्ति में सौन्दर्य अथवा सत्य कहाँ है? ३—उसका केन्द्रीय भाव कहाँ है? उसके सत्य पर विचार करो। (क) पहले यह मान लो कि उक्ति ठीक है; फिर उसके सत्य को जीवन पर लागू करो। (ख) फिर यह मान लो कि उक्ति ठीक नहीं है और इस विचार को लेकर चलो। ४—अन्य व्यक्तियों या विचारों से उसकी तुलना करो। ५—उसकी सिद्धि के लिए इतिहास या साहित्य से उदाहरण लो। ६—अपने विचार की पुष्टि करने के लिए महान लेखकों को उद्धृत करो। ७—अन्त—उक्ति के सौन्दर्य पर विचार करो और अपना मत दो।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

१—तुलसीदास की उक्ति की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि । २—दासत्व के दुख । ३—पराधीनता के कुछ कारण । ४—हमारी पराधीनता । ५—तुलसी ने एक महान सत्य को सूत्रबद्ध कर दिया है ।

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।' अयोध्याकांड में गोस्वामी तुलसीदासजी ने मंथरा के मुँह से यह कथन कराया है । सचमुच बात कितनी सत्य और मार्मिक है ! यह अवश्य है कि इसको लिखते समय तुलसी के हृदय में हिन्दू-राष्ट्र की दुर्बलता और परतंत्रता की तस्वीर खिंच गई होगी, क्योंकि यह बात स्वयम् कवि के समय के देश और समाज पर उतनी ही अधिक सत्यता से लागू होती थी जितनी दासी मंथरा की परिस्थिति पर ।

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।' जिसकी स्वतंत्रता ही छिन गई, उसके सुख-दुख का विचार कौन करेगा? उसका व्यक्तित्व कहाँ रहा कि कोई उसके लिए चिंता करे ? सुख उसके लिए मरु-जल से अधिक कुछ भी नहीं ।

दास की बात लीजिए । उसे सुख ही क्या हो सकता है ? जिसे अपने स्वामी के संकेत पर चलने के लिए तैयार रहना है, उसकी मनोवेदना को कौन जाने । वह उठने-बैठने, हँसने-बोलने के लिए भी स्वतंत्र नहीं है । इतिहास के मूक पन्ने दासों पर किए गए अत्याचारों और उनकी निरीहता के साक्षी हैं । विजेताओं ने विजितों को अपना सेवक बनाया और अपनी स्मृति में उनके दाँचों पर बड़े-बड़े स्मारक खड़े किये । आज हम मिश्र के ऊँचे-ऊँचे अहराम (Pyramids) देख कर मिश्री राजाओं के ऐश्वर्य पर आश्चर्य करते हैं । परन्तु उनका यह ऐश्वर्य सहस्रों नर-कङ्कालों के कुत्तों-जैसे जीवन पर टिका हुआ था । दासों का क्रय होता । उनसे अमानुषिक कार्य कराये जाते । बाज़ार की अन्य अनेक वस्तुओं की तरह वे भी मोल-भाव की चीज़ होते ।

यह संसार सुखी क्यों नहीं है ? उत्तर यह है कि यहाँ धन के वितरण में विषमता है, अधिकार के वितरण में वैषम्य है । किसी के पास इतना है कि उसे दोनों हाथों बटोर भी नहीं सकता; किसी के पास कानी कौड़ी नहीं । एक ओर ग़रीब मज़दूर है जिसके पास बिक्री के लिए अपना श्रम है परन्तु

वह अर्थ के लिए पूंजीपति की ओर देखता है। वह पराधीन है। एक दृष्टि से आज भी मजदूर के रूप में दास-प्रथा हमारे यहाँ विद्यमान है। दिन भर, १०-१० घण्टे का परिश्रम लेकर यदि हम एक मनुष्य कहाने वाले जीव को ताँबे के कुछ पैसे देते हैं, तो इसके लिए हम प्रशंसा के पात्र कैसे हुए? क्या हम उन प्राचीन बर्बरों से किसी भी प्रकार श्रेष्ठ हैं जो मनुष्य का सौदा किया करते थे? हाँ, हमारे व्यवसाय का रूप अधिक सभ्य परन्तु अधिक व्यापक होने के कारण, अधिक भयंकर हो गया है।

जब तक आर्थिक क्षेत्र में साम्य नहीं होता तब तक पराधीनता बनी रहेगी और संसार सुखी नहीं होगा। स्वतंत्र देशों में भी साधारण जनता का जीवन सुखमय नहीं है, क्योंकि वह भी कुछ चुने हुए धनवानों के टुकड़ों पर पलती है। वह पराधीन है। आर्थिक पराधीनता शक्ति से या विजय से प्राप्त की हुई पराधीनता से कहीं अधिक दुखद है। आज आर्थिक पराधीनता ने संसार के साधारण जन-समाज को पंगु कर दिया है।

पराधीनता का अनुभव हमारे लिए कोई विचित्र बात नहीं है। आज हम एक विदेशी सत्ता के इशारों पर नाच रहे हैं। अपने घर के भीतर प्रबंध करने का भी हमें अधिकार नहीं है। यूरोप में जंग छिड़ी और सात समुद्र पार बसने वाला हमारा देश उसमें भाग लेने को विवश हुआ। क्यों? हमारे शासक लड़ रहे थे। फिर हमें तो लड़ना ही होगा। यह विवशता क्यों है? हम अपने हजारों आदमियों को क्यों कटा लें? क्या यह पराधीनता की देन नहीं है? एक देश के कुछ उत्तेजनाप्रिय लोगों में मखौल से एक दूसरे, उससे कहीं पुराने, अनुभवी देश लोग सात समुद्र पार जाकर उन लोगों से लड़ मरें जिन्होंने सीधे उनका कोई भी अपकार नहीं किया है। यह पराधीनता जो नाच न नचाए वही कम है। तुलसीदासजी ने महान् सत्य को सूत्रबद्ध कर दिया है। सच ही, पराधीन को सपने में भी सुख की आशा करना हास्यास्पद है।

देश का इतिहास केवल उसके बड़े लोगों की जीवनी है

१—कालचक्र के नियामक महापुरुष। २—देश का इतिहास किस तरह चलता है: जीवित उदाहरण (गांधी)। ३—इतिहास के अध्ययन का नवीन ढङ्ग। ४—महापुरुषों का जीवन ही राष्ट्र का इतिहास है।

यदि हम किसी देश के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें यह पता चलेगा कि उसमें विकास का एक क्रम तो अवश्य है परन्तु उस क्रम के पीछे बड़ी आगे बढ़ाने वाली शक्तियों के रूप में उन लोगों का हाथ है जिन्हें हम आज महापुरुष कहते हैं। यदि हम अपने देश के इतिहास को लें तो भी यही बात दीखेगी। इतिहास में कुछ ऐसे व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे जो कालचक्र को घुमाने में समर्थ हुए हैं। बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी, रामानन्द, दयानन्द और गांधी ऐसे ही व्यक्ति हैं। इन्होंने देश को एक नई दिशा में प्रगति दी है और उसके सामने जीवन के अनेक नए आदर्श रख कर उसके इतिहास की नैतिक उच्चता को अपने स्थान पर बनाए रक्खा है।

परन्तु महापुरुष देश का इतिहास किस तरह बनाते हैं? यदि हम यह बात समझना चाहें तो हमें एक जीवित उदाहरण लेना होगा। हमारे बीच में एक ऐसा महापुरुष है जो हमारे इतिहास को बना रहा है। वह महापुरुष मोहनदास कर्मचन्द गांधी हैं। पिछले बीस-पचीस वर्षों के भारतीय इतिहास को भविष्य का लेखक किस प्रकार देखेगा? क्या यह ५-५ वर्ष के लिए सात समुद्र पार से आने वाले एक विदेशी राज्य के प्रतिनिधियों की सूची रखेगा या इससे कुछ अधिक? हमारे इतिहासकार के लिए यह समय उसी समय सत्य होगा जब वह जन-आन्दोलन के द्वारा राष्ट्र के स्वतंत्रता की ओर बढ़ी हुई गति को देख-समझ सकेगा। इन कुछ वर्षों में चार बार देशव्यापी आन्दोलन हो चुके हैं। उनके साथ एक व्यक्ति का बहुत गहरा संबंध है। वह व्यक्ति गांधी जी हैं। सच तो यह है कि महापुरुष अपने कुटुम्ब से निकल कर सारे देश में रहने लगता है. इसीसे उसका जीवन देश का इतिहास होता

है और देश का इतिहास उसका जीवन। गांधीजी का सारा जीवन सत्य के प्रयोगों में व्यतीत हुआ है। हमारे यहाँ जो बड़े-बड़े आन्दोलन उन्होंने चलाए, वे उनके लिए प्रयोग मात्र थे। सारा राष्ट्र उनकी वेधशाला था। हमारा एक चौथाई सदी का इतिहास गांधी की जीवनी के सिवा क्या है?

यही बात दूसरे महापुरुषों के लिए भी लागू होती है। सचाई इसमें है कि आज हमने इतिहास को देखने का पुराना ढंग छोड़ दिया है। हमारा इतिहासकार यह देखना चाहता है कि युग की संस्कृति किन विश्वासों में सुरक्षित है। बुद्ध ने यज्ञादि के प्रति विरोध करके भारतीय संस्कृति में एक नया तत्त्व जोड़ा। वह तत्त्व करुणा या विश्व-मैत्री का भाव था। लगभग एक हज़ार वर्ष तक भारतीयों के जीवन में वह ध्रुव की तरह अटल चमकता रहा। आज हिंदू-धर्म के मूलसिद्धांतों में वह जगह कर गया है। इस प्रकार अपने मैत्री के उपदेश के द्वारा आज भी बुद्ध हमारे जीवन में जी रहे हैं। कबीर का उदाहरण लीजिये। उनका संदेश तीन शताब्दियों तक समाज के दलित वर्गों का उत्सव बना रहा। उनके समय और उनके दो शताब्दी बाद के इतिहास के मूल में उनका हाथ बहुत महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्र के अनेक-अनेक पुरुषों ने उनके जीवन को अपने जीवन में साकार होते देखना चाहा। यही उनकी विजय थी। यही बात तुलसी के संबंध में है। आज रामभक्त तुलसी का जीवन ही तो जीता है।

इसीसे हम यह कहते हैं कि महापुरुषों का जीवन ही राष्ट्र का इतिहास है। यदि ये महापुरुष न होते तो संस्कृति को आधार कहाँ का मिलता? इतिहास मरुभूमि से अधिक कुछ भी नहीं रहता।

इतिहास से महान् पुरुषों को निकाल लीजिये; उनके जीवन का राष्ट्र पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे हटा दीजिये, फिर देखिये आपके पास क्या शेष बचते हैं। वहाँ शून्य रहता है। थोड़ी-सी जीतों या थोड़ी-सी हारों से क्या होता है परन्तु राष्ट्र उनके साधारण सदस्यों की भावनाओं और विश्वासों में बनता-बिगड़ता है। जो इन भावनाओं और विश्वासों को आगे बढ़ाते हैं, उनका जीवन राष्ट्र की प्रधान शिरा बन जाता है। वही उसके इतिहास को

बताते हैं। ये भावनाएँ और विश्वास लौकिक और पारलौकिक दोनों हो सकते हैं।

'हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ'

१—भूमिका। २—इस युक्ति में दैव को समर्पण की भावना। ३—तुलसी की यह उक्ति अकर्मण्यता का आदेश नहीं देती। ४—मनुष्य के प्रयत्नों में दैव (भाग्य) का स्थान। ५—उपसंहार।

गोस्वामी तुलसीदासजी की यह पंक्ति लौकिक जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को जिस सचाई और सफ़ाई से हमारे सामने रखती है, उतनी दूसरी कोई भी पंक्ति नहीं। यह प्रश्न दूसरा है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण राष्ट्र और व्यक्ति के ऐहिक जीवन के लिए स्वस्थ है या नहीं। कवि अपने समय का दर्पण होता है। मानस के कवि ने इस पंक्ति में अपने युग के विश्वास को बहुत थोड़े शब्दों में हमारे सामने रख दिया है। आज भी हमारे सैकड़ों भाई इस आधे दोहे से संतोष और बल प्राप्त करते हैं। इससे यह तो मालूम हो जाता है कि कवि कितनी दूर तक जनता के हृदय में पैठा हुआ था।

'हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश।' यही तो संसार है। इनके सिवा यहाँ है ही क्या? हिंदू-धर्म में पारलौकिक सत्ता के प्रति समर्पण की प्रथा अनादि काल से चली आ रही है। वैदिक धर्म में यज्ञ का अर्थ देवता को समर्पण करना ही था। वह एक प्रकार की बलि थी। महाभारतकार ने भगवान के मुँह से कहला दिया : 'मामेकं शरणम् व्रज।' इस प्रकार हम देखते हैं कि यह समर्पण की भावना बहुत पुरानी है।

परन्तु क्या इस प्रकार के समर्पण में अकर्मण्यता का आदेश है? जब सब कुछ दूसरे के हाथ में है तो मनुष्य की ऐहिक चेष्टा के लिए स्थान ही कहाँ है। ऊपर से देखने पर यह बात सच जान पड़ती है परन्तु ऐसा नहीं है। गीताकार का तात्पर्य ही दूसरा है। भगवान् जब कहते हैं : अपने सारे कर्म मेरे प्रति समर्पण करते हुए, निष्काम भाव से करो तो वह यह नहीं कहते, कर्म मत करो। उन्होंने मनुष्य के प्रयत्नों के लिए पूरा स्थान छोड़ दिया है। फिर

निष्काम कर्म क्यों ? निष्काम कर्म इसलिए कि जिससे असफल होने पर कर्म में मोह और आसक्ति होने के कारण कर्त्ता को दुख न हो। वह फिर उसमें लग सके। उसको शान्ति का आघात न पहुँचे। जीवन किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर खड़ा नहीं होता। उसमें दुष्ट की जीत भी सम्भव है। यह भी सम्भव है कि सद्व्रती महात्मा जीवन भर असफलता और दुख का शिकार बना रहे। परन्तु गीता के महापुरुष के अनुसार : क्या कर्म करते रहना ही मुक्ति नहीं है ? क्या युद्ध के क्षेत्र में डटे रहना ही आधी सफलता नहीं है ? निरंतर निष्काम कर्म करते हुए भी यदि आदमी को सफलता नहीं मिले तो उसे क्या बात संतोष देगी ? ईश्वर पर विश्वास।

यह अवश्य है कि अकर्मण्य, आलसी और दैवदोषी लोग इस प्रकार के विश्वास से कायरता का पाठ सीख सकते हैं। परन्तु यह कौन नहीं जानता कि ऐसे लोग अपनी मनोवृत्ति का मेल बिठाने के लिए अच्छी से अच्छी उक्ति पर धूल उछाल सकते हैं। यह बात सत्य भी है। लाखों मनुष्यों ने तुलसी के इस कथन को इस तरह समझा कि उनके हाथ-पैर बँध गए और वे अपाहज और लँज बनकर देश पर भाररूप रहने लगे। परन्तु इसमें उस महात्मा का दोष नहीं है।

फिर यदि हम इस भावना का विरोध करते हैं तो जो प्रश्न हमारे सामने आता है, वह यह है—ईश्वर क्यों ? मनुष्य एक अज्ञात, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् सत्ता को क्यों माने ? यह नास्तिक और आस्तिक का झगड़ा है। परन्तु जब एक बार ईश्वर मान लिया जाता है तो उस पर श्रद्धा करके उसकी छाँह में अपने शरीर को असफलता के सूर्य के प्रचण्ड ताप से बचा कर चलना बहुत गलत नहीं है। नास्तिक कहता है—"संसार है, ईश्वर नहीं है। हमें काम करना है, क्योंकि हमारी यह प्रवृत्ति है। हमारी इन्द्रियाँ अपने अंकुश के सहारे हमसे काम कराती हैं। वह भी महत्वाकांक्षी हो सकता है, परन्तु जब वह असफल होगा तो उसकी रीढ़ टूट जायगी। सम्भव है, कुछ आत्मविश्वासी महान् नास्तिक महापुरुष ऐसी परिस्थिति में अपनी दृढ़ता रख सकें परन्तु साधारण मनुष्य को तो अन्धकार दिखाई देगा। यूरोप में ईश्वर-विश्वास इतना गहरा नहीं उतरा है। उस कर्म-प्रधान सभ्यता में असफल होकर

मनुष्य क्या करता है ?—आत्महत्या। वह निराश होकर कर्त्तव्य-क्षेत्र से ही हट जाता है। परन्तु यह तो पहले दरजे की कायरता है। हिन्दू-धर्म में यदि आस्तिकवाद के सहारे इसकी नौबत ही न आए तो इसे अच्छा क्यों न माना जाय ? साधारण जनता में न इतना आत्म-विश्वास होता है न बल कि वह असफलता के धक्के को हँसते हुए झेल सके। इसलिए तुलसी ने व्यवस्था की—हानि और लाभ, जीवन और मरण, यश और अपयश—ये सब विधाता के हाथ में हैं। मनुष्य अपनी करनी करके देख ले; उसमें कसर न करे।

हमारे ऋषियों ने जिस कर्म के सिद्धान्त को धार्मिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, उसके पीछे भी कुछ इस प्रकार का मनोविज्ञान छिपा हुआ है। अब यदि वर्षों की परतंत्रता के कारण हम मूल उद्देश्य को भूल जाएँ, तो दोष हमारा अपना है या उन परिस्थितियों का है जिन्होंने हमारी दृष्टि को धुँधली कर दिया है। काल का चक्र कुछ इस तरह चलता है कि पुराने आदर्श विकृत हो जाते हैं, परन्तु हमें यह चाहिए कि उन्हें फिर उनके शुद्ध रूप में अपनाएँ।

विस्तृत रूपरेखाएँ

सम्राट् अशोक

१—भूमिका—कलिङ्ग-विजय के नायक के रूप में अशोक चिर-स्मरणीय रहेंगे। यह क्या इसलिए कि एक महान् हत्याकांड में उनका हाथ था ? नहीं, वरन् इसलिए कि युद्ध ने उनके जीवन में वह महान् परिवर्त्तन किया जिसका अमिट प्रभाव बौद्ध-धर्म के रूप में पूर्वीय एशिया के करोड़ों निवासियों के धार्मिक विश्वासों, नैतिक आदर्शों और रूढ़िगत संस्कारों पर पड़ा। २—जीवनवृत्त—(क) जन्म; माता-पिता—बिन्दुसार के पुत्र और प्रसिद्ध सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के पौत्र। जनश्रुति है कि सिंहासन पर बैठते ही अपने ९९ भाइयों का बध करा दिया। केवल ज्येष्ठ भ्राता सुषिम का उल्लेख मिलता है। (ख) राजप्राप्ति और शासन—राजप्राप्ति की तिथि २७३ पू० ई०।

अभिषेक ४ वर्ष बाद। राजसभा का अकथनीय वैभव और ऐश्वर्य। ग्रीक-राजदूत मैगास्थनीज़ के चन्द्रगुप्त की राजसभा के वर्णन में उसकी झलक मिल सकती है। एकतंत्र शासकों की तरह हठी, निर्दय, क्रूर। (ग) कलिंग-युद्ध-शासन के नवें वर्ष में। इस युद्ध की भीषणता का अनुमान इससे किया जा सकता है कि इसमें लगभग दस हज़ार मनुष्य मौत के घाट उतरे। युद्ध के बाद महामारी। इस हत्याकाण्ड ने अशोक को प्रभावित किया। उनकी महानता इसमें है कि उन्होंने अपने परिवर्त्तन को स्वीकार करने और आत्मा की प्रेरणा के अनुसार चलने का महान् साहस किया। १३वाँ शिलालेख—"सम्राट् को कलिंग-विजय पर क्षोभ है...." (घ) अशोक बौद्ध प्रचारक के रूप में—बौद्ध के शान्ति और अहिंसामूलक धर्म को ओर। २६० पू० ई० में अशोक भिक्षु हो गए परन्तु साथ ही वह अन्त तक एक बड़े साम्राज्य को सँभालते रहे। ३—उन्होंने बौद्धधर्म को राजधर्म बनाया। उत्तरी भारत में अनेक स्थानों पर शिलालेख के रूप में बुद्ध के संदेश की स्थापना की; विदेशों में प्रचार कार्य के लिए भिक्षु-भिक्षुणी भेजे। उनके प्रयत्नों के स्वरूप आज बौद्ध का धर्म विश्व-धर्म बना हुआ है। ४—अशोक के शिलालेख—उनका ऐतिहासिक महत्त्व; वे एक महान् व्यक्तित्व को प्रकाश में लाते हैं। प्रत्येक तीसरे वर्ष धर्म के विभिन्न अङ्गों की विवेचना करने के लिए संगति। चोल, पाण्ड्य, सिंहल, नेपाल काश्मीर, तिब्बत आदि में उनके प्रचारक। मिश्र, मकदूनियाँ, ऐपिस और सिरिया में भिक्खु। "और सम्राट् के मत में वह सबसे बड़ी विजय है·········धर्म की विजय·········" "इसके सिवा मेरा लक्ष्य क्या हो सकता है कि मैं प्राणियों के ऋण से उऋण हूँ।" ५—जनता के सुख के लिए अशोक के धर्म—धर्मशालाएँ; विहार; करोड़ों मुद्राओं का दान; चिकित्सालय। वह पहला शासक था जिसने व्यावहारिक रूप से मनुष्य मात्र से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। ६—मृत्यु—४० वर्ष के शासन के बाद २३२ पू० ई० के समीप, साम्राज्य-व्यापिनी शांति। ७—कौटुम्बिक जीवन—इसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सीमित है। जनश्रुति तिष्यरक्षिता (पत्नी) और कुणाल (पुत्र) का उल्लेख करती है। भाई महेन्द्र ने सिंहल में धर्म प्रचार किया। एक दूसरी पत्नी कुरुवकी और पौत्र दशरथ का शिला-

लेखों में उल्लेख। ८—उनका महत्व—उनका महान् व्यक्तित्व उन सुवि-धाओं के रूप में जनता के सामने आया जो उन्होंने उसके लिए कीं। किसी भी शासक के विचारों और कार्यों में इतना अधिक मेल न हो सका था। बुद्ध के धर्मचक्र को देश-विदेश में चलाने वाले सम्राट् अशोक निश्चय ही महानात्मा हैं।

छत्रपति शिवाजी

१—भूमिका—शिवाजी की गणना संसार के महान् योद्धाओं और राजनीतिज्ञों में है। उन्होंने विरोधी परिस्थितियों का अदम्य उत्साह से सामना किया और एक अज्ञात पहाड़ी जातियों को संघटित करके एक महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति बना दी। २—(क) जन्म, माता-पिता। उन पर माता-पिता का प्रभाव—सन् १६२७ ई० में पूना के निकट जन्म हुआ। पिता शाहजी, माता जीजाबाई। शाहजी गोलकुंडा राज्य के जागीरदार थे। जीजाबाई उन्हें साहस और सच्चरित्रता का पाठ पढ़ाती थी। उन्होंने उन्हें हिन्दू धर्म की रक्षा में कटि-बद्ध किया। (ख) शिक्षा आदि—शाहजी ने उन्हें अपने एक विश्वसनीय दादाजी कोंडदेव को सौंपा। आखेट, अस्त्र-शस्त्र संचालन और घुड़सवारी इनके प्रिय विषय। दादाजी ने उन्हें युद्ध-कला में पारंगत बना दिया। विद्याध्ययन से इन्हें अरुचि थी। ३—प्रारम्भिक जीवन (क) मुसलमानों की असहिष्णुता से हिंदू जाति दुखी थी। दिल्ली के सिंहासन पर इस्लाम का कट्टर भक्त, औरङ्गजेब। गोलकुन्डा—बीजपुर के राज्य स्वतंत्र थे पर उनके शासक भी यवन थे। १९ वर्ष की आयु में शिवा ने बीजापुर के गढ़ों पर आक्रमण करके उन्हें हस्तगत करना आरम्भ किया। एक-एक करके पुरंदर, तोरन, जुनैर आदि गढ़ों पर उनका अधि-कार हो गया। (ख) क्रुद्ध होकर बीजापुर के बादशाह ने शाहजी को बंदी कर लिया। शिवा ने शाहजहाँ को लिखा। उनके दबाव के कारण शाहजी मुक्त हो गए परंतु बादशाह को शांति नहीं हुई। उसने अफ़ज़ल खाँ को भेजा। (ग) शिवाजी ने छल से अफ़ज़ल खाँ का वध कर दिया। (घ)

अन्त में शिवाजी जीते हुए भाग के शासक स्वीकार किए गए। (ङ) मुगल साम्राज्य के दक्षिणी भागों पर आक्रमण। सम्राट् ने शाइस्ता खाँ को एक बड़ी सेना के साथ भेजा। पूना में भेंट। शिवाजी ने उसे हरा कर भगा दिया। औरङ्गज़ेब ने जयसिंह को भेजा। शिवाजी राजपूतों से युद्ध नहीं करना चाहते थे। वे सन्धि करके दिल्ली गए। (च) छत्रपति शिवाजी कई महीने बन्दी रहे। फिर छल से छूट आए। ५—धीरे-धीरे उन्होंने मुगलों के कई प्रान्त ले लिए। १६७४ में उन्होंने अपने को महाराज घोषित किया। रायगढ़ में उनका अभिषेक हुआ। ६—व्यक्तित्व—ठिगने क़द के; चंचल; दृढ़-प्रतिज्ञ; तीक्ष्ण-बुद्धि; राजनीतिज्ञ; महान् कर्मठ। उनको हिंदू-धर्म पर महान् आस्था थी। समर्थ स्वामी रामदास के शिष्य थे जिनका उद्देश्य ही हिंदू-धर्म का पुनरुत्थान था। अपने व्यक्तित्व की महानता के कारण वह गुरु के स्वप्न को पूरा करने में समर्थ हुए। ७—शासक के रूप में—गो-ब्राह्मण, दीन प्रति-पालक। हिंदू-शासन-तंत्र के ढङ्ग पर ८ मन्त्री होते थे। ग्राम-पञ्चायतें थीं; पटेल न्यायाधीश का काम करते। सेना का सङ्गठन संतोष-प्रद। स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव। ८—मृत्यु—सन् १६८० में। हिंदू जाति का आत्म-भर्त्सना के युग में आत्म-विश्वास की ढाल लेकर छत्रपति शिवाजी ने अनेक आपदाओं से हिंदू-धर्म और संस्कृति की रक्षा की। उनके व्यक्तिगत गुण उन्हें आज भी करोड़ों हृदय का सम्राट् बनाए हैं। महाकवि भूषण का शिवा-बावनी का वह पद किसे याद नहीं है—

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर—

कविवर जयशंकर प्रसाद

१—भूमिका—प्रसादजी ने खड़ी बोली और ब्रज-भाषा के संधिकाल में खड़े होकर अपनी पहली रचनायें लिखीं। कुछ समय बाद ही उन्होंने अपने युग की इतिवृत्तात्मक शैली के विरोध में एक नई शैली की स्थापना की जिसे आज छायावाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी प्रतिभा सर्वमुखी थी। इस विषय में उनकी तुलना विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से

की जा सकती है। २—जीवन-वृत्त (क) जन्म—माघ शुक्ल १२, १६४६ को काशी के प्रसिद्ध सुंघनी साहु के धनी-मानी घराने में। यह साहु शिवरत्न के कनिष्ठ पुत्र थे। (ख) बाल्यकाल—वैभव की गोद में सुख से बीता। कसरत-घुड़सवारी आदि का शौक था। (ग) शिक्षा—स्कूली-शिक्षा अल्पकालिक रही। १२ वर्ष की आयु में पिताहीन हो गए। घर पर विभिन्न अध्यापकों से अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। पुरातत्वशास्त्र की ओर अभिरुचि। (घ) १७ वर्ष की आयु में मातृहीन। परिवार का बोझ पड़ा। पारिवारिक ऋण चुकाने में १६३० तक लगे रहे। (ङ) इसके बाद बहुधा घर पर ही रहते। उनकी नारियल बाज़ार वाली दूकान साहित्यिकों का अड्डा बन गई थी। ३—व्यक्तित्व—उनका शरीर छोटे क़द का सुन्दर, तेजोमय और भव्य था। आँखें भीतर तक घुसने वाली, पैनी। उनमें शान्ति और गंभीरता रहती। प्रफुल्लमुख, निरभिमानी; ऊँची-सी धोती और गले में बनारसी रेशम की चादर डाले हुए प्रसादजी को एक बार देख कर भूल जाना कठिन था। मिलते तो मुस्कराते हुए। ४—रचनाएँ—इनकी प्रतिभा सर्वमुखी थी। १६०५-८ के लगभग ब्रजभाषा की कविताएँ प्रकाशित हुईं। (क) कविता : फिर 'इन्दु' में खड़ी बोली की रचनाएँ। प्रेम पथिक और महाराणा का महत्त्व इसी काल की कविताएँ हैं।

१६२५ में : आँसू

अंतिम कविता सग्रह : झरना

महाकाव्य : कामायनी

(ख) प्रारम्भिक नाटक : सज्जन, करुणालय, उर्वशी। प्रौढ़ नाटक : चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, ध्रुवस्वामिनी। (ग) कहानियाँ : १६११ में इन्दु में पहली कहानी ग्राम छपी। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी थी।

संवत् १६४१ में : छाया

अंतिम कहानी संग्रह : इन्द्रजाल

(घ) उपन्यास : कंकाल और तितली (ङ) निबन्ध : कविता और कला।

५—प्रसादजी की रचनाओं में एक वैभव का अवशेष है; एक मीठे स्वप्न के टूट जाने पर चीत्कार है। वह अतीत के कवि हैं, विशेष कर नाटकों में। वह भारत की समस्याओं का हल बुद्ध की करुणा में पाते हैं। उनकी कहानियों में से अधिकांश का आधार भारतीय सभ्यता है।

हाँ, उनके उपन्यास समाज के यथार्थ चित्रण हैं—इतने नंगे कि हमें आश्चर्य होता है कि 'आँसू' का कवि जीवन को इस दृष्टिकोण से कैसे देख सका।

उनकी रचनाओं पर समसामयिक आन्दोलनों का प्रभाव है; ऐतिहासिक कथानकों में स्त्री-समाज को परिष्कृत करने की भावना का इशारा मिलता है।

वह सौंदर्य, यौवन और करुणा को सफल कूँची से अंकित करने वाले चित्रकार थे। उनका गम्भीर दर्शन उनकी कृतियों को चिरस्थाई बना देता है।

भाषा और भाव के व्यक्तीकरण में वह नवीन व्यंजनात्मक शैली से काम लेते थे और उनका दृष्टिकोण कवित्वपूर्ण रहता था।

६—श्री रामकुमार वर्मा के शब्दों में : प्रसादजी हिन्दी साहित्य के सबसे अधिक गम्भीर कवि थे। इसका उदाहरण कामायनी की रहस्यमयी चित्ररेखा है।

सत्याग्रह-संग्राम

१—**भूमिका**—१९०७ में गांधीजी ने ट्रांसवाल गवर्नमेंट के विरोध में एक आन्दोलन चलाना चाहा। उसकी रूपरेखा उनके मस्तिष्क में थी। उन्होंने 'इंडियन ओपीनियन' में अपने विचार प्रगट किए और उस आन्दोलन के नामकरण की प्रतियोगिता की। श्री मगनलाल गांधी ने उसे 'सदाग्रह' का नाम दिया। गांधीजी ने इसे पसंद किया, परन्तु इसे बदल कर 'सत्याग्रह' कर दिया। २—**सत्याग्रह के पहले प्रयोग**—मनुष्य ने अपने विश्वासों के लिए हमेशा प्रसन्नता से कष्ट सहा है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते

है। इस दृष्टि से सत्याग्रह कोई नया आन्दोलन नहीं हो सकता। गांधीजी को इसकी प्रेरणा टालस्टाय के लेखों से मिलती दीखती है।

दक्षिण अफ्रीका के प्रयोग। छोटे पैमाने पर भारत में खेड़ा और चम्पारन ज़िलों में सत्याग्रह। ३—सत्याग्रह के देशव्यापी प्रयोग—१९१७ की भारत सरकार की भारतीय शासन विधान के संबंध में की हुई घोषणा। युद्ध के बाद १९२० का गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ऐक्ट। रौलट-बिल (फ़रवरी १९१९)। १९१९ के अप्रैल मास से भारतीय इतिहास का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। ६ अप्रैल की हड़ताल की घोषणा। पंजाब की दुर्घटनाएँ। ९ अप्रैल को गांधीजी पंजाब में प्रवेश न करने से इंकार करने के लिए गिरफ्तार हुए। इसके बाद अराजकता की शक्तियाँ उभर पड़ीं। अहमदाबाद, जलयाँवाले बाग़ आदि स्थानों के हत्याकांड। ब्रिटिश अधिकारियों की अमानुषिक क्रूरताएँ। गांधीजी के हृदय को इन घटनाओं से धक्का लगा। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मैंने हिमालय की तरह महान् भूल की है। उन्होंने २१ जुलाई को सत्याग्रह स्थगित कर दिया।

पंजाब की दुर्घटनाओं की जाँच के लिए जो कमेटी (हंटर कमेटी) बनी उसकी रिपोर्ट ने हलचल पैदा कर दी। यह २८ मई १९२० को प्रकाशित हुई। इस समय ख़िलाफ़त के सम्बन्ध में असहयोग आन्दोलन चल रहा था। गांधीजी की सलाह से इसका क्षेत्र विस्तृत किया गया। असहयोग सत्याग्रह का ही सक्रिय पक्ष है। सरकार ने दमन शुरू किया। १९२१ के अंत तक हज़ारों स्त्री-पुरुष जेलखाने पहुँचे। परन्तु युक्तप्रांत के चौरीचौरा स्थान में भयंकर उत्पात हो जाने के कारण महात्मा गांधी ने इसे स्थगित कर दिया।

१९२९ में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता घोषित किया। १९३० के प्रारम्भ में अनैतिक कानूनों की सविनय अवज्ञा तथा कर-बन्दी का आन्दोलन संगठित हुआ। इसके विरुद्ध सरकार ने। दमनकारी उपायों का आश्रय-ग्रहण किया। मार्च १९३१ में सरकार की ओर से लार्ड इर्विन और कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी के बीच एक समझौता हुआ। सविनय अवज्ञा स्थगित हुई और १९३१ के आख़िरी दिनों में गांधीजी ने लन्दन की गोल-मेज़ परिषद् में भाग लिया।

१९३८ की शुरूआत में कांग्रेस को, गांधीजी के नेतृत्व में, फिर से आन्दोलन शुरू करना पड़ा। बात यह थी कि गांधी-इर्विन-पैक्ट के विरुद्ध सरकार ने दमन-चक्र को हाथ में लिया था। वह आन्दोलन १९३४ तक चला। १९३० और १९३२ इन दोनों बार के आन्दोलनों में हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे जेल गए, अनेक गोलियों के शिकार हुए। भारी से भारी हिंसक उत्तेजना के बीच में सत्याग्रही शांत रह सके। कांग्रेस संगठन लोहे की दीवार की तरह दृढ़ रहा। ४—सत्याग्रह का आधार और उसका भारतीय जन-मत पर प्रभाव—सत्याग्रह का आधार नैतिक है। उसमें सत्य, अहिंसा और ईश्वर विश्वास पर अत्याचार के विरोध की नींव डाली जाती है। कष्ट-सहन के द्वारा अत्याचारी के हृदय-परिवर्त्तन की चेष्टा की जाती है। भारतीय जन-मत पर इसके प्रभाव का एक कारण तो स्वयम् उनकी धर्मप्रियता और भीरुता है; दूसरे एक महान् सशस्त्र साम्राज्य के प्रति शस्त्रों द्वारा विरोध हमारी हीन दशा में असम्भव है। कहा जाता है कि इस प्रकार का नैतिक-राजनैतिक आंदोलन संस्थाओं पर विशेष प्रभाव नहीं डालता क्योंकि संस्था हृदयहीन चीज़ है। परन्तु व्यक्तियों पर इसका जो प्रभाव पड़ता है उसकी अभिव्यक्ति उसकी संस्थाओं द्वारा ही हुई।

यह निश्चय है कि वर्त्तमान् राजनैतिक प्रगति में सत्याग्रह आंदोलन का प्रधान हाथ रहा है। उसने भारत की जनता को राजनैतिक अधिकारों के लिए सतर्क होकर लड़ना सिखाया है।

प्रातःकाल का पर्यटन

१—भूमिका—ऋग्वेद की ऋचाओं में उषा के जो सुन्दर चित्र उप-स्थित हैं, उनसे पता चलता है कि हमारे पूर्वज आर्य प्रभात के मनोरम दृश्य से कितने प्रभावित थे। निश्चय ही वह ब्राह्म-मुहूर्त्त में एक बार पर्यटन के लिये निकल जाते होंगे। "हम सौ वर्ष जिएं"—ऋचाओं के ऋषियों की यह प्रार्थना विफल नहीं गई होगी।

२—प्रात: पर्यटन के आनन्द (क) प्रात:कालीन प्राकृतिक शोभा (i) उदयमान सूर्य; उषा की मनोरम छवि, (ii) पक्षियों का कलरव, (iii) शीतल; मंद, सुगंधयुत, समीर, (iv) हरी दूर्वा, पेड़-पत्तों और फूलों का नवीन विकास, (ख) यह हमारी इन्द्रियों को तृप्त करते हैं। प्रकृति के साहचर्य से जीवन में कोमल भावनाओं का उदय होता है। दिन भर के लिए हृदय आनन्द से भर जाता है।

३—पर्यटन के लाभ (क) स्वच्छ वायु रक्त को शुद्ध करती है; इससे शरीर में स्फूर्ति आती है। (ख) अंगों का संचालन होने से अजीर्णादि व्याधियों से शरीर बचा रहता है। (ग) मस्तिष्क नए वातावरण में एक नई स्फूर्ति का अनुभव करता है। मनुष्य जीवन के घात-प्रतिघातों का सामना करने के लिए तैयार हो जाता है। (घ) हृदय की शुद्धि होती है। धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को उत्तेजना मिलती है। ४—नियमित रूप से प्रात: पर्यटन करने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है। उसकी सारी शक्तियों का समुचित विकास होता है। वह पूर्ण मनुष्य बनता है। ५—कवियों ने प्रभात काल के बहुत ही सुन्दर चित्र दिये हैं। उनका ठीक-ठीक सौन्दर्य हम पर उस समय तक नहीं खुल सकता जब तक हम सूर्योदय से भली भाँति परिचित न हों। रवि बाबू का यह एक चित्र ऐसा ही है—

"हेरो गगनेर नील शतदल खानि
मेलिल नीरव वाणी,
अरुण पत्र प्रसारि सकौतुके
सोनार भ्रमर आसिल ताहार बुके
कोथा होते नाहीं जानी !"

(देखो, आकाश के नीले शतदल ने अपनी नीली आभा फैला दी; अरुण पंख फैला कर, सकौतुक, न जाने कहाँ से सोने का भौंरा उसके हृदय पर आ गया।)

वायुयान

१—भूमिका—अनादिकाल से मनुष्य ने पक्षियों को हवा में उड़ते देखा है। उसने उड़ने की कल्पना भी की है। परियों की कहानियाँ, उड़न-खटोले, पुष्पक विमान—सभी प्राचीन मानव की इस भावना की ओर इंगित करते हैं। २—गुब्बारे और उनका विकास, वायुयान का आविष्कार—अठारहवीं शताब्दी में। इनमें हाइड्रोजन नाम की हलकी गैस भरी जाती थी। इन पर नियंत्रण रखना अति कठिन होता था। १८९७ में प्रथम वायुयान। जर्मन वायुयान 'ज़ेप्लिन' १८९९। अमरीका के दो आविष्कारक भाई; ओरविल राइट और विलबर राइट (१९०३)। ३—वायुयान की बनावट—प्रायः लकड़ी की, परन्तु लोहे और अलमूनियम का भी हो सकता है। सबसे आगे एञ्जिन। जहाज़ के दोनों ओर पंख। एक ओर चलाने वाले का स्थान। पंखों की संख्या २, ४, ६। प्रोपेलर द्वारा वायुयान आगे या पीछे हटाया जा सकता है।

नीचे पहिए। उड़ने से पहले वायुयान पहियों के ऊपर पृथ्वी पर दौड़ाया जाता है। एक-दो चक्कर के बाद यह ऊपर उठने लगता है। पंखों पर हवा का दबाव पड़ने से यह परिस्थिति उत्पन्न होती है। उस समय प्रोपेलर बड़े वेग से घूमता हुआ दिखाई देता है। ४—वायुयान के लाभ—२००-२५० मील प्रति घन्टे के हिसाब से उड़ने वाले इस यान के द्वारा विभिन्न स्थानों की दूरी का प्रश्न जाता रहा है। (क) डाक और पार्सल आदि ले जाने के लिए (ख) यात्रियों को ले जाने के लिए। अभी बहुत बड़ी संख्या में यात्रियों को ले जाना असम्भव है। खर्चीला भी अधिक। परन्तु भविष्य में यह परिस्थिति नहीं रहेगी। उतना ही सुविधा-जनक और सस्ता हो जायगा, जितनी रेल। (ग) अकाल, महामारी आदि के समय में इनके द्वारा पीड़ितों को सहायता पहुँचाई जा सकती है। (घ) देशों, जातियों और वर्गों में सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न किया जा सकता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न इसके द्वारा सत्य होता दिखता है। (ङ) अनुसंधानों में यह बहुत बड़ा सहायक सिद्ध होगा। वायुयान द्वारा एवरेस्ट (गौरीशङ्कर)

की चढ़ाई में सफल होने की चेष्टाएँ। उत्तरी-दक्षिणी-ध्रुव और मरुभूमियों का वैज्ञानिक अध्ययन। (च) व्यापार की सुविधाएँ। १९१९ के बाद से वायुयान द्वारा व्यापार करने की चेष्टा हुई, जो सफल हुई है। ५—**वायुयान की कहानियाँ**—(क) दुर्घटनाओं की आशंका। (ख) युद्ध के समय इसका उपयोग, भयंकर ढङ्ग पर बम बरसाने, गैस छोड़ने आदि जैसी प्रलयङ्कर, आतङ्ककारी दुष्प्रवृत्तियों के लिए हो सकता है। वायुयान के कारण आज के युद्ध की भयंकरता और अनिश्चितता सहस्रों-गुनी बढ़ गई है। ६—**वायुयान का भविष्य**

स्त्री-शिक्षा

१—**भूमिका**—रस्किन का कहना है : All such knowledge should be given her as may enable her to understand, and even to aid the work of men : and yet it should be given, not as knowledge—not as if it were or could be, for her an object to know, but only to feel, and to judge.

२—**स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता**—(क) स्त्री माता भी है अतः वह शिशु के लिए गुरु का काम भी करती है। सन्तान के संस्कारों का परिमार्जन करना और उसकी शिक्षा-दीक्षा की देख-रेख करना स्त्री का काम है, अतएव उसे बाल-मनोविज्ञान, बाल-संरक्षण, घरेलू उपचार आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। (ख) पत्नी रूप में वह पुरुष की मित्र है। वह उसे परामर्श दे सकती है। उसका जीवन-संगिनी नाम तभी सार्थक हो सकता है, जब वह पुरुष के क्षेत्र में भी जानकारी रक्खे और समय पड़ने पर उसके क्षेत्र में भी हाथ बँटाए। पत्नी के अशिक्षित रहने पर गृहस्थ-पुरुष के एक अङ्ग पर जैसे पक्षाघात हो जाता है। (ग) वर्तमान समय का आर्थिक सङ्गठन कुछ इस प्रकार का है कि स्त्री को भी पुरुष के साथ जीविकोपार्जन के लिए काम करना पड़ रहा है। रहन-सहन का ढङ्ग इतना ऊँचा और खर्चीला हो गया

है कि केवल पति ही गृहस्थी को सुचारु-रूप से नहीं चला सकता। उसे स्त्री की सहायता की भी आवश्यकता है। (घ) स्त्री-समाज एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में हमारे सामने आ रहा है। उसे राष्ट्र और समाज की अनेक संस्थाओं में भाग लेने और अपना मत प्रगट करने का अधिकार मिल रहा है। यदि उसका मानसिक विकास अधिक न हो तो वह फिर अपने विशेष अधिकारों का उपयोग कैसे करेगा? ३—स्त्री-शिक्षा से लाभ—(क) मानसिक विकास और ज्ञान। उसकी संकीर्णता जाती रहती है और वह अधिक आत्म-विश्वास के साथ जीवन-क्षेत्र में उतर सकती है। (ख) गृहस्थी के काम-काज करने में स्त्री कुशल हो जाती है। (ग) उसमें कला-प्रियता आती है। (घ) वह विज्ञान द्वारा सुलभ अनेक सुविधाओं को काम में ला सकती है। (ङ) बच्चों का पालन-पोषण अधिक सुचारु रूप से कर सकती है। (च) सङ्गीत, चित्रकला, मधुर भाषण आदि द्वारा पति को प्रसन्न रख सकती है। उसके प्रति का आकर्षण दैहिक ही न रह कर मानसिक हो जायगा। तब दाम्पत्य-जीवन अधिक सुखी और दृढ़ होगा। ४—स्त्री-शिक्षा का रूप क्या है?—(क) स्त्री शिक्षा पुरुष की शिक्षा से भिन्न होनी चाहिये क्योंकि दोनों के क्षेत्र बहुत कुछ भिन्न हैं। यह जरूर है कि उसे अनेक प्रकार की बातों की जानकारी रहे जिससे वह पुरुषों के क्षेत्र को भी समझ सके परन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली जिसमें दोनों को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है अधिक उपयुक्त नहीं। (ख) स्त्री-शिक्षा के विषय गृहस्थी से सम्बन्धित हों। ललित कलाएँ भी सिखाई जाएँ। (ग) नवीन आदर्शों को सामने रखते हुए यह आवश्यक है कि प्राचीन आदर्शों और उनकी भित्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया जाय। इससे निकट-भविष्य में अधिक अच्छे और भारतीय संस्कृति की रक्षा करने वाले आदर्शों का जन्म होगा। स्त्री केवल अपव्यय, फैशन की दासी, 'सभा की परी' ही नहीं रहेगी। ५—क्या सहशिक्षा हो? अवश्य प्रारम्भिक शिक्षा में यह सब तरह वाञ्छनीय है ही। इससे अधिक संस्थाओं के चलाने में जो झंझट होती है, वह बच जायगा। सम्भव है, पहले कुछ कड़े अनुशासन से काम लेना पड़े या कुछ छात्र-छात्राएँ वासना के गड्ढे में गिर पड़ें परन्तु धीरे-धीरे इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा स्त्री-पुरुषों में एक दूसरे के प्रति स्वस्थ

और नैसर्गिक दृष्टिकोण विकसित होगा जो राष्ट्र और समाज के लिए हितकर ही होगा। ६—अशिक्षा से हमारे यहाँ अन्ध-विश्वास, भय, पर्दा, आभूषण-प्रियता आदि दुर्गुण आ गये हैं। शिक्षा के प्रचार से उनका निराकरण होगा।

समय का सदुपयोग

१—भूमिका—समय का बड़ा महत्व है। समय का अच्छा उपयोग भिखारी को राजा बना देता है। और उसी का बुरा और निकम्मा उपयोग राजा को भिखारी कर देता है। 'गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।' संसार वहीं खड़ा रहता है परन्तु समय का पक्षी अपने सुविशाल, सुदृढ़ डैनों को हवा में मारता हुआ कहीं दूर देश की ओर निकल जाता है। २—समय का सदुपयोग—(क) मनुष्य अपने समय का सदैव उन अच्छे कामों में उपयोग करे जिनसे उसका अपना, उसके समाज का अथवा उसके देश का कल्याण हो। (ख) समय के ठीक-ठीक उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने समय को ठीक-ठीक बाँट ले। इससे उसकी शक्ति का ह्रास नहीं होगा और वह समय बच जायगा जो प्रत्येक दिन कार्य-क्रम सोचने में चला जाता है। (ग) प्रत्येक दिन का थोड़ा-सा भाग भगवत-भजन में लगाना चाहिये। किसी भी प्रकार की पूजा से मन को शान्ति और हृदय को उत्साह मिलता है। ३—कुछ चेतावनियाँ—(क) आलस्य से दूर रहो। कार्य-क्रम के सुचारु रूप से पूर्ण होने में बाधा डालनेवाली सब से प्रधान वस्तु आलस्य है। यही आलस्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अवनति का मूल है। समय के सदुपयोग में सबसे बड़ा बाधा यही है। (ख) व्यर्थ का समय मत बिताओ। बात-चीत आमोद-प्रमाद का साधन है। वह एक सामाजिक आवश्यकता भी है परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि गप-शप में बहुत-सा समय बिताना सच्चे मानों में समय का दुरुपयोग करना है।

४—मनोरंजन और समय—जिस प्रकार दैहिक व्यायाम शरीर के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार मनोरञ्जन मन को शक्ति और स्फूर्ति प्रदान

करता है। इस तर्क से मनोरञ्जन की आवश्यकता प्रगट हो जाएगी। कुछ समय ऐसे मनोरञ्जन के लिए अवश्य रखना चाहिए। सिनेमा, खेल-कूद, ताश, संगीत, नृत्य, वाद्य, काव्य-पाठ आदि मनोरञ्जन के साधनों का थोड़ा-बहुत प्रयोग जीवन की गति को स्वस्थ रखता है। उनसे हमारे जीवन में मिठास आती है।

५—विशेष—समय के सदुपयोग से बड़े लाभ हैं, अध्यवसायी मनुष्य ही संसार में गौरव को प्राप्त करता है, विशेषकर इस समय जब संघर्ष इतना बढ़ा हुआ है। नियमित रूप से काम करते रहने से चित्त को सुख और शांति की प्राप्ति होती है। जहाँ काम करने वाले का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक लाभ होता है, वहाँ समाज का भी थोड़ा-बहुत कल्याण अवश्य होता है। कबीर ने सच ही कहा है—

> काल्ह करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब।
> पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब॥

मितव्ययता

भूमिका—(क) मितव्ययता क्या है?—मनुष्य जो कुछ कमाए उसमें से इतना खर्च कर दे जितना नितांत आवश्यक हो और थोड़ा-सा भविष्य के लिए बचा रक्खे। मितव्ययता का अर्थ है—जितनी चादर हो उतने ही पैर पसारो। यदि मनुष्य अपनी बिसात परखे बिना खर्च करता जायगा तो एक दिन वह निस्सन्देह दिवालिया हो जायगा, फिर चाहे वह करोड़पति ही क्यों न हो? (ख) मितव्ययता क्यों? कौन जाने कल क्या हो? क्या मनुष्य में इतनी भी समझ नहीं होगी कि वह अपने दो दिन आगे देखे?

२—मितव्ययता न होने के कारण? (क) अपनी शान का झूठा विचार। (ख) बनावटी जीवन और रहन-सहन के प्रति प्रेम। (ग) आराम-तलबी। (घ) अदूरदर्शिता अथवा लापरवाही।

३—मितव्ययता का महत्त्व—जीवन गुलाब का फूल नहीं है। और गुलाब के फूल को भी काँटे को बचाकर चखना पड़ता है। यहाँ निश्चित

ही क्या है ? ऐसी परिस्थिति में कोई जोड़-तोड़ कर बचा लेगा। आगे कठिन दिनों में काम आयेगा। मितव्ययता का अर्थ है संयम। जब हम शक्ति का अधिक व्यय नहीं करना चाहते, रोग से डरते हैं, तो फिर धन का ही व्यर्थ उपयोग क्यों करें ?

४—मनुष्य स्वभाव में मितव्ययता का स्थान—मितव्ययता मनुष्य के स्वभाव का प्राकृतिक गुण नहीं है। जंगली आदमी को देखिए। वह जो कुछ भी पा जायगा उसे कल का ध्यान न रखते हुए आज ही खा-पी जायगा। आज तो चैन से गुज़रती है। आक़बत की ख़बर ख़ुदा जाने। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य का दृष्टिकोण विकसित होता है और वह संयमित, अतः मितव्ययी, होना सीखता है।

५—कौन मितव्ययी हों ?—राष्ट्र व्यक्तियों, समाजों और संस्थाओं का समूह है। अतः राष्ट्र की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि ये सब मितव्ययी हों। अपव्यय से राष्ट्र की शक्ति का ह्रास होना आवश्यक है।

६—मितव्ययता एक स्वभाव है—निरन्तर अभ्यास से अपव्ययी मनुष्य भी मितव्ययी हो सकता है। माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह बच्चों को बचपन से ही यह गुण सिखाएँ। इसके विकसित होने से बालकों में आत्म-विश्वास की मात्रा बढ़ेगी।

७—मितव्ययता से लाभ—राष्ट्र का धन क्या चीज़ है? यही उसके सदस्यों का संचित धन है। मितव्ययता के बिना धन का संचय असम्भव है। अतः व्यक्तियों का मितव्ययता द्वारा संचय किया हुआ धन राष्ट्र को धनी करता है। इसी प्रकार व्यक्तियों का अपव्यय राष्ट्र को दुर्बल करता है।

८—मितव्ययता से हानि—परन्तु यदि व्यक्ति अधिक सावधान न हो तो उसकी मितव्ययता धीरे-धीरे सूमता में बदल जाती है। इससे राष्ट्र की हानि है। धन का वितरण राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

९—मितव्ययता का चरित्र पर प्रभाव?—(क)—गेटे ने कहा है : अपने ऊपर शासन करना बहुत बड़ी बात है। यह बात संयम से ही पैदा होती है। मितव्ययता एक बड़ा कठोर संयम ही है। इससे आत्मनिषेध और आत्म-शासन की प्रवृत्तियाँ बल पाती हैं। (ख)—इससे आत्म-प्रतिष्ठा और

स्वतन्त्रता स्वावलम्बन का विकास होता है। जिसके पास बची खुची पूँजी है, वह दूसरे की ओर क्यों ताकेगा ? वह जो कुछ करेगा, उसमें उसे दूसरे का मुँह नहीं जोहना पड़ेगा। (ग)—अनेक गुणों के अभ्यास के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के पास पूँजी हो। दया, करुणा और निःस्वार्थता का रूप संसार के सामने उस समय तक नहीं आता जब तक मनुष्य के पास धन नहीं हो। (घ)—इससे अनेक दुर्गुणों से पीछा छूटता है। निर्धन मनुष्य कठिन परिस्थितियों में चोरी, गबन आदि लूट से रुपया पाना चाहेगा। ये प्रलोभन बड़े कड़े हैं। इनसे बचने के लिए और मानसिक शांति के लाभ के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य मितव्ययता के द्वारा कुछ धन संचित रक्खे।

सैनिक या शिक्षक ?

१—भूमिका—देश के लिए सैनिक और शिक्षक दोनों महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि दोनों ही देश की रक्षा करते हैं। परन्तु अपने-अपने ढंग पर। सैनिक विदेशी शत्रु से रक्षा करता है, शिक्षक विदेशी संस्कृति से। शिक्षक के द्वारा देश की जनता की ज्ञानवृद्धि होती है और वह मानसिक और आत्म-विकास का साधन है। २—परन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण कौन है?—निश्चय ही शिक्षक। क्यों ? वह कल के नागरिक को तैयार करता है। वह देश को संस्कृत और शिक्षित नागरिकों के रूप में एक दृढ़ भित्ति देता है। आज का बालक कल का नागरिक है। उसकी शिक्षा-दीक्षा जिसके हाथ में है, उसके हाथ में देश का भविष्य भी है। जीवन-क्षेत्र में भावनाओं का बड़े महत्त्व का स्थान है। शिक्षक भावनाओं का बीज बोता है। ३—शिक्षक के कार्य : सैनिक के कार्य—(क) शिक्षक के कार्य—(i) देश की ज्ञानवृद्धि। जनता का मानसिक विकास। (ii) चरित्र-निर्माण।

मनुष्य-जीवन में सबसे उपयोगी वस्तु मनुष्य का चरित्र है। वह उसे व्यक्तित्व देता है।

(ख) सैनिक के कार्य—(i) देश का संरक्षण। (ii) शांति के समय

देश में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना। ४—दोनों के कामों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षक के काम सैनिक के कामों से कहीं हितकर हैं। पहले का प्रभाव अधिक गहरा और दीर्घकालीन होता है। दूसरे का उथला और चिरस्थायी। सैनिकवृत्ति के उपयुक्त युवक तैयार करने के लिए शिक्षक की ही आवश्यकता होती है। ५—नैतिक दृष्टिकोण —आज शिक्षक सैनिक-वृत्ति पर कितना प्रभाव डाल रहा है, यह स्पष्ट है। गांधीजी एक महान् शिक्षक ही हैं। उन्होंने साहस और वीरता का एक नया आदर्श हमारे सामने रक्खा है जिसने हमारे आन्दोलनों को बड़ा प्रभावित किया। सैनिक को हिंसा का सहारा लेना अनिवार्य नहीं है। यह सचमुच एक क्रांतिकारी विचार है। यदि संसार ने कभी भी इसे स्वीकार किया तो यह शिक्षक की सैनिक पर विजय होगी। ६—केवल सैनिक-शिक्षक से मनुष्य पशु बन जाता है। उसे नैतिक और सामाजिक शिक्षा द्वारा कोमल करना होता है। यूरोप के उन देशों में जहाँ शिक्षकों के ऊपर सैनिकों ने विजय पा ली है, एक बड़ी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। कुछ थोड़े से जन-पशुओं ने सारी शांति-प्रिय जनता को खतरे में डाल दिया है।

संक्षिप्त रूपरेखाएँ

१—सिंह

१—साधारण वर्णन (मार्जारवंशी, सामने के दोनों पैरों में पाँच-पाँच और पीछे के दो पैरों में चार-चार अँगुलियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक के भीतर एक-एक तीक्ष्ण नख। ३० दाँत। पूँछ का अग्रभाग गोपुच्छाकार और स्थूल गुच्छ धारण किए हुए। केशर-शोभित मस्तक।) २—प्रकृति (क्रूर, धीर और गंभीर; दर्प-मान; निःशब्द पदक्षेप; हिंस्र परन्तु निर्दय नहीं।) ३—प्राप्ति स्थान (भारतीय सिंह जाति प्रायः लुप्त हो गया है। अब केवल काठियावाड़ राज्य के घने जङ्गल में मिलता है।) ४—विशेष (i)—सिंहनी तीन वर्ष में एक बार दो या अधिक संतान प्रसव करती है। तीन वर्ष तक यह संतान माता के साथ घूमती है, इसके उपरान्त स्थानान्तर में

चली आती है। (ii) कालिदास ने रघुवंश में सिंह का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।)

२—दारिद्र्य

१—परिभाषा (अर्थाभाव।) २—उत्पत्ति का कारण (आलस्य और आमोद-प्रियता; वर्त्तमान समय का सामाजिक संघटन।) ३—दारिद्र्य के दुख (पारिवारिक कष्ट; "सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" के अनुसार आचरण करने वाला समाज की घृणा का पात्र बनना; मनःपीड़ा तथा खाद्याभाव और आश्रयाभाव से उत्पन्न चिन्ता; सद्गुणों का नाश। कहा भी है—"दारिद्र्य दोषे गुण राशि नाशी"।) ४—मुक्ति का उपाय; आलस्य और आमोदप्रियता का परित्याग, धैर्य और अध्यवसाय के साथ अर्थोपार्जन की चिन्ता; उपार्जित धन का सद्व्यय; दूरदर्शिता। ५—शास्त्रकारों ने कहा है।

"बुभुक्षितः किं न करोति पापं।
क्षीणा जनाः निष्करुणा भवन्ति॥"

इसलिए द्रव्य कमाने में समर्थ बनो।

३—मादक द्रव्य-सेवन

१—परिभाषा (जिस वस्तु के सेवन से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ ठीक काम न कर सकें, बुद्धि में विकार हो जाए, इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में असमर्थ हो जायें उसे मादक द्रव्य कहते हैं।) २—प्रकारभेद (वारुणी, आसव, अफीम, संखिया, चरस, भंग, कोकीन, गाँजा, धतूरा आदि।) ३—प्रभाव (क्षणिक स्फूर्ति; वासना आदि कुप्रवृत्तियों को उकसाते हैं; मानसिक शक्ति का ह्रास; शारीरिक हानि अतः अकाल मृत्यु प्राप्ति; भिन्न-भिन्न नशों का थोड़ा भिन्न प्रभाव पड़ता है।) ४—हानि (क्रोध, मद, अहङ्कार, पापाचरण आदि का मूल, धन और स्वास्थ्य का नाशक, प्रतिष्ठा और सम्मान से दूर रखने वाला।) ५—मद्य निवारण के प्रयत्न (i) समाज-सुधारकों द्वारा; (ii) सरकार द्वारा। कांग्रेस-सरकारों ने इस विषय में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया था।) ६—उपसंहार (सुधार की प्रगति असंतोषजनक है। बजट पूरा करने के

लालच से सरकार सम्पूर्ण-निवारण के विरुद्ध है। हमारे जैसे धार्मिक देश में यह बात कितनी लज्जा-जनक है।)

४—पापाचरण

१—पापाचरण का सुख क्षणिक होता है, परिणाम में सदैव दुख मिलता है। २—पापाचरण के प्रकार (चोरी, जारी, मद्य-पान, अप्राकृतिक व्यभिचार दस्यु-तस्कर कर्म, विश्वासघात, व्यवसाय में दिवालिया बन कर लोगों को धोका देना।) ३—पापाचार का सुख (क्षणिक ऐश्वर्य, सुख और प्रतिष्ठा; साहस-गर्व; इन्द्रिय सुख। ४—परिणाम पकड़ जाने पर दुर्गति। अपमान और तिरस्कार; व्यवसाय की हानि; अनुताप और आत्मग्लानि, कुत्सित आमोद-प्रमोद से उत्पन्न रोगक्षोभ; सद्वृत्तियों का लोप; तृष्णा की वृद्धि। ५—उपसंहार (असत्य और पाप-जीवन में किञ्चित् सुख नहीं। जो हमें सुख जान पड़ता है वह मरु-मरीचिका मात्र है।)

५—उपन्यास

१—प्रस्तावना (मनोरञ्जन की सामग्री; प्राचीन समय की कथा कहानियाँ और उनका उपन्यास से सम्बन्ध; वर्तमान युग की कहानी और उपन्यास।) २—प्रकार-भेद (संसार का कोई भी ऐसा ज्ञान-विज्ञान नहीं जो उपन्यास के रूप में उपस्थित न किया जा सके; जासूसी, सामाजिक, नैतिक [शिक्षाप्रद], (मनोवैज्ञानिक वैज्ञानिक उपन्यास।) ३—लाभ (मनबहलाव; शिक्षा का मनोरंजन साधन; कल्पना को तृप्त करके बुराइयों की ओर जाने से बचाता है; सामाजिक दशाओं का परिचय प्राप्त करने का साधन, मनुष्य-चरित्र का ज्ञान।) ४—हानि (कुरूचिपूर्ण उपन्यासों के पढ़ने से बालकों का चरित्र भ्रष्ट हो जाता है; उपन्यास पढ़ने की एक टेव ऐसी पड़ जाती है जैसे नशा पीने की, इससे द्रव्य, समय और स्वास्थ्य की हानि होती है।) ५—उपसंहार (गुरूजनों और शिक्षकों को चुने हुए उपन्यास बालकों के सामने रखना चाहिये जिससे वह बुरे उपन्यास न पढ़ें।)

६—दया

१—"दया धर्म का मूल है।" २—परिभाषा (अन्य व्यक्ति के कष्ट को

देख कर द्रवित हो जाना और उसके दुख-निवारण का प्रयत्न करना दया है।) ३—दया क्यों? (प्राणी-मात्र समान है। परपीड़न आत्मपीड़न ही है। "आत्मवत् सर्वभूतानां"—वाले उपदेश को ध्यान में रख कर जीवमात्र पर दया रखनी चाहिए। ४—प्रकार। दीन, अनाथ, अपंग, अपरिचित पर दया दिखाना सर्वोत्तम प्रकार है। अहंभाव प्रकट करने के लिए जो दया की जाय, वह निकृष्ट श्रेणी है। कुछ लोग स्वार्थ-साधन में भी दया करते हैं। पशुओं पर अनेक प्रकार से दया की जा सकती है। उन पर अधिक बोझ मत रखो। उन्हें अधिक मत थकाओ। ५—उपसंहार (दया मनुष्य का सर्व-प्रथम गुण होना चाहिये। शेक्सपियर ने एक स्थान पर कहा है कि दया उस देव-कृपा की तरह है जो आकाश से पृथ्वी पर उतरती है और उसे हमारे लिये धनधान्य से भरती है। दया से हृदय में अपूर्व उल्लास और शांति का लाभ होता है। वह लोक-सेवा का सर्वोत्तम साधन है।)

७—प्रेम

१—पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥ —कबीर

२—प्रकार-भेद (जाति-प्रेम, देश-प्रेम, ईश-प्रेम, या भक्ति, वंश-प्रेम, मित्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, दाम्पत्य-प्रेम आदि। मूल भावना एक ही है। सर्वस्व समर्पण और प्रेम-पात्र के हित कष्ट सहने की भावना।) ३—लाभ (कुटुम्ब, जाति और देश में सुख और शांति का प्रादुर्भाव; व्यक्ति का जीवन सुखमय हो जाता है। विपत्ति में प्रेम ही आश्रय है; स्वार्थ-पूर्वक बुद्धि का नाश; मनुष्य देवता हो जाता है।) ४—आदर्श (अनेक महापुरुष, बुद्ध, ईसा, गांधी; पति-प्रेम का उच्चतम आदर्श हमारे देश की सतियों ने उपस्थित किया है।) ५—उपसंहार (प्रेम को हमारे वैयक्तिक जातीय और राष्ट्रीय जीवन का बीज-मन्त्र बनना चाहिये। संसार के कल्याण के लिए आज विश्व-प्रेम की कितनी आवश्यकता है जिससे यह विग्रह नष्ट हो।)

८—स्वाभिमान

१—अहंकार और स्वाभिमान में अंतर है। स्वाभिमान का मूल

आत्मसम्मान है, विनय है, अहंकार नहीं। २—अपनी प्रत्येक सुन्दर वस्तु का हमें अभिमान होना चाहिये। अपना देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने पूर्व पुरुषों पर हमें अभिमान हो, हम उनकी उपेक्षा न सह सकें। यह भी स्वाभिमान का ही एक अंग है। कहा भी है—

जिसको न निज भाषा तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नरपशु निरा है और मृतक समान है।

३—आत्म गौरव का अभाव अवनति का कारण है। महान् उन्नतिशील राष्ट्र एवं जातियाँ इसे नहीं भूलतीं।

९—शिल्प-शिक्षा

१—प्रस्तावना (शिल्पविद्या और उसकी शिक्षा देशोन्नति के लिए आवश्यक है।) २—उपयोगिता (आज हमारी शिक्षा पुस्तकों तक सीमित रह जाने के कारण अधूरी है। शिल्प-विद्या से पुस्तक की विद्या की पुष्टि हो सकती है। बेकारी का निराकरण। आत्मावलम्बन। वृत्ति का जन्म। श्रम-जीवियों को स्वतंत्र एवं लाभ-प्रद वृत्ति मिल सकती है।) ३—व्यवस्था (प्रारम्भिक शिक्षा के साथ साथ शिल्पविद्या का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान कराया जाये। उच्च-शिक्षा के साथ भी किसी न किसी शिल्प-विद्या को ग्रहण कराने का आयोजन होना चाहिये।) ४—उपसंहार (पाश्चात्य देशों में फ्रांस, जर्मनी और अमरीका ने सबसे पहले शिल्पविद्या का स्वागत किया था। इङ्गलैण्ड में १८८९ में इसका प्रारम्भ हुआ। हमारे देश में अभी शिल्पविद्या के महत्त्व को भी अच्छी तरह नहीं समझा जा रहा है। कांग्रेस सरकारों ने वर्धा-शिक्षा-योजना के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा में शिल्पकला और उद्योग-धंधों का समावेश कराने की चेष्टा की है, जो थोड़ी-बहुत सफल भी हुई है। परन्तु इस ओर अभी अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।)

१०—गुरु-भक्ति

१—तुलसीदास ने मानस का आरम्भ करते हुए कहा है—

"बन्दउँ गुरुपद-कंज कृपासिंधु नररूपहरि॥
महा मोह तम पुंज जासु बचन रवि-कर-निकर॥"

वास्तव में गुरु की महिमा अद्वितीय है।

अनुचित-उचित विचार तजि, जे पालैं गुरु-बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति-अयन॥

२—गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति की आवश्यकता। ज्ञानोपार्जन के दो आवश्यक अंग हैं—वह ज्ञान लौकिक हो, या पारलौकिक। आज की शिक्षा पद्धति में इनका अभाव हो चला है। ३—प्राचीन काल में गुरु गुरुकुल का अधिष्ठाता और संचालक एवं राष्ट्रनिर्माण का प्रमुख नेता होता था। वहीं वह माता, पिता और गुरु तीनों के काम करता था। ४—तुलसीदासजी ने काकभुशुण्डि की कहानी में गुरु के चरित्र एव उनकी महिमा का [illegible] सुन्दर रीति से वर्णन किया है।

११—धन का सदुपयोग

१—सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति। लौकिक और पारलौकिक हितसाधन, असहायों की सहायता, धार्मिक और सामाजिक सत्कार्यों में व्यय, सार्वजनिक कार्यों में आर्थिक सहायता—संक्षेप में संसार के सारे पुण्यकृत्य धन पर आश्रित हैं। २—धन का सदुपयोग (परिवार की उदर-पूर्ति, सन्तान की शिक्षा, दान-पुण्य और परोपकार 'परहित सरिस धर्म नहीं दूजा'—तुलसी; आवश्यक आमोद-प्रमोद में धन का व्यय सदुपयोग है।) ३—धन का अपव्यय (इन्द्रिय-लोलुपता के लिए व्यय, रिश्वत, शादी ब्याह में, वेश्या-नृत्य एवं आतिशबाजी में व्यय, कृपणता, फिजूलखर्ची—ये सब अपव्यय के रूप हैं।) ४—उपसंहार (अर्थ के सदुपयोग से देश संपत्तिशाली बनता है। बचाए हुए धन से राष्ट्र की सेवा हो सकती है, भामाशाह का उदाहरण। आत्मगौरव बना रहता है। धन के सदुपयोग से यश, सुख और शांति की प्राप्ति होगी।

१२—पुस्तकालय से लाभ

१—पुस्तकालय की आवश्यकता (ज्ञानप्राप्ति और अध्ययन का उपयुक्त स्थान।) २—पुस्तकालयों के भेद (स्कूल कालेज के पुस्तकालय, जनता के पुस्तकालय, सरकार के पुस्तकालय, निजी पुस्तकालय। ३—

पुस्तकालय से लाभ (ज्ञान-बुद्धि और ज्ञान प्रसार; महान कवियों, आचार्यों एवं मनुष्य जाति के नेताओं का सत्संग; आत्म संस्कार, अवकाश का सर्वश्रेठ सदुपयोग, सामूहिक ज्ञान-प्राप्ति, सामयिक ज्ञान की पत्रों आदि के द्वारा उपलब्धि ।) ४—अन्य देशों की बात (अन्य देशों में पुस्तकालय का महत्त्व विद्यालय से भी अधिक है। ग्राम-पुस्तकालय, पेनी पुस्तकालय—जिनमें एक आना या एक पेनी देने पर पुस्तक पढ़ने के लिए मिल जाती है। मुहल्ला पुस्तकालय; भ्रमणशील पुस्तकालय आदि का बड़ा प्रचार है। ५—उपसंहार (हमारे देश में पश्चिम के ढंग के पुस्तकालय खोलने की आवश्यकता है परन्तु यहाँ "पैसा-पुस्तकालय" अधिक उपयुक्त होंगे। सरकार को चाहिये कि प्रत्येक नौकरपेशा मध्यवर्गीय व्यक्ति के लिए उसकी आय के षष्ठांश के बराबर पुस्तकों पर व्यय करना आवश्यक कर दे। इस प्रकार 'निजी पुस्तकालय' बन जायें। पुस्तकालयों की देख-रेख और जनता की रुचि सँभालने के लिए एक सरकारी विभाग हो।)

१३—किसी जाति की उन्नति के साधन

१—उन्नति से हमारा तात्पय शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति से है। २—उन्नति के साधन (सामूहिक व्यायाम का प्रचार, उद्योग-धन्धों और कला-कौशल की वृद्धि, शिक्षा का प्रचार, महापुरुषों के जीवन-चरित्र को लोकप्रिय बनाकर उससे पारस्परिक प्रेम और सच्चरित्रता का पाठ देना, जातीय और राष्ट्रीय कुरीतियों का उन्मूलन, प्रत्येक वर्ग में भ्रातृ-भाव एवं एकता की भावना, सहयोग की भावना।) ३—उन्नति में बाधक वस्तुएं (जातीय कुरीतियाँ, व्यक्तियों और वर्गों का असहयोग एवं उनकी दुर्बलताएँ, आलस्य और समय का न पहचानना।) ४—जापान की उन्नति और उसका रहस्य ५—हमारी अवस्था (हमारे यहाँ उद्योग-धन्धों, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान सभी दिशाओं में काम नहीं हो रहा है, यह शोक की बात है। आवश्यकता यह है कि राष्ट्रीय सरकार बने और वह सैकड़ों व्यक्ति पश्चिम में भेज कर वहाँ की परिस्थिति से परिचित हो लें। फिर इन्हीं व्यक्तियों की सहायता से राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं राष्ट्र की संस्कृति का ध्यान रखते हुए राष्ट्रनिर्माण का काम कराये।)

१४—कृषि का महत्त्व

१—जीवधारियों की सबसे पहले आवश्यकता है भोजन अथवा जीव-धारण करने का एकमात्र साधन जुटाना। उसके लिए एकमात्र उपाय कृषि-कर्म है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति अन्तत: कृषि-कर्म पर ही आश्रित है। हमारे सारे राज-दरबार, धन-विनिमय, कला-कौशल के मूल में कृषक का परिश्रम और उससे उपार्जन किया हुआ कृषि-धन ही है। २—कृषि-कर्म का महत्त्व (मनुष्य, पशु-पक्षी; तात्पर्य यह कि पृथ्वी के लगभग सभी प्राणियों का भरण-पोषण; जीवन की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन; कृषि-कर्म की स्वतंत्रता: प्रकृति-साहचर्य का अवसर; परिश्रम की प्रवृत्ति का विकास।) ३—उपसंहार (यह कृषि का ही महत्त्व था कि एक समय हमारा देश वैभव के शिखर पर था—

> शस्य श्यामता भरा सदा थी षट ऋतुओं के साथ जहाँ।
> पारस तक बँटते रहते थे नर हाथों के हाथ जहाँ॥

परन्तु आज हमारी दशा इतनी दीन है। विदेशी राज्य हमारे ऊपर शासन कर रहा है। धरती की शक्ति समाप्त-सी हो गई है। लोग कृषि-कर्म को हेय समझने लगे हैं। जहाँ एक समय आदर्श यह था—

> "उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान।"

वहाँ आज नौकरी की गुलामी सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है और हमारे ग्राम खाली होकर नगरों की ओर ढुले जा रहे हैं। परन्तु जिसे वह सोना समझते हैं वह पीली मिट्टी है, नितान्त व्यर्थ।)

१५—मातृभाषा का अनुशीलन

१—मातृभाषा की परिभाषा। २—भाषा-शिक्षा की आवश्यकता। ३—मातृभाषा के द्वारा शिक्षा की उपकारिता (मनोभाव व्यक्त करने का सर्वोत्कृष्ट साधन, जातीयता की रक्षा का एक मात्र उपाय, आत्म-सम्मान का रक्षण, प्राचीन संस्कृति से परिचय।) ४—मातृभाषा का सम्मान स्वाधीन जाति का लक्षण है। जो देश मातृभाषा की उन्नति करने का प्रयत्न नहीं

करता, वह अधः पतित है। ५—मातृभाषा के द्वारा शिक्षा की आवश्यक (देखिये "शिक्षा का माध्यम" निबन्ध) ६—उपसंहार।

अभ्यास

विवरणात्मक निबन्ध

१—नीचे लिखे विषयों पर निबंध लिखो—

सरोजिनी नायडू
सम्राट् अकबर
एक आदर्श देश-भक्त
रामकृष्ण परमहंस
महाभारत की कथा
रानी अहिल्याबाई
अग्निकांड
भारतेन्दु हरिश्चंद्र
मेरी सबसे प्रिय पुस्तक
कबीर
राणा प्रताप

वर्णनात्मक निबन्ध

२—नीचे लिखे विषयों पर निबंध लिखो—

तारघर
हेमन्त
जन्माष्टमी
शिशिर में ग्रामनाश
दीपमालिका
पतझड़
विजय-दशमी
इमामबाड़ा
शरद् ऋतु
भारतमाता का मंदिर (काशी)
ग्राम-पाठशाला

विवेचनात्मक निबन्ध

३—नीचे लिखे विषयों पर निबंध लिखो—

साहस
हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक
आलस्य से हानियाँ
पाश्चात्य सभ्यता
मधुर भाषण
मानव-जीवन के आनन्द
दानवीरता
कला

प्रकृति पर विजय	परीक्षा-पद्धति के गुणदोष
विज्ञापन	नागरिक के कर्त्तव्य
पुस्तकों का चुनाव	प्रातःकाल जागरण
आज्ञापालन	अध्यवसाय
स्वच्छता	भक्ति
प्रारम्भिक शिक्षा	सच-झूठ
हमारा सामाजिक जीवन	अनावृष्टि

व्याख्यात्मक निबंध

४—नीचे लिखे विषयों पर निबंध लिखो—

'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप'
'जो तोकूँ काँटा बुवै ताहि बोइ तू फूल'
'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना'
"संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति"
"मन चंगा तो कठौती में गंगा"
"बढ़त-बढ़त सम्पति-सलिल मन-सरोज बढ़ि जाय
घटत घटत फिरि न घटे बरु समूल कुम्हलाय"

प्रसिद्ध लेखकों के निबंध

१—श्रम-यज्ञ

महात्मा गांधी

गीता में कहा है कि आरम्भ में यज्ञ के साथ-साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने उनसे कहा, "इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु हो......। जो इस यज्ञ को किए बिना खाता है वह चोरी का अन्न खाता है।" "तू अपने पसीने की कमाई खा", यह बाइबिल का वचन है। यज्ञ अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उनमें एक श्रम-यज्ञ भी हो सकता है। यदि सब लोग अपने ही परिश्रम की कमाई खाएँ, तो दुनिया में अन्न की कमी न रहे, और सब को अवकाश का पूरा-पूरा समय भी मिले। न तब किसी को

जन-संख्या की वृद्धि की शिकायत रहे, न कोई बीमारी आवे और न तब किसी को कोई कष्ट या क्लेश ही सतावे। यह श्रम यज्ञ उच्च से उच्च प्रकार का यज्ञ होगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धि के द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर उनका यह सब श्रम लोक-कल्याण के प्रीत्यर्थ प्रेम-मूलक श्रम होगा। इस अवस्था में न कोई राव होगा न कोई रंक, न कोई ऊँच होगा न कोई नीच, न कोई स्पृश्य रहेगा न कोई अस्पृश्य।

भले ही यह एक अलभ्य आदर्श हो, पर इस कारण हमें अपना प्रयत्न बन्द कर देने की आवश्यकता नहीं। यज्ञ के सम्पूर्ण नियम को पूरा किए बिना भी यदि हम अपने नित्य के निर्वाह के लिए पर्याप्त शारीरिक परिश्रम करेंगे तो उस आदर्श के बहुत कुछ निकट तो हम पहुँच ही जायँगे।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी आवश्यकताएँ बहुत कम हो जायँगी, और हमारा भोजन भी सादा बन जायगा। तब हम जीने के लिए खायगे, न कि खाने के लिए जियेंगे। इस बात की यथार्थता में जिसे शंका हो वह अपने परिश्रम की कमाई खाने का प्रयत्न करे। अपने पसीने की कमाई खाने में उसे स्वाद ही कुछ और मिलेगा, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा, और उसे यह मालूम हो जायगा कि जो बहुत-सी विलास की वस्तुएँ उसने अपने ऊपर लाद रक्खी थीं वे सब बिल्कुल व्यर्थ थीं।

मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम की कमाई क्यों न खावे? नहीं, यह ठीक नहीं। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति शारीरिक श्रम से ही होनी चाहिए।

बौद्धिक श्रम तो आत्मा के प्रीत्यर्थ है, और स्वतः सन्तोष रूप है। उसमें पारिश्रमिक मिलने की इच्छा नहीं करना चाहिए। उस आदर्श अवस्था में डाक्टर, वकील आदि समाज के हित के लिए ही काम करेंगे, अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के नियम पर चलने से समाज में एक शान्तिमय क्रान्ति उत्पन्न होगी। जीवन-संग्राम के स्थान पर पारस्परिक सेवा की प्रतिस्पर्धा स्थापित करने में मनुष्य की विजय होगी। पाशविक नियम का स्थान मानवी नियम ले लेगा।

१ गीता और बाइबिल के उद्धरण। २—श्रमयज्ञ के लाभ

३—बौद्धिक श्रम बनाम शारीरिक श्रम। ४—जहाँ श्रमयज्ञ की प्रतिष्ठा होगी।

२—विज्ञान और युग

श्री जवाहरलाल नेहरू

विज्ञान और विज्ञान के शिक्षा-भवनों से इधर अनेक वर्षों से बहुत दूर रहा हूँ। और किस्मत और परिस्थितियाँ मुझे गर्द और शोर से भरे हुए बाजारों में, खेतों और कारखानों में ले गई हैं, जहाँ मनुष्य मेहनत करते हैं, कष्ट सहन करते हैं और जिन्दा रहते हैं। इधर उन विशाल आन्दोलन से भी मेरा सबंध रहा है, जिन्होंने हमारे इस देश को हिला दिया है। हालाँ कि, मैं कोलाहल और आन्दोलनों से घिरा हुआ रहा हूँ; विज्ञान के लिए मैं एक निरट अजनबी की तरह नहीं हूँ। मैंने भी विज्ञान के मन्दिर में पूजा की है और अपने को उसके भक्तों में गिना है।

आज विज्ञान के प्रति कौन उदासीन हो सकता है? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें विज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। संसार के इस विशाल भवन की आधार-शिला विज्ञान ही है। मानव सभ्यता के १०,००० वर्ष लम्बे इतिहास में, पहले-पहल १५० वर्ष पूर्व विज्ञान ने क्रान्तिकारी रूप धारण कर सहसा प्रवेश किया, और इतिहास के यह १५० वर्ष सबसे अधिक क्रान्तिपूर्ण और विस्फोटक साबित हुए हैं। विज्ञान के इस युग में रहने वालों के लिए जीवन का वातावरण और उसकी गतिविधि पहले के युगों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न है। लेकिन इस सत्य का पूरी तरह से अनुभव करने वाले बहुत कम हैं, और वे आज की समस्याओं को भी उस बीते दिन की सहायता और तुलना से समझना चाहते हैं, जो मर चुका है और बीत चुका है।

विज्ञान के द्वारा जीवन में विशाल परिवर्तन हुए हैं, यद्यपि उनमें से सभी मानव जाति के लिए कल्याणकर सिद्ध नहीं हुए। किन्तु उन परिवर्तनों में से सबसे मुख्य और आशाप्रद परिवर्तन विज्ञान के प्रभाव से मनुष्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास है। यह सत्य है कि आज भी बहुत से लोग मानसिक

दृष्टि से उसी पहले अवैज्ञानिक युग में रहते हैं, और वे लोग भी जो बड़े उत्साह के साथ विज्ञान का पक्ष समर्थन करते हैं अपने विचारों और कामों में अवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिचय दे डालते हैं। वैज्ञानिक लोग भी, यद्यपि वे अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं, कभी-कभी उस विषय के बाहर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करना भूल जाते हैं। फिर भी केवल इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही मनुष्य जाति को कुछ आशा हो सकती है और उसके द्वारा ही संसार के क्लेशों का अंत हो सकता है। संसार में परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष चल रहे हैं। उनका विश्लेषण किया जाता है, और उन्हें भिन्न नामों से पुकारा जाता है। लेकिन जो वास्तविक और प्रधान संघर्ष है वह वैज्ञानिक दृष्टिकोणों का ही संघर्ष है।

विज्ञान के प्रारंभिक दिनों में धर्म और विज्ञान के पारस्परिक विरोध की बहुत चर्चा रही है। विज्ञान को भौतिक और धर्म को आध्यात्मिक कहा जाता था। आज वह विरोध यथार्थ नहीं मालूम होता है। आज विज्ञान का रूप अधिक व्यापक है, उसने संपूर्ण विश्व को अपना कार्य-क्षेत्र बना लिया है और ठोस पदार्थ को सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर दिया है। लेकिन उस वक्त का विज्ञान और धर्म का संघर्ष वास्तविक था, क्योंकि वह धर्म के नाम से पुकारी जाने वाली शक्ति द्वारा स्थापित मानसिक निरंकुशता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ पली हुई मनुष्य की स्वतंत्र बुद्धि के बीच पारस्परिक संघर्ष था। ऐसी परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच समझौता मुमकिन नहीं। क्योंकि विज्ञान इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकता कि किसी भी शक्ति द्वारा चाहे उसे कैसा भी रुचिकर नाम क्यों न दे दिया जाय, मस्तिष्क की खिड़कियों को बन्द करने का प्रयत्न किया जाय। विज्ञान से यह नहीं हो सकता कि वह अंधविश्वास के पक्ष में (या बिना तहकीक के किसी दूसरे के विश्वासों के पक्ष में) प्रोत्साहन दे।

"विज्ञान को केवल आकाश की ओर ही न देखना चाहिए", और न केवल ऊंचाई को अपने निरीक्षण में लाने का प्रयत्न करना चाहिए, बल्कि नीचे नरक के गर्त में निःशंक भाव से देखने का भी उसमें हिम्मत होनी चाहिए। इनमें से किसी भी क्षेत्र से दूर भागने की कोशिश करना वैज्ञानिक का कर्तव्य नहीं।

सच्चा वैज्ञानिक तो वह है जो जीवन और कर्मफल से निर्लिप्त है और जो सत्य की खोज में जहाँ भी उसकी जिज्ञासा ले जाय, वहाँ तक जाने की क्षमता रखता है। अपने को किसी वस्तु से बाँध लेना और फिर वहाँ से न हट सकना तो सत्य की खोज को तर्क कर देना है और इस गतिशील संसार मे गतिहीन हो जाना है।

शायद सच्चे धर्म और विज्ञान के बीच कोई वास्तविक विरोध है भी नहीं, लेकिन यदि यह सत्य है तो धर्म को विज्ञान का लिबास पहनना होगा और अपनी सब समस्याओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना होगा। हममें से बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के ऐहिक दर्शन से ही संतोष हो सकता है हम उन सवालों में सर खपाएँ भी क्यों जो हमसे परे हैं, जबकि इस संसार में ही ऐसी समस्याओं की कमी नहीं जिनका सुलझाया जाना अत्यावश्यक है? और साथ ही उस ऐहिक दर्शन के पीछे केवल दुनियावी खुशहाली की इच्छा के अतिरिक्त कुछ अन्य ऊँचे सिद्धान्त भी होते हैं। उस ऐहिक दृष्टिकोण में भी कुछ आध्यात्मिकता और नैतिकता होती है और जब हम इन बातों की ओर ध्यान देते हैं तो हम अपने को उसी क्षेत्र में पाते हैं जो धर्म के नाम से पुकारा जाता है।

लेकिन विज्ञान ने तो उस क्षेत्र पर कई पहलुओं से आक्रमण किया है। विज्ञान ने उस लकीर को मिटा दिया है जो वस्तु-जगत से विचार-जगत तथा भौतिक से मानसिक को पृथक् करती हुई समझी जाती थी। विज्ञान ने मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर ही नहीं झाँका है, बल्कि उसके अध-चेतन मन के रहस्य को तथा उसे संचालित करने वाली छिपी शक्तियों को भी जान लेने का प्रयत्न किया है। विज्ञान ने, अंततः सत्य क्या है, इस विषय पर भी विचार करने का साहस किया है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि एक अणु की वास्तविकता उसके प्रत्यक्ष रूप में नहीं बल्कि उसकी निहित शक्ति में है। इस प्रकार भौतिक संसार वास्तव में एक 'सक्रियसमूह' (मुव एजीटेशन) बन गया है, और प्रकृति उस क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए रंगमंच के समान है। हर जगह गति है, परिवर्तन है। वस्तु की वास्तविकता केवल क्रिया में ही है, जो इस क्षण है, और दूसरे ही क्षण नहीं भी है। क्रिया के अतिरिक्त कुछ

भी नहीं है। जब ठोस पदार्थ की यह गति है तो फिर सूक्ष्म तत्वों की गति क्या है, कौन कहे !

विज्ञान-सम्बन्धी विचारों के इस आश्चर्यजनक विकास के प्रकाश में पुराने तर्क कितने सारहीन मालूम होते हैं ! अब वह समय आ गया है जब हमें बीते युग के विवाद को छोड़ देना चाहिए। यह सत्य है कि विज्ञान के सिद्धान्त भी परिवर्तन-शील हैं और विज्ञान में अटल सत्य या अन्तिम सत्य जैसी कोई चीज नहीं है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं होता। और हमें अपने विचारों और कामों में, जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में, धर्म तथा सत्य की खोज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही काम लेना चाहिए। हमारा अस्तित्व चाहे साबुन के बबूले जैसे विश्व पर एक धूलि-कण की भाँति ही क्यों न हो, लेकिन हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उस धूलि-कण में मनुष्य की मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ भी निहित हैं। युग-युगांतर का लम्बा इतिहास उसी धूलि-कण के विकास की कथा है। उसने अपने आपको इस पृथ्वी का स्वामी बना लिया है और पृथ्वी के गर्भ तथा आकाश के वक्ष से शक्ति का संचय किया है। उसने सृष्टि के रहस्यों को मापने का प्रयत्न किया है और अनियंत्रित प्रकृति पर काबू करके उससे लाभ उठाया है। लेकिन पृथ्वी और आकाश से भी अद्भुत मनुष्य के मन और आत्मा (स्पिरिट) हैं, जो नित्य नई शक्ति का सञ्चय कर, अपनी विजय-लालसा के लिए नए-नए विश्व खोजते हैं।

यह है वैज्ञानिक का कर्त्तव्य, लेकिन हम जानते ही हैं कि सभी वैज्ञानिक वीरता और साहस के साँचे में ढाले हुए नहीं होते, और न वे प्लेटो की आदर्श-व्यवस्था के उन दार्शनिकता सम्राटों की भाँति ही होते हैं; जिनका ज़िक्र उसने उस बीते हुए युग में किया था। शाहानापन तो इन वैज्ञानिकों में नह ही रहता, लेकिन उनमें दार्शनिकता का भी अभाव होता है, और उनकी दिनचर्या किसी संकीर्ण क्षेत्र और नियमित कार्यवाही तक ही सीमित रह जाती है। विशेषज्ञ तो उन्हें बनना ही पड़ता है, लेकिन जैसे-जैसे वे विशेषज्ञ बनते जाते हैं विषय की सम्पूर्णता का ध्यान उनसे छूटता जाता है और वे वास्तविकता से संपर्क त्याग पांडित्याभिमानी बन जाते हैं। भारतवर्ष में हमें

जिस राजनैतिक व्यवस्था में दुर्भाग्यवश रहना पड़ा है, उसके कारण हमारे वैज्ञानिकों के विकास में और भी रुकावट पड़ी है, और सामाजिक उन्नति के कार्य में उस बाधा के कारण वे अपना उचित हिस्सा नहीं ले सके हैं। और बहुत से लोगों की भाँति वे भी सशंकित रहे हैं कि तात्कालिक शासन को उनके किसी कार्य या विचार तक से असंतोष न हो, और इस प्रकार कहीं उनकी स्थिति डाँवाडोल न हो जाय। ऐसी अवस्था में विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकती, वैज्ञानिक लोग फल-फूल नहीं सकते। विज्ञान के विकास के लिए तो स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता है। सामाजिक हित के ख्याल से विज्ञान को अमली रूप देने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और युग की आत्मा के अनुरूप ही उद्देश्य भी होने चाहिए।

१—भूमिका। २—१५० वर्ष पूर्व विज्ञान ने मानव सभ्यता के इतिहास में प्रवेश किया। ३—विज्ञान द्वारा जीवन में विशाल परिवर्तन; वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास। ४—धर्म और विज्ञान संघर्ष। ५—सच्चा वैज्ञानिक। ६—आज विज्ञान ने वस्तु-जगत और विचार-जगत तथा भौतिक और मानसिक के विभाजन मिटा दिये हैं। ७ जीवन के सभी क्षेत्रों में हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लेना चाहिये।

३—हिन्दी और उर्दू

डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

बिहार, संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत, दिल्ली तथा अजमेर की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। इसके अलावा हिन्दी बोलने वाले राजपूताना एजेन्सी तथा मध्य भारत एजेन्सी प्रभृति देशी राज्यों में फैले हुए हैं। तात्पर्य यह कि हिन्दी भाषा-भाषी प्राचीन मध्य-देश में, सिन्ध और गुजरात की सीमा जैसलमेर से बंगाल की सीमा भागलपुर तक तथा पंजाब की सीमा हरद्वार से मद्रास की सीमा बस्तर तक बसे हुए हैं। इतने बड़े भूभाग के लोगों की समस्याएँ बहुमुखी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ये समस्याएँ हैं शासन सम्बंधी आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा भाषा सम्बंधी।

झगड़े के मूल को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस परिस्थिति का अवलोकन करें, जिसमें उर्दू की उत्पत्ति हुई थी। जैसा कि सबों पर विदित है, उर्दू हिन्दी का ही एक रूप है, जिसमें फ़ारसी-अरबी के शब्द रहते हैं, तथा कभी-कभी उसी के व्याकरण का भी निर्वाह होता है। इसके अलावा इसका साहित्य ईरान, मध्य एशिया तथा अरब की संस्कृति से प्रेरित होता है। हालाँकि प्रारम्भिक विदेशी आगन्तुक नाना प्रकार की (अरबी, पश्तो, तुर्की तथा मङ्गोलीय) भाषाओं का व्यवहार करते थे फिर भी भारत के मुस्लिम राजाओं की कोर्ट-भाषा फ़ारसी थी। फिर उत्तर भारत के लोगों से अपना सम्बंध बढ़ाने के लिए उन्हें दिल्ली की चालू हिन्दी को अपनाना पड़ा। उदाहरणार्थ "हम मुसाफ़िफ़ीन में सबसे बड़ा नुक्स यह है कि हम क़ारईन के जज़बात का अन्दाज़ नहीं कर सकते" का प्रचार उस परिस्थिति में ठीक वैसा ही हुआ, जैसे आज अंग्रेज़ी वातावरण में "हम रायटर्स का सबसे बड़ा डिफ़ेक्ट यह है कि हम रीडर्स की फीलिङ्ग को रियलाइज नहीं कर सकते" का। हिन्दी के वाक्य अरबी-फ़ारसी लिपि में, जो साधारणतः उर्दू कहलाती है, लिखे जाते हैं। राजनैतिक कारणों से यह बोल-चाल की भाषा कुछ महत्त्वपूर्ण बन गई और उन मुसलमानों ने, जो मुसलमान न बने थे, उसे अपनाया। उनके लिए फ़ारसी के बाद यही सर्वश्रेष्ठ भाषा थी। कारण फ़ारसी कठिन मालूम पड़ती थी। व्यावहारिक आवश्यकता के लिए हिन्दुओं ने भी, जो नौकरी की तलाश में थे, इसे अपनाया। संक्षेप में उर्दूभाषा की उत्पत्ति इस प्रकार हुई।

इस अर्धसरकारी बोल-चाल की भाषा के साथ अन्य भाषाएँ भी, जिनमें मारवाड़ी, व्रज, अवधी तथा मैथिली मुख्य हैं; साहित्यिक तथा धार्मिक आवश्यकता-पूर्ति के लिये बढ़ीं। इनमें से प्रत्येक के सदियों तक सुन्दर दिन रहे। हिन्दों की सच्ची राष्ट्रीय संस्कृति का विकास उन बोलचाल की भाषाओं में हुआ, जिनमें धर्म की परवाह किए बिना रसखान (व्रज) तथा जायसी (अवधी) ने रचनाएँ कीं। जब तक मुस्लिम सल्तनत रही, खड़ी बोली सहूँ सरकारी तथा अर्धसरकारी क्षेत्र को छोड़ कर साधारणतः विदेशी भाषा समझी जाती थी। किन्तु मुस्लिम सल्तनत के पतन के बाद यह भावना दूर

होती गई। १६वीं शताब्दी में खड़ी बोली साहित्यिक रूप में विदेशी पर्दा हटा कर आई जिसका स्वरूप आज हम ऊपर लिखित क्षेत्रों में देख चुके हैं। फलतः हम खड़ी बोली हिन्दी और खड़ी बोली उर्दू की तुलनात्मक स्थिति साफ़-साफ़ देख सकते हैं।

वर्त्तमान् अवस्था में उर्दू की स्थिति में एक भारी परिवर्त्तन हो गया है। पहले उर्दू को सरकारी सहायता प्राप्त थी तथा अन्य बोल-चाल की हिन्दी भाषा उसकी बराबरी में कुछ भी न थी। किन्तु उर्दू को यह साहाय्य केवल भाषा के नाते प्राप्त है, साहित्य के नाते नहीं। सर हैरोहेग जब लखनऊ में थे तब उनके कोर्ट में न कोई उर्दू कवि था, न हिन्दी ही और न लार्ड विलिंगडन किसी मुशायरे में या किसी कवि सम्मेलन में गए। यदि जाते भी तो कुछ समझ ही नहीं पाते। यह ठीक है। उर्दू को सरकारी सहायता प्राप्त नहीं है। उर्दू-साहित्य के पृष्ठपोषक कुछ मुसलमान नगरों में तथा कुछ १६ वीं सदी की संस्कृति की गोद में पले लोग हैं। इस दूसरी श्रेणी के उदाहरण कायस्थ तथा काश्मीरी हैं। किन्तु उनकी संख्या तथा शक्ति तेज़ी से क्षीण हो रही है। हालाँ कि हिन्दी संयुक्त प्रान्त में कोर्ट की भाषा स्वीकृत हो चुकी है, फिर भी उर्दू की परंपरा जारी है। यही कारण है कि संयुक्त-प्रांत में कोर्ट से सम्बन्ध रखने वालों को उर्दू भाषा और लिपि जाननी पड़ती है।

किन्तु उर्दू तथा हिन्दी की प्रधान भिन्नता केवल शब्द तथा लिपि ही नहीं है। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, हिन्दी देवनागरी लिपि के साथ हिन्दी जनता की राष्ट्रभाषा है और उर्दू भाषा और लिपि विदेशी संस्कृति का प्रमुत्व है। फलतः हिन्दी तथा उर्दू के झगड़े का असली कारण सांस्कृतिक है। अतः इस समस्या को सुलझाना शब्द और लिपि पर नहीं, इन दोनों की संस्कृति पर निर्भर है। अतएव हिन्दी जनता के समक्ष यह प्रश्न है कि वह राष्ट्रीय भाषा तथा लिपि को अपनावें या विदेशियों द्वारा सजाई तथा निर्मित भाषा लिपि को ? इस प्रश्न पर सम्यक् अनुसंधान वांछनीय है। हिन्दी-जनता की राष्ट्र-भाषा हिन्दी होना भावुकता पर नहीं प्रत्युत ठोस तर्क और ज्ञान पर निर्भर है। हिंदी को अपनाने से हिन्दी जनता एक ओर तो अपनी पुरानी साहित्यिक लिपि तथा संस्कृति के (जो संस्कृत, पाली

तथा प्राकृत में सुरक्षित है) सम्पर्क में आ जाती है तथा दूसरी ओर भारत की अन्य भाषाओं (बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, तथा तामिल, तेलगू, कनाड़ी, मलयालम् और सिंहाली) के सम्पर्क में जिन्हें संस्कृत, पाली तथा प्राकृत में बहुत प्रेरणा मिली है। फलतः हिन्दी भाषा और लिपि को छोड़ कर उर्दू भाषा और लिपि अपनाने का नतीजा यह होगा कि हिन्दू जनता केवल प्राचीन संस्कृत से ही वञ्चित न हो जायगी, प्रत्युत आधुनिक भारत से भी।

१—हिंदी-उर्दू की समस्या एक बहुत बड़े भूभाग में फैले हुए लोगों की बहुत-सी समस्याओं में से एक है। २—उर्दू की उत्पत्ति किस परिस्थिति में हुई। ३—उर्दू के विकास के समय हमारे प्रदेश की अन्य भाषाओं की दशा क्या थी? ४—तब और अब। ५—हिन्दी उर्दू के झगड़े का असली कारण सांस्कृतिक है।

४—केवल शिक्षा

काका कालेलकर

नेपोलियन बोनापार्ट ने जब ईजिप्त पर चढ़ाई की, तब शास्त्रीय और ऐतिहासिक खोज करने के लिए अपने साथ कितने-कितने ही पण्डितों को भी ... ईजिप्त के अरबी घुड़सवारों की नीति कुछ विचित्र ही थी। देश भर में उनके दल के दल घूमते, और जहाँ कहीं शत्रु की सेना ज़रा भी असावधान दिखी कि वे कहीं से एकदम चढ़ आते और आक्रमण कर देते। इस स्थिति का सामना करने के लिए नेपोलियन ने एक नए तर्ज़ की व्यूह- ... सेना में एक पोला वर्ग बना कर वह कूच करता। कूच करते समय सभी एक ही तरफ़ मुँह करके चलते थे। किन्तु शत्रु के आने की ख़बर मिलते ही सभी सेना ठहर जाती और चारों तरफ़ के वीर चारों ओर मुँह घुमा कर खड़े हो जाते। अर्थात् किसी भी तरफ़ शत्रु को इस सेना की बग़ल या पीठ नहीं दिखाई देती थी। सेना के साथ पंडित और बोझा ढोनेवाले गधे भी रहते थे। अरबी घुड़सवारों के दल को देखते ही नेपोलियन

एकदम आज्ञा करता "वर्ग बनाओ, गधे और पंडित बीच में" (Form square, Asses and Savants in the Centre) नेपोलियन के सिपाही कई बार जोर से हँस कर उसके हुक्म का उच्चारण करते "वर्ग बनाओ, गधे और पंडित बीच में।" कई बार फ्रेंच सैनिक गधों को अर्ध-पंडित कहते। इस तरह मजाक करते समय सिपाहियों के दिल में पंडितों के प्रति कम आदर नहीं हो जाता था। सेना के साथ घूमने वाले पंडित भी कम मुसीबतें नहीं झेलते थे।

यह क़िस्सा नेपोलियन के चरित्र से लिया गया है। स्वराज्य की हलचल में राष्ट्रीय शिक्षा की हिमायत करने वाले हम शिक्षकों को इससे बहुत ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। हम स्वराज्य के सैनिक बनना चाहते हैं या सेना की सुरक्षितता में खोज और आविष्कार करने वाले पंडित? निःसन्देह गाँव-गाँव घूम कर व्याख्यान झाड़नेवाले व्याख्याताओं, और समाचार-पत्रों में कालम के कालम भरने वाले लेखकों की अपेक्षा राष्ट्रीय-शिक्षा का कार्य बहुत उच्च, अधिक महत्त्वपूर्ण और हमारे आन्दोलन के लिए अधिक लाभदायक है। पर यह तभी होगा जब हम अपनी शक्ति और तपस्या का उपयोग स्वराज्य के लिए करेंगे। शिक्षा के गहन सिद्धांतों की चर्चा भी हमें अभी करनी ही है। मानस-शास्त्र और समाज-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र और धर्म शास्त्र आदि सब का उपयोग करके राष्ट्रीय शिक्षा को हमें सजा देना चाहिये। यदि खराब पद्धति से हम पढ़ावेंगे तो उसका परिणाम भी निःसन्देह खराब होगा। पर इन सब बातों का निवेदन स्वराज्य के चरणों में कर देना जरूरी है। हमारा वर्त्तमान आंदोलन राजनैतिक नहीं है। वह तो राष्ट्रीय आन्दोलन है। राजतन्त्र में किंचितमात्र पैर फैलाने का अवकाश प्राप्त करने के लिए नहीं, स्वराज्य की प्राप्ति के लिए है। संक्षेप में कहना चाहें तो राष्ट्रीय मृत्यु से बच कर, गुलामी का कलंक धो कर समाज में धर्म-जीवन के सिद्धांत प्रचलित करना इसका उद्देश्य है। राष्ट्रीय शिक्षकों को इस सेना में सबसे आगे रहना चाहिए। सेना द्वारा सुरक्षित परदे में हम नहीं रहेंगे। बल्कि जगह-जगह घूम कर उसे उत्साह देंगे, घायलों की मरहम-पट्टी करेंगे, योद्धाओं को बंदूकें भर-भर कर देंगे। और ज्यों ज्यों युद्ध बढ़ता जायगा त्यों-त्यों नवीन सैनिकों को इकट्ठा करने के लिए स्फूर्तिप्र

आखिरकार बन कर गाँव-गाँव घूमेंगे, और युद्ध का रहस्य समझावेंगे।

१—नेपोलियन का किस्सा। २—इस किस्से से राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में हम क्या सीखें ? ३—वर्तमान राजनैतिक आंदोलन में शिक्षा का स्थान।

५—कविता की परख

श्री पं० रामचन्द्र शुक्ल

कविता का उद्देश्य हमारे हृदय पर प्रभाव डालना होता है, जिससे उसके भीतर प्रेम, आनन्द, हास्य, करुणा, उत्साह, आश्चर्य इत्यादि अनेक भावों में से किसी का संचार हो। जिस पद्य में इस प्रकार प्रभाव डालने की शक्ति न हो, उसे कविता नहीं कह सकते। ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कविता पहले कुछ रूप और व्यापार हमारे मन में इस ढंग से खड़ा करती है कि हमें यह प्रतीत होने लगता है कि वे हमारे सामने उपस्थित हैं। जिस मानसिक-शक्ति से कवि ऐसी वस्तुओं और व्यापारों की योजना करता है और हम अपने मन में उन्हें धारण करते हैं, वह कल्पना कहलाती है। इस शक्ति के बिना न तो अच्छी कविता ही हो सकती है, न उसका पूरा आनन्द ही लिया जा सकता है। सृष्टि में हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को देख कर हमारे मन पर भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। किसी सुन्दर वस्तु को देख कर हम प्रफुल्लित हो जाते हैं, किसी अद्भुत वस्तु या व्यापार को देख कर आश्चर्य मग्न हो जाते हैं, किसी दुःख के दारुण दृश्य को देखकर करुणा से आर्द्र हो जाते हैं। यही बात कविता में भी होती है।

जिस बात का उदय कवि को पाठक के मन में कराना होता है, उसी भाव को जगाने वाले रूप और व्यापार वह अपने वर्णन द्वारा पाठक के मन में लाता है। यदि सौंदर्य की भावना उत्पन्न करके मन को प्रफुल्ल और आह्लादित करना होता है तो कवि किसी सुन्दर व्यक्ति अथवा किसी सुन्दर और रमणीय स्थल का शब्दों द्वारा चित्रण करता है। सूरदासजी ने श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग का जो वर्णन किया है, उसे पढ़कर या सुनकर मन सौंदर्य की

भावना में लीन हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी की गीतावली में चित्र-कूट का यह वर्णन कितनी सुन्दरता हमारे समक्ष लाता है -

"सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु-रंगमगे शृंगनि।"

इसी प्रकार भय का भाव उत्पन्न करने के लिए कवि जो रूप सामने रखेगा वह बहुत ही विकराल होगा। जैसे कुम्भकर्ण का रूप रामचरित मानस में है। राम के वन-गमन पर अयोध्या की दशा का जो वर्णन रामायण में है उससे किसका हृदय दुःख और करुणा का अनुभव न करेगा?

अपने वर्णनों में कवि लोग उपमा का भी सहारा लिया करते हैं। वे, जिस वस्तु के वर्णन का प्रसंग होता है, उस वस्तु के समान कुछ और वस्तुओं का उल्लेख भी किया करते हैं। जैसे, मुख को चंद या कमल के समान, नेत्र को मीन खंजन, कमल आदि के समान; कायर को शृगाल के समान, वीर और पराक्रमी को सिंह के समान प्रायः कहा करते हैं। ऐसा कहने में उनका वास्तविक लक्ष्य यह होता है कि जिस वस्तु का वे वर्णन कर रहे हैं, उसकी सुन्दरता, कोमलता, मधुरता या उग्रता, कठोरता, भीषणता, वीरता, कायरता इत्यादि की भावनाएँ और तीव्र हो जाएँ। किसी के मुख की मधुर कान्ति की भावना उत्पन्न करने के लिए कवि उस मुख के साथ एक और अत्यन्त मधुर कान्ति वाला दूसरा पदार्थ—चन्द्रमा—भी रख देता है, जिससे मधुर कान्ति की भावना और भी बढ़ जाती है। सारांश यह कि उपमा का उद्देश्य भावना को तीव्र करना ही होता है; किसी वस्तु का परिज्ञान कराने के लिए भी एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समान कह देते हैं। जैसे, जिसने हारमोनियम बाजा न देखा हो, उससे कहना, "अजी! वह संदूक के समान होता है।" पर इस प्रकार की समानता उपमा नहीं।

कोई उपमा कैसी है, इसके निर्णय के लिए पहले तो यह देखा जाता है कि कवि किस वस्तु का वास्तव में वर्णन कर रहा है और उस वर्णन द्वारा उस वस्तु के सम्बन्ध में कैसी भावना उत्पन्न करना चाहता है। उसके पीछे इसका विचार होता है कि उपमा के लिए जो वस्तु लाई गई है, उससे वही भावना उत्पन्न होती है और बहुत अधिक परिमाण में, तो उपमा अच्छी कही जाती है। केवल आकार, छोटाई-बड़ाई आदि में ही समानता देखकर

अच्छे कवि उपमा नहीं दिया करते। वे प्रभाव की समानता देखते हैं। जैसे यदि कोई आकार और बड़ाई को ही ध्यान में रखकर आँख की उपमा बादाम या आम की फाँक से दे तो उसकी उपमा भद्दी होगी; क्योंकि उक्त वस्तुओं से सौन्दर्य की भावना वैसी नहीं जागती। कवि लोग आँख की उपमा के लिए कभी कमल-दल लाते हैं, जिससे रंग की मनोहरता, प्रफुल्लता, कोमलता आदि की भावना एक साथ उत्पन्न होती है; कभी मीन या खञ्जन लाते हैं; जिससे स्वच्छता और चञ्चलता प्रगट होती है। उठे हुए बादल के टुकड़े ऊपर उदित होते हुए पूर्ण चन्द्रमा का दृश्य कितना रमणीय होता है! यदि कोई उसे देखकर कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घंटा रखा है" तो यह उक्ति रमणीयता की भावना में कुछ भी योग न देगी, थोड़ा-बहुत कुतूहल चाहे भले ही उत्पन्न कर दे।

कवि लोग प्रेम, शोक, करुणा, आश्चर्य, भय, उत्साह इत्यादि भावों को पात्रों के मुँह से प्रायः प्रकट कराया करते हैं। वाणी के द्वारा मनुष्य के हृदय के भावों की पूर्ण रूप से व्यञ्जना हो सकती है। मनुष्य के मुख से प्रेम में कैसे वचन निकलते हैं क्रोध में कैसे, शोक में कैसे, आश्चर्य में कैसे, उत्साह में कैसे - इसका अनुभव सच्चे कवियों को पूरा-पूरा होता है। शोक के वेग में मनुष्य थोड़ी देर के लिए बुद्धि और विवेक भूल जाता है, उचित अनुचित का ध्यान छोड़ देता है। इसी बात को दृष्टि में रखकर तुलसीदास जी ने लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के मुँह से कहलाया कि —

"जो जनतेउँ बन बन्धु-बिछोहू।
पिता-बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥"

जो काव्य के सिद्धान्तों को नहीं जानते वे कहेंगे कि इस वचन से राम के चरित्र में दूषण आ गया। पर जो सहृदय और मर्मज्ञ हैं, वे इसे शोक की उक्ति मात्र समझेंगे।

पात्र के मुख से भाव की व्यंजना करने में कवि में बड़ी निपुणता आपेक्षित होती है। पहले तो उसे मनुष्य की सामान्य प्रकृति का ध्यान रखना पड़ता है, फिर पात्र के विशेष ढङ्ग के स्वभाव का। इसी से एक ही भाव की व्यञ्जना अनन्त प्रकार से हो सकती है। रामचरित मानस में देखिए कि जब राम कभी

अपना क्रोध प्रकट करते हैं, तब किस संयम और गंभीरता के साथ और लक्ष्मण किस अधीरता और उग्रता के साथ। यही बात उत्साह आदि और भावों के सम्बंध में भी समझना चाहिए।

१-कविता का उद्देश्य हृदय पर प्रभाव डाल कर भाव संचार करना है। २—यह कैसे होता है? ३--शब्दों द्वारा चित्रण या वर्णन। ४—अलंकार का प्रयोग भावनाओं में तीव्रता लाने के लिए ५—उपमा का विश्लेषण। ६—कविता की परख के लिए सहृदयता चाहिए।

६—मेरी प्रारम्भिक शिक्षा

श्री० गुलाबराय, एम० ए०

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हें द्वेष न था। इतना ही नहीं वे उसका पढ़ना ज़रूरी समझते थे; क्योंकि उन दिनों बिना उर्दू-ज्ञान के पास-पोर्ट के सरकारी नौकरी के क्षेत्र में प्रवेश करना असम्भव-सा था। तो भी कुछ धार्मिक संस्कारों के कारण मेरी शिक्षाका प्रारम्भ बिस्मिल्लाहिर्रहमान रहीम से नहीं हुआ। पगड़ी-अँगरखे से सुसज्जित एक पण्डितजी आए। उनका नाम पण्डित लालमणि था। वे अपने नाम के आगे शर्मा, वर्मा कुछ नहींलिखते थे। 'विद्यारम्भे विवाहेच' के अनुसार उन्होंने गणेशजी के बारह नामों का स्मरण किया। मुझसे हाथ पकड़ कर 'श्रीगणेशाय नमः' लिखाया गया। उस समय मैं चित्र-लिपि की बात तो नहीं जानता था, लेकिन मेरा विश्वास हो गया था कि श्री का सम्बन्ध गणेशजी की मूर्ति से है। श्री में भी एक सूँड़-सी रहती है।

अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला में। मुझे मालूम नहीं अक्षर-ज्ञान कराने में किसको कितना श्रेय है। हाँ, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। पट्टी पर बुदके से लिखना चाहे उतना वैज्ञानिक और कलात्मक न हो जितना कि अनार और अमरूद से 'अ' का बोध कराना; किन्तु मेरा विश्वास है कि हाथ की पेशियों का अक्षरों के आकार

से परिचित हो जाना अक्षर बोध में अधिक सहायक होता है। उस पाठशाला में एक लड़का था, जिसको टीकू कहते थे। 'माया के तीन नाम - परसा, परसी, परसराम' वाली बात के अनुसार विकास-क्रम में टीकू उसके नाम की दूसरी ही श्रेणी था, अभी वह टीकाराम नहीं बन सका था। वह रामायण अच्छी पढ़ता था। उस समय उसकी तरह से रामायण पढ़ लेना, मेरी शिक्षा-सम्बन्धी महदाकांक्षाओं की चरम सीमा थी। खेद है कि उस उच्चतम शिखर को छाँह तक नहीं छू पाया हूँ।

पाठशालाएँ उस समय भी पिछड़ चुकी थीं। तहसीली स्कूलों और मकतबों का बोल-बाला था। जब तक पाठशाला में पढ़ा तब तक तो मेरे ऊपर दण्ड-विधान लागू नहीं हुआ, शायद तब तक 'पंचवर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी; यद्यपि उस समय मेरी उम्र शायद छः वर्ष की हो गई थी। लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दण्ड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। रवि बाबू ने अपने प्रारम्भिक शिक्षकों की तुलना गुलाम बादशाहों के शासन से की थी। मैं उनको गुलाम कहने की धृष्टता नहीं करूँगा। रवि बाबू बड़े हैं, समर्थ हैं—'समरथ को नहिं दोष गुसाईं, रवि पावक सुरसरि की नाईं' लेकिन मैं इतना अवश्य कहूँगा कि वे दण्डधारी अवश्य थे। और क्योंकि वे संन्यासी तो थे नहीं (क्योंकि वे कमण्डल नहीं धारण करते थे) इसलिए वे राजा ही थे। मालूम नहीं रामराज्य में उस्ताद लोग दण्ड का प्रयोग करते थे या नहीं। मुझे बाबा तुलसीदासजी की 'दण्ड जतिन कर' वाली उक्ति में सन्देह है। उस ज़माने में भी शायद उस्ताद लोग दण्डधारी होते होंगे। अस्तु स्कूली दण्ड-विधान में कान पकड़ कर उठाना-बैठाना तो शायद रहमदिली का परिचय देना था। उस समय के अध्यापकों का दिमाग़ सज़ा के प्रकार सोचने में यूरोप के इन्क्विज़िशन वालों से कुछ कम न था। एक अध्यापक महोदय ने तो एक किवाड़ को ज़ोर से घुमाकर मेरे सर में मार कर अपनी उर्वरा बुद्धि का परिचय दिया था। कहीं उँगलियों में कलमें दबाते थे तो कहीं पेड़ से लटका देते थे। मुर्गा बनाना भी उस विधान की एक धारा में था। रूल डण्डा तो उन लोगों का चलता था जो लकीर के फ़कीर थे या अधिक प्रतिभावान न थे। पुलिस वाले भी इन विधियों में से कुछ का

प्रयोग करते हैं। यह मैं नहीं कह सकता कि वे पुलिसवालों ने शिक्षा-विभाग से सीखी या शिक्षा-विभाग ने पुलिस से। यह ऐतिहासिक अनुसंधान का विषय है—और इस पर सहज ही में किसी को डाक्टर की पदवी मिल सकती है। जब स्वयं पितृदेव 'लालने बहुवः दोषः, ताड़ने बहुवः गुणाः' में विश्वास रखते थे तब अध्यापकों का क्या कहना है! मेरे पिताजी की हुक्के की निगाली की कई बार मेरे पृष्ठ भाग प परीक्षा हुई। वह पोली लकड़ी मेरे मेरु-नल का क्या मुकाबिला करती? वह एक बार में ही एक से दो हो जाती। तिसपर भी मेरा लिखना न सुधरा। और न हिज्जे ही दुरुस्त हुए। फ़ारसी में सौ में पोसठ नम्बर प्राप्त करने पर भी फारसी 'स्वाद' से लिखता था अब भी मुझे मामूली शब्दों के लिए डिक्शनरी की शरण लेनी पड़ती है।

झूठ बोलने पर भी मैंने बहुत मार खाई। झूठ मैं शरारत करने के लि नहीं बोलता था। शरारत मुझसे बहुत दूर थी। उस कठोर शासन में शरारत के लिए गुञ्जाइश न थी, किन्तु उस समय छोटे से ससार की समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि बिना झूठ बोले उनका सुलझाना मुश्किल हो जाता था। बेत का भय ही झूठ का पिता था। बहुत कोशिश करने पर भी मैं खुशखती कापियाँ न लिख पाता था, फिर झूठ के सिवा और क्या चारा था? यही कारण है कि मैं महात्मा गांधी न बन सका।

तहसीली स्कूल के पश्चात् अंग्रेज़ी-शिक्षा के लिए जिला-स्कूल में भर्ती हुआ। वहाँ अंग्रेज़ी के साथ उर्दू दिलाई गई। अंग्रेज़ी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अतिरिक्त-शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मेरे पिताजी को कान्ज्यूगेशन ऑफ वर्ब्स (क्रियाओं का भूत-भविष्य और वर्तमान्‌कालीन रूप और पुरुष याद करना) में बहुत विश्वास था। अंग्रेज़ी तो मैं अब पहले से कुछ अच्छी बोल लेता हूँ, लेकिन अब मैं एक साथ tense (लकार या काल) नहीं गिना सकता। उन्होंने 'होना' (verb to be) का कञ्जुगेशन याद कराया था। कोई-कोई verb to love का भी कञ्जुगेशन पढ़ाते थे। [शायद verb to be (मैं हूँ-मैं हूँ) का मन्त्र रटने के कारण ही यह व्याधि-मन्दिर शरीर अभी तक डटा हुआ है।] इसका

फल यह हुआ था कि मैं पाँचवीं-छठी जमात में ही अंग्रेज़ी बोलने लग गया था। इस कारण अंग्रेज़ हेडमास्टर थोड़े खुश हो गये थे और कभी-कभी मैं बेत की ताड़ना से बच भी जाता था।

मेरे मौलवियों में दो को छोड़कर और सब मार्शल-ला में विश्वास रखते थे। मौलवी मियाँदाद खाँ जवान थे और इसलिए उनकी मार में भी जवानी का जोश था।

उर्दू मैंने डायरेक्ट मैथड से पढ़ी। पहले मैं सबक रटकर याद कर लेता था। पीछे से अक्षर-बोध हुआ। जिस दरजे में भरती हुआ उसमें अलिफ बे नहीं पढ़ाई जाती थी। अलिफ बे लिखना आ गया फिर तख्ती की लिखाई शुरू हुई। तख्ती की लिखाई की बदौलत मुझे फारसी की एक बेत का मिसरा अब भी याद है,'कलम गोयद कि मन शाहे जहानम्' शायद उसी के उप-चेतना रह जाने के कारण मैंने लेखक-वृत्ति धारण की है। और यद्यपि बहुत ऊँचे नहीं पहुँचा तो नहीं पहुँचा, पर पददलित भी नहीं हुआ।

मौलवी नवाब खाँ अत्तारी की दूकान करते थे। मैं उनकी दूकान पर पढ़ने जाया करता था। जब स्याही का पानी चुक जाता था तब वे अर्क गुलाब, अर्क बादियाँ या अर्क गावजबाँ डाल दिया करते थे। मौलवी अब्दुल्ला खाँ भी बड़े नेक थे। उन्होंने फारसी के व्याकरण पर बड़ी श्रद्धा उपजा कर दी थी। मैंने आठवें दर्जे तक फारसी-पढ़ी थी। नवे दर्जे में जब अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैं घबरा उठा। उस समय मैं यह तो नहीं जानता था कि फारसी आर्यन भाषा वर्ग में है और अरबी सैमेटिक वर्ग में—लेकिन अरबी मुझे अपनी प्रकृति के विरुद्ध लगी। प्रश्न यह हुआ कि साइंस लूँ या संस्कृत ? उस समय एन्ट्रेंस में भी हिन्दी न थी। साइंस और संस्कृत दोनों में मेरी समान रुचि थी, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध सरस आकार से था। साइंस पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नहीं लेने दी। संस्कृत ली; और बड़ी खुशी से ली—मेरे संस्कृत के अध्यापक थे पंडित गिरिजाशंकर मिश्र। यद्यपि वे भौगाँव के निवासी थे तथापि बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्य समाजी पंडितों से मोर्चा लेने की वे ही योग्यता रखते थे। जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारता है, मैं भी समय कुसमय भगवान् दया की

संस्कृत बोलने लग गया। अपनी संस्कृत के पीछे मैंने दो पंडितों में शास्त्रार्थ करा दिया। एक मेरे प्रयोग को अशुद्ध बताते थे और दूसरे सही। भूतकाल के स्थान पर मेरे वर्त्तमानकालिक प्रयाग को उन्होंने ठीक बताया। संस्कृत ले लेने के कारण मौलवी साहब ने मेरा नाम 'विभीषण' रख छोड़ा था। मैं उनसे कह देता था कि अगर आप रावण बनते हैं तो मुझे विभीषण बनने में कोई एतराज़ नहीं। वास्तव में वे बड़े सज्जन थे।

स्कूल के दिनों में अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्त्तव्य समझकर पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। खेल-कूद का मुझे व्यसन न था। भक्ति भावना कुछ अधिक थी। जो भगवान् बिल्ली के बच्चों को आँवे की आग से बचा सकते थे, वे क्या मुझे मास्टर की कोपाग्नि में भस्म होने देंगे! संस्कृत पढ़कर कुछ पाण्डित्य प्रदर्शन का व्यसन हो गया था। आर्य-समाज और सनातन-धर्म का शास्त्रार्थों में भी अधिक रुचि थी। मैं सनातन धर्म का पक्ष लेता था। मेरे पड़ोस में सुखलाल नाम के बढ़ई रहते थे। मैं उनकी कला का बड़ा प्रशंसक था और कभी-कभी खराद की डोरी खींचकर मैं अपने को कार्य-कुशल समझने लगता था। उनके नीम के नीचे रामायण और सबलसिंह चौहान का महाभारत जो मेरे यहाँ बंगवासी के उपहार में आया था, आदि ग्रन्थ पढ़े जाया करते थे। उनको मैं बड़े प्रेम से सुनता था। बस यही मेरा व्यसन था।

ऐसे निर्व्यसन विद्यार्थी की इम्तहान की तैयारी बहुत अच्छी होनी चाहिए थी, किन्तु हिसाब, इतिहास और अन्य विषयों में रुचि न थी, फिर तैयारी कैसे अच्छी होती। अभी तक कभी-कभी स्वप्न में अपनी गैर तैयारी देखकर चौंक पड़ता हूँ। परीक्षा के लिए आगरे आया। बाबू बनारसीदासजी जैन की कृपा से वैश्य बोर्डिङ्ग हाउस में ठहरा। आगरा कालेज के हाल में परीक्षा दी। परीक्षा-भवन के हाबू बाबू [वर्त्तमान में डाक्टर सुशीलचन्द्र सरकार] से जान-पहचान हुई। तब की मित्रता वे अभी तक निभाए जाते हैं। जब कभी रात-बिरात उन बेचारों को बुला लेता हूँ दूसरों का इलाज करते हुए भी वे बेउज्र चले आते हैं। परीक्षा फल आनेपर कम्पित हृदय से गज़ट देखने गया। अपना नाम देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ—और मालूम नहीं देवीजी का-

या भैरवजी का अथवा महादेवजी का प्रसाद बाँटा। उन दिनों सभी मेरे इष्टदेव थे।

मेरी स्कूल की शिक्षा की इतिश्री हुई। 'यहाँ की बातें यहीं रह गईं, अब आगे का सुनो हवाल।'

उपर्युक्त निबन्ध आत्मकथा प्रधान निबन्ध का नमूना है। इस प्रकार के निबन्ध में रूपरेखा निश्चित नहीं की जा सकती।

७—कबीर का महत्त्व

डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०

प्रसिद्ध इतिहासकार 'बर्कले' का कहना है कि युग की बड़ी विभूतियाँ कालप्रसूत होती हैं। कबीर के विषय में तो यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट है। जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्म काल के समय में हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं तथापि भारतीय नवयुवक के समाज सुधारकों में कबीर का स्थान सर्व-प्रथम है क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन नैतिक आचरण एवं कर्मकाण्ड तीनों का समावेश है।

कबीर के पहले हिन्दू-समाज में कितने ही धार्मिक सुधारक हुए थे पर उनमें अप्रिय सत्य कहने का बल अथवा साहस नहीं था। हिन्दू जन्म से ही अधिक धर्म-भीरु होता है। यह उसकी जातीय दुर्बलता है। दूसरों की धार्मिक नीति का स्पष्ट विरोध करना मुस्लिम धर्म का विशेष अंग है। इन्हीं दोनों परस्पर प्रतिकूल सभ्यता के योग से कबीर का उदय हुआ था जिनका प्रधान उद्देश्य इन दो सरिताओं को एक- मुख-करना था। कबीर की शिक्षा से हमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है। यही उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी।

कबीर की विशेषता इन्हीं धार्मिक पाखण्डों का स्पष्ट शब्दों में विरोध कर सत्यानुमोदन करने की है। कबीर ने निश्चय किया कि हिन्दू-मुस्लिम विरोध का मूल कारण उनका अंधविश्वास है। धर्म का मार्ग संसार के कृत्रिम भेद-भावों से बिल्कुल रहित है। 'कहे हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहे रहमाना। आपस में दोउ लरि-लरि मूये मरम न काहू जाना।' वास्तव में समाज में बन्धुत्व के ये भाव कबीर द्वारा ही सर्व-प्रथम व्यक्त किए गए थे। भक्तिभाव के आन्दोलन द्वारा भगवान् के सामने सम-भाव का आदेश तो रामानन्द ने भी दिया था पर जाति-विभाग और ऊँच-नीच भाव के एकीकरण का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था। सच्चा सुधारक समाज में नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अंधविश्वास में पड़े मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक आवश्यक समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। काशी में—हिन्दू धर्म के प्रधान केन्द्र में—कबीर के सिवा और कौन साहस कर पूछ सकता था 'जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम काहे न आये?' यदि काली और सफेद गाय के दूध में कोई अंतर नहीं होता तो फिर उस विश्ववंद्य की सृष्टि में जाति-कृत भेद कैसा! "कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावे एक ज़मीं पर रहिये।" सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की संतान हैं—"को ब्राह्मण को शूद्रा।"

कबीर की यही समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती है। स्मरण रखना चाहिए कि भक्तियोग के उत्थान के साथ कितने अन्य महात्माओं ने भी शूद्रों को स्वीकार किया था परन्तु 'जाति-विभाग हेय और हानिप्रद है' ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था।

इसी जाति-विभाग के नियम-पालन में छुआछूत का प्रश्न और भी जटिल हो गया था। हिन्दू-मुसलमान दोनों ने अपने विशेष सामाजिक संस्कार बना लिए थे। साथ ही धर्म के दार्शनिक तत्वों की अवहेलना खूब हो रही थी। धर्म का रूप केवल बाह्य-कृत्यों तक ही सीमित था। कारण यह था कि पंडितों और मुल्लाओं की प्रधानता एवं उनकी संकुचित विचारधारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। विशेषता तो यह थी कि इन सभी आचारों का अनुमोदन कुरान, पुराण आदि धार्मिक पुस्तकों के नाम

से किया जाता था। कबीर ने देखा कि शास्त्र, पुराण आदि की कथाओं से लोग धर्म के सच्चे तत्त्व को भूल गए हैं। यह सब "झूठे का बाना है।" मनुष्य भूल कर आडम्बर के फेर में पड़ गया। "सुर नर मुनी निरञ्ज देवा सब मिलि कीन्ह एक बंधाना, आप बँधे औरन को बाँधे भव-सागर को कीन्ह पयाना" बात सत्य थी पर रूखे तौर पर कही गई थी। थोड़े से शब्दों में यह अप्रिय सत्य था जिसके वक्ता और श्रोता दोनों दुर्लभ होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने वास्तविक ज्ञान-राशि वेद कुरान आदि को हेय समझा था परन्तु उनका कहना तो यह था कि बिना समझे इनका आश्रय लेना अज्ञानता है। उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया कि 'वेद कितेब कहो मत झूठे, झूठा जो न विचारे।' काशी, गया, द्वारिका आदि की यात्रा से कोई भी तात्पर्य नहीं है। मनुष्य को पहले निष्कपट होना चाहिए। उसका परिधान रंगा हुआ है हृदय नहीं। कबीर के समय में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक विरोध के कारण धर्म के वाह्याडम्बरों की बहुत वृद्धि हो गई थी। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार परमात्मा विश्वव्यापी है। सूफी सिद्धान्त भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। पर जनता मूल सिद्धान्त को भूल, गौण को मुख्य मान कर विरोध कर रही थी। विश्वव्यापी का निवास कोई पूर्व और कोई पश्चिम में बताता था। मुसलमान बाँग देकर अपने ईश्वर को स्मरण करने में ही अपना महत्त्व समझता है। पुराणों के अनुसार कितने ही मार्ग प्रतिपादित हैं। धर्म-ग्रंथ अनन्त हैं फिर उनके द्वारा प्रतिपादित मार्गों की सीमा नहीं। सभी अपना राग अलापते हैं। कबीर ने देखा कि इस एकात्मता के पीछे अनेकरूपता का रूपक देकर अकारण ही विरोध बढ़ाया गया है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मोहम्मद में कोई भेद नहीं है। राम और रहीम पर्य्यायवाची हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परवरदिगार के बन्दे हैं। "हिन्दू तुरुक को एक राह है सतगुरु इहै बताई। कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई।"

इस प्रकार कबीर ने अपने समय में धार्मिक पाखण्ड एवं कुरीतियों को दूरकर पारस्परिक विरोध को हटाने का सफल परिश्रम किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट-व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। हिन्दू-मुसलमान दोनों धार्मिक

बनते हैं। कबीर का कहना है "इन दोउन राह न पाई।" एक बकरी काटता है, दूसरा गाय। यह पाखण्ड नहीं तो और क्या है ! कबीर ने सम-सामयिक प्रवाह देखकर हिन्दू-मुसलमान दोनों के आडम्बर-मूलक व्यवहार का घोर विरोध किया। उन्होंने अपने विचार की पुष्टि के लिए किसी विशेष ग्रन्थ का आश्रय नहीं लिया। यह हो सकता है कि इसके मूल में उनके पुस्तक-ज्ञान का अभाव रहा हो पर उन्होंने इतना तो स्पष्ट देखा कि इन्हीं धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेकर हिन्दू-मुसलमान अन्याय कर रहे हैं। फिर जो बात सत्य है उसकी वास्तविकता ही प्रधान आधार है। उनका तो कथन था कि—

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी। तू कहता कागद की लेखी।"

प्रश्न हो सकता है कि कबीर अपने कार्य में कितने सफल हो सके हैं। सच तो यह है कि संसार की महान् विभूतियों को जनता अपने अज्ञानवश ठुकरा देती है। युग प्रवर्त्तक महात्माओं को अपने शिक्षा के अनुमोदित न होने का सदा दुःख रहा है। सुकरात, क्राइस्ट सभी इस अज्ञान जनता के शिकार हुए हैं। कबीर का सन्देश कृत्रिम भेद-भाव रहित विश्व-प्रेम-मूलक था यद्यपि वह विश्वव्यापी न हो सका।

१—हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश। २—धार्मिक पाखंडों का विरोध। ३—कबीर की समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती है। ४—बाह्याडंबरों के त्याग और हृदय की शुद्धता का आदेश। ५—कबीर का विश्व-प्रेम-मूलक सन्देश विश्वव्यापी न हो सका।

८—कहानी

प्रेमचन्द

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोविज्ञान के सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखित होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं

देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोल कर दिखा देना सफल आख्यायिका लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं; यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है,—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम ढंग है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलि कर दे या अपने जीवन सिद्धान्तों की हत्या कर डाले ? कितना भीषण द्वन्द्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखंड स्रोत है। एक भाई ने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है; मगर कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ संबंध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उल्लास और उन्माद होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द आता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह

सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

१—कहानी का आधार मनोविज्ञान है। २—कहानी के दो भेद—घटना-प्रधान कहानी और चरित्र-प्रधान कहानी। ३—कहानी सर्वमान्य तत्त्व को ही सामने लाए और उसके चरित्र सजीव और आकर्षक हों।

हिन्दुस्तानी निबन्ध

१—प्रेमचन्द

हमारे ज़माने में जिन लेखकों ने हिन्दुस्तान को ऊपर उठाया है, उनमें शायद प्रेमचन्द सबसे बड़े हैं। बंकिमचन्द्र, शरतचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ० मुहम्मद इक़बाल और कन्हैयालाल मुन्शी ने बंगाली, उर्दू और गुजराती ज़बानों में क्रांति कर दी है। अपनी-अपनी जगह ये सब लेखक बड़े हैं। उन्होंने उन बड़ी-बड़ी समस्याओं पर बातें की हैं जो पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से हमारे सामने हैं। औरतों की समस्या, हरिजनों की समस्या, कम आमदनी वाले लोगों की तरह-तरह की समस्याएं, हमारे घरों के मसले—आखिर उनमें यही है, और यही बहुत कुछ है। उन्होंने अपनी चारों ओर की दुनिया को नई निगाह से देखा है। परन्तु पिछले २५-३० वर्षों में जिस विदेशी ताक़त से हमने मोर्चा लिया, उसका इतिहास तो प्रेमचन्द ने ही लिखा है।

प्रेमचन्द से पहले हिंदी-उर्दू के उपन्यासों में पढ़ने लायक चीज़ें बहुत नहीं थीं। देवकीनन्दन खत्री ने ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास शुरू किये थे जो 'तिलिस्म होशरुबा' और 'अमरू ऐयार' के ढंग की किताबें थीं। किशोरीलाल गोस्वामी ने समाज और इतिहास को क़िस्से का रूप दिया, लेकिन उनकी चीज़ें बहुत आगे नहीं बढ़ सकीं। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखे। ये उपन्यास इंगलैंड के उन नाविलों की नक़ल थे जिनमें लंदन के खुफ़िया पुलिस के दफ़्तर, स्काटलैंडयार्ड की कारगुज़ारी दिखाई जाती थी। ये तीन तरह के उपन्यास प्रेमचन्द के ज़माने तक चलते रहे। १९१६ ई० में प्रेमचन्द का पहला बड़ा उपन्यास सेवासदन छपा। हिन्दू-समाज में औरत की जो छीछालेदर

है, उसी को सामने रखकर यह उपन्यास लिखा गया था। इस उपन्यास ने लोगो में बेचैनी पैदा कर दी। अब तक समाज की तस्वीरें तो बहुतों ने दी थीं, लेकिन इन तस्वीरों के पीछे न तड़पता हुआ दिल था, न इन तस्वीरों को इस तरह रखा गया था कि पढ़ने वाला कुछ सोचने पर मजबूर हो जाय।

प्रेमचन्द का पहला नाविल इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, से १९०१ में छपा। यह उर्दू की किताब थी। नाम था 'हम खुरमा और हम कबाब'। हिन्दी में प्रेमचन्द 'प्रेमा' (१९०६ ई०) के साथ उतरे। यही बाद में 'प्रतिज्ञा' के नाम से कुछ बड़ी कहानी बनकर हमारे सामने आयी। विषय था समाज। विधवा विवाह। प्रेमचन्द ने पहले समाज को ही अपना विषय बनाया। इन समाजी नाविलो में से ज्यादा तो उर्दू में ही लिखे गये। प्रेमचन्द ने हिन्दी तरजुमा कर उन्हें छपा दिया। वरदान, ग़बन और निर्मला की कहानियाँ पहले उर्दू ज़ुबान मे लिखी गईं। हिन्दी मे ये चीज़ें बाद में आईं। प्रेमा में विधवा का विवाह था, तो निर्मला में दोहाजू के संग विवाह का मसला था, दहेज़ का सवाल था। ग़बन में उन लोगों की तस्वीर थी जो आज भी समाज में कम नहीं मिलेंगे। औरत ज़ेवरो पर जान देती है और मर्द औरत को खुश इसलिये रखना चाहता है कि और लोग उसकी चमक-दमक से चुँधिया जायें। दोनों दिखावे के लिए बड़ी से बड़ी क़ुरबानी कर डालते हैं। जब 'प्रेमा' हिन्दी में छपा था, तब हिन्दी के बड़े लोगों ने उसपर नुक़्ताचीनी की थी, प्रेमचन्द पर बड़ी बौछारें पड़ी थीं, लेकिन जब दस वर्ष बाद प्रेमचन्द सेवासदन के साथ आये, तो सब अपनाने दौड़े। वेसवा (वेश्या) हिन्दूसमाज की सबसे बड़ी लानत है। हमारे बड़े-बड़े शहरों में चौक में बैठी हुई वेश्याएँ रूप का सौदा करती हैं। पढ़े-लिखे हैं, महंत हैं, अमीर हैं, म्युनिसिपलटी के मेम्बर हैं, समाज के सेवक हैं—लेकिन इस लानत की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। इस उपन्यास मे चौक से वेश्याओं को हटाने की ज़ोर-भरी अपील की गई है। इस 'सेवासदन' उपन्यास में हमारे अपने घर की जितनी तस्वीरें हैं, हमारी कमज़ोरियों का जैसा ख़ाका है, वैसा कहीं नहीं था। ज़ुबान तो 'प्रेमा' की ही बड़ी साफ़ थी। इस तरह की सीधी-सादी चलती ज़ुबान हिंदी में बहुत कम थी। आज जिसे हिन्दुस्तानी कहते हैं, वही इसे समझिये। जिन्होंने पढ़ा, लट्टू हो गये।

'सेवासदन' सब को बड़ा प्यारा लगा, इससे प्रेमचन्द बड़े खुश हुए। वे बीमार थे। शायद संग्रहणी हो रही थी। उस समय वे प्राइमरी स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर थे और बस्ती गोरखपुर के दौरे पर थे। उन्हों ने उसी समय दूसरा उपन्यास लिखना शुरू किया और प्रेमाश्रम सामने आया। इसमें हमारी कौमी जिन्दगी की तस्वीर थी। यह लेखक का पहला बड़ा क़दम था। १९२१ ई० की असहयोग की तहरीक(आंदोलन) ने प्रेमचन्द पर असर डाला था और इसी से उन्होंने रूसी उपन्यासकार टॉलस्टाय के ढंग पर अपने ज़माने की राजनैतिक हलचलों पर इस कहानी को खड़ा किया था। यह वक्त की चीज पाकर लोग भी'वाह वाह' करने लगे। अब तक न हिन्दी-उर्दू में कोई राजनैतिक उपन्यास था, न रोजमर्रा के वाकआत की चर्चा ही कथा कहानियों में होती थी। इसी से हम प्रेमचन्द की हिम्मत का अंदाजा कर सकते हैं। इसके बाद उन्होंने वतन की अपने ज़माने की हलचलों को लेकर ही रंगभूमि १९२५ ई० कायाकल्प (१९२८), कर्मभूमि (१९३२) और गोदान (१९३६) उपन्यास लिखे। इनमें उन्होंने हमारी राजनैतिक, समाजी, सनअती, सुधारवादी सभी समस्याओं को कई-कई पहलुओं से देखा। उनका सबसे बड़ा नाविल 'रंगभूमि' है—हिंदू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज़, राजे-महाराजे, साधु-महन्त, मज़दूर, किसान सभी इसमें आते हैं। मिलों ने जो बड़ी-बड़ी समस्याएँ हमारे सामने खड़ी कर दी हैं, गाँव उजाड़ दिए हैं और शहरों के चकले बसा दिये हैं, उनकी जितनी साफ़ तस्वीर यहाँ है, उतनी साफ़ तस्वीर और कहीं नहीं मिलेगी। 'कर्मभूमि' में १९३०-३२ की कांग्रेस की अहिंसक लड़ाई का खाका है, लेकिन प्रेमचंद के अपने ढङ्ग पर। इन सब उपन्यासों में जो एक चीज हमें बराबर मिलती है वह हिन्दोस्तान का एक गाँव। हिन्दोस्तानी गाँव प्रेमाश्रम में पहली बार आता है। फिर तो प्रेमचंद बराबर गाँव के मसले पर लिखते रहे। उनके उपन्यास सचमुच गाँवों की कहानियाँ हैं। गोदान (१९३६) गाँव की महाकथा है। सच तो यह है कि और उपन्यास लिखने वालों की तरह प्रेमचंद दिमागी उधेड़बुन में नहीं लगे रहे। उन्होंने किसी एक या दो या दस आदमियों की कहानियाँ न कह कर सारे देश की कहानी कही। पिछले २५ वर्षों में देश ने क्या सहा, क्या किया, क्या पाया, यह न शरत्‌चंद्र में मिलेगा, न रवीन्द्रनाथ में, न

मुंशी में। यह तो प्रेमचंद ही देंगे। और लेखकों की तरह प्रेमचंद ने एक ही कहानी को बराबर अनेक ढङ्ग से नहीं कहा। और उपन्यासकारों की तरह वह पुराने पड़ कर सड़ नहीं गये। प्रेमचंद अपनी ज़िंदगी में बराबर आगे बढ़ते रहे। मन खुला रहा। आँखें खुली रहीं। कलम आज़ाद रही। उन्होंने जीवन के सब कोने देखे थे। उन्होंने अपने जीवन, अपने दिल और दिमाग़ का सारा रस हिन्दी में उंडेल दिया। आज वे अमर हैं।

लोगों को शिकायत है, प्रेमचंद में कथा-रस इतना नहीं जितना शरत् में। लोगों को शिकायत है प्रेमचंद पात्र के मन में उस तरह नहीं उतर पाते जैसे रवीन्द्रनाथ के। लोगों की शिकायत है, प्रेमचंद समय से ऊपर नहीं उठ सके। उन्होंने अपने ज़माने के मसलों को सुलझे ढंग से हमारे सामने रखा। हम क्या करें, ये मसले सुलझें कैसे, इस सम्बंध में उन्होंने कुछ नहीं कहा। कोई कहता है, उनमें यह कमी थी। कोई कहता है, वह कमी थी। लेकिन प्रेमचंद ने हमें क्या दिया, अभी हमें यह समझना है। उनमें यह नहीं, उनमें वह नहीं, फिर भी उनमें बहुत कुछ था और जो है उसके आगे हमें सिर झुकाना होगा। प्रेमचंद की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उन्होंने विलायतीपन का पल्ला कहीं नहीं पकड़ा। उनकी कहानियों को पढ़िए, उपन्यास देखिये या निबंध, सब जगह वह बराबर हिन्दुस्तानी की नज़र से हिंदुस्तान को देख रहे हैं। क़लम की सुहलबाज़ी से उन्हें नफ़रत थी। कहने भर के लिए उन्होंने कुछ नहीं कहा। उनके सामने था उनके ज़माने का ग़रीब हिन्दुस्तान जिसे गोरे मालिकों, काले ज़मींदारों और पुलिस-दारोगा जैसे उनके कारिन्दों ने चूस डाला था। इसी हिंदुस्तान की कहानी उहन्होंने कभी छोटी कहानी में, कभी बड़ी कहानी (उपन्यास) में कही। उन्होंने अपने पात्रों को ज़ुल्म के आगे माथा टेकना नहीं सिखाया। सूरदास मर गया, विनय मर गया, होरी मर गया। लेकिन मर कर ये सब जी गये। बहादुरों की मौत उनके जीने से कम अच्छी नहीं होती।

प्रेमचन्द ज़माने के साथ चलने वाले आदमी थे—कुछ हिस्से में तो वे ज़माने को रास्ता दिखाने वाली मशाल थे। उन्होंने पहली बार हिंदुस्तान के

ग़रीब किसान और मज़दूर को ज़बान दी। उन्होंने जनता की माँग को बड़े ज़ोर से लोगों के सामने रखा। वे किसान मज़दूरों के पैगम्बर बन गये। आज वे नहीं हैं। सुनते हैं, उनका ज़माना चला गया। मुल्क कहीं आगे बढ़ गया है। नई रोशनी में प्रेमचन्द के बताए हुए कुल हल पीछे पड़ गये हैं, परंतु मसले वही हैं, बातें वही हैं। उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें प्रेमचंद को छोड़कर और कहीं नहीं जाना पड़ेगा—वही गुलामी, वही गाँवों की तबाही, वही अमीर-ग़रीब का झगड़ा। प्रेमचंद गांधीजी की तरह समझौता-पसंद थे। जहाँ उलझन पड़ जाती, वहाँ या तो समझौता हो जाता, या ग़रीब मर जाता। दूसरा कोई चारा नहीं था। उन्होंने बग़ावत को बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ाया, यह सच है लेकिन उन्होंने जो इशारे किये, वह कम इन्क़िलाबी नहीं थे। अपने ज़माने के लोगों में वह सबसे आगे बढ़े हुए इंसान थे, इसमें शक नहीं।

२—पाकिस्तान

अभी कुछ समय से एक नई आवाज़ उठने लगी है। 'लड़ कर लेंगे पाकिस्तान। मर कर लेंगे पाकिस्तान।' सारे देश में जैसे एक तूफ़ान उठने लगा है। बंगाल और बिहार में इस नए सवाल को लेकर इतने बड़े दंगे हो गये हैं कि हमें शर्म आने लगी है। आख़िर यह 'पाकिस्तान' क्या बला है जिसके लिए आज हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे का गला काट रहे हैं?

सच तो यह है कि 'पाकिस्तान' हिन्दू-मुसलमानों के मसले (समस्या) का आख़िरी हल है। वैसे हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा आज का नहीं, कई सौ वर्ष पुरानी चीज़ है, परन्तु आज जो हिन्दू मुसलमान का गला काट रहा है, मुसलमान हिंदू का यह बात पहले कभी नहीं थी। आख़िर, यह सब क्यों? मुसलिम लीग चिल्लाती है—'इस तुम्हारे-हमारे देश के दो टुकड़े कर दिये जाएँ। एक हिन्दोस्तान, एक पाकिस्तान।' जिन्ना साहब साफ़ कह रहे हैं—'हिन्दुओं से हमारा कोई भाई चारा नहीं। 'मुसलिम हैं हम, वतन है सारा जहाँ हमारा।' जहाँ-जहाँ मुसलमान हैं, वहाँ-वहाँ हमें अपनापन लगता है। सरहद, पंजाब, सिंध, और बंगाल हमें दे दो। इन्हें लेकर हम अपनी आज़ाद हुकूमत बनायेंगे

जिसका नाम 'पाकिस्तान' होगा।' उधर महासभा वाले चिल्ला रहे हैं—'जी, कभी हिन्दुस्थान ही नहीं, अफ़ग़ानिस्तान भी हिन्दूराज में था। हम तो सुई की नोक बराबर ज़मीन नहीं देंगे।' अच्छा झगड़ा है। शायद संसार के इतिहास में किसी देश में ऐसा झगड़ा नहीं हुआ। हम दो पहलवान अखाड़े में उतरे हैं और गोरे लोग सात समुन्दर पार के देश से यहाँ आकर हमारा तमाशा देख रहे हैं।

कोई एक हज़ार सवा हज़ार वर्ष हुए कुछ अरब के मुसलमान साधु और व्यापारी कोकनद, मालाबार और सिंध में आये। साधु यहीं बस गये। व्यापारी माल ख़रीदते-बेचते आते-जाते रहे। ख़लीफ़ाओं के जमाने में सिन्ध मुसलमानों के हाथ में आया, लेकिन जल्दी ही उनके हाथ से निकल गया। १००० ई० तक सिन्ध और पंजाब में बहुत से अरबी मुसलमान बस गए थे। १०२४ ई० के सोमनाथ के हमले के बाद महमूद ग़ज़नवी ने पंजाब को अपने क़ब्ज़े में कर लिया और मुलतान नए राज की राजधानी बना। डेढ़-सौ वर्ष तक ग़ज़नवी की हुकूमत पंजाब में चलती रही और मुसलमान साधुसंत और सूफ़ी इस्लाम धर्म फैलाते रहे। ग़ज़नवियों के बाद ग़ोरी आये। ११९२ ई० की तराइन की लड़ाई में पृथ्वीराज कैद हुए और दिल्ली, अजमेर मुसलमानों के हाथ में आ गए। अगले वर्ष कन्नौज और काशी पर भी इस्लाम का झंडा फहराने लगा। कुछ ही वर्षों में सारा हिन्दुस्तान मुसलमानों के झंडे के नीचे आ गया।

नवीं सदी से हिन्दुओं के इस देश में मुसलमान पीर (साधु) और सूफ़ी इस्लामी ख़्याल फैला रहे थे। इन पीरों और सूफ़ियों की करामातों के चक्कर में आकर लाखों हिन्दू मुसलमान बन गये। मुसलमान सरदारों, बादशाहों और शहंशाहों ने भी तलवार के ज़ोर से इसलाम में नए रँगरूट भरती किए। शूद्रों या अछूतों को हिन्दू धर्म में कोई ख़ास जगह नहीं थी, इसलिए ये लोग बड़ी तादाद में धर्म बदलने लगे। उन दिनों इस्लामी राज की दो राजधानी थीं—दिल्ली और लाहौर। इसलिए पश्चिमी हिन्दुस्तान में इस्लाम बड़ी तेज़ी से फैला। पंजाब में ६० ७० फ़ी सदी जनता मुसलमान है। जैसे-जैसे राजधानी से दूरी बढ़ती गई वैसे-वैसे इस्लाम का असर भी कम होता रहा। हाँ, बंगाल में ज़्यादा लोग बुद्ध के धर्म को मानते थे। बुद्ध के धर्मवाले

ईश्वर को नहीं मानते थे, इसलिए इन्हें खास तौर पर काफ़िर मानकर मुसलमान सुलतानों ने ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया। दक्खिन में बड़े-बड़े मुसलमानी राज्य जमे, लेकिन वह बाद में; और उन्होंने हिन्दुओं को कोई धक्का नहीं पहुँचाया। इस तरह जहाँ पूरब-पश्चिम में मुसलमान हिन्दुओं से ज्यादा हो गये, वहाँ दक्खिन और बीच में हिन्दू ही अधिक रहे। यों इतिहास ने हिन्दू मुसलमानों को एक ही देश में ला पटका।

१२०० ई० से १८०० ई० तक छःसौ वर्षों का लम्बा समय होता है और इस लम्बे समय में हिन्दू और मुसलमान बराबर पास आते गये। वर्षों के पड़ोस ने भाई-चारा पैदा कर लिया। धर्म की कट्टरता जाती रही। आखिर खून तो एक था। बाप-दादे तो एक थे। लेकिन अट्ठारहवीं सदी में एक नई चालाक ताक़त हिन्दू मुसलमानों के बीच में आगई। ये थे अंग्रेज। इन्होंने अपना सिक्का बिठाने के लिए भाई-भाई के दिलों में फूट डाल दी। नौकरियों में इतने हिन्दू लगे, इतने मुसलमान। हिन्दू चाय, मुसलमान चाय। हिन्दू रेस्टराँ, मुसलमान रेस्टराँ। ग़रज यह कि जो ईश्वर ने भाई-भाई की तरह रहने के लिए बनाये थे, उन्हें आदमी की चालाकी ने अलग-अलग कर दिया। आज यह हाल है कि मुसलमान मदीने के लिए तपड़ता है, हिन्दू काशी में मरना चाहता है। मुसलमान ईसा, मूसा, रुस्तम, हाँरू रशीद, शीराज़ की शराब, गुलो-बुलबुल, लैला मजनू और शीरीं-फ़रहाद की दुनियाँ में रहता है। हिंदू राम, कृष्ण, कर्ण, विक्रमाजीत, कन्हैया के माखन, सीता-शकुंतला के सपनों में जीता है। आज राम-रहीम में पटरी किसी भी तरह ठीक नहीं बैठती।

१६०६ ई० में मुसलिम लीग क़ायम हुई। आज चालीस वर्षों से यह लीग हिंदू-मुसलमानों के बीच में ज़हर की बेलि बो रही है। पिछले दस वर्षों में उसने जो किया है, वह किसी भी तरह तारीफ़ के क़ाबिल नहीं होगा। अब लीग के सदर जिन्ना साहब कह रहे हैं—"इस तरह काम नहीं चलेंगे। हिंदुओं की हुकूमत होगी हिंदोस्तान, हमारी हुकूमत होगी पाकिस्तान। अब तो हिंदू मुसलमान साथ-साथ नहीं रह सकेंगे। वे कहते हैं—जहाँ हिंदू कम हैं वहाँ से वे निकल जायें, वे वहाँ आकर रहें जहाँ हिंदू ज्यादा हैं। इसी तरह मुसलमान

भी बढ़ें। इस तरह हिन्दू मुसलमानों के अलग-अलग दो देश हो जायेंगे।

लेकिन धर्म के नाम पर यह बँटवारा किसे अच्छा लगेगा? आज ईश्वर की २०वीं सदी में धर्म को एकदम उखड़ा ही दिया है। धर्म के नाम पर ईश्वर के बनाये हुए एक मुल्क के दो मुल्क हो सकेंगे, इसमें शक है। हो भी सके तो फिर एक नहीं हो जावेंगे, यह कौन कह सकेगा। अभी कल किसी गाँव में किसी बंगाली मुसलमान ने गांधीजी को एक पेड़ ऐसा दिखाया जिसमें दो तरह के पत्ते लगे थे। गांधीजी ने कहा, यह तो कोई करामात नहीं है। समझ लो एक पत्ता हिन्दू है, एक पत्ता मुसलमान है। क्या हिन्दू मुसलमान एक ही डाल पर लगे दो पत्तों की तरह मिलकर नहीं रह सकते?

३—सब की बोली—'हिन्दुस्तानी'

हिन्दी, उर्दू से हिन्दुस्तानी अलग चीज़ है, हालाँकि तीनों में एक ही शब्द बहुत कुछ आते हैं और तीनों का ढाँचा भी एक है। फिर भी तीनों को पहचाना जा सकता है। हिन्दी कुछ इस तरह है :

"इटली जैसा आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित प्रबल राष्ट्र अभी तक अबीसीनियाँ को पूर्णरूप से पददलित नहीं कर सका है। अबीसीनियाँ के निवासी असाधारण योद्धा हैं और पिछले दिनों युद्धक्षेत्र में अपने शौर्य और वीर्य का महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है। उन्हें अपनी स्वाधीनता का अभिमान है। और इस सारी अवस्था का श्रेय सम्राट् हेलसलासि को है जिन्होंने अपने राष्ट्र के इस महान् संकट काल में अपरिमित साहस और अप्रतिम बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है।"

उर्दू की मिसाल यह है—

"इस बारे में "तम्बीर" की असली शाहराह यह होगी कि वह हमारी हाज़िरउलवक्त हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी के हालात व हवादिस को अपनी जौलानगाहे फ़िक्रो-नज़र बनायेगा। इन मआमलात से हमारे रसायल व जरायद की बेदमनाई एक अजीब मालूम बेखबरी की अदा रखती है। हम सब कुछ कहते और सुनते हैं लेकिन हमारी गुफ़्तो-शुनीद से वही बातें मुस्तस्ना

हो गई हैं जो हमारी जात व हयात हमारे मसालह और मुनाफ़ा से क़रीब तरीन वास्ता रखती है।"

हिन्दुस्तानी सरल हिन्दी और सरल उर्दू-साहित्य से मिलती-जुलती है। लेकिन अभी तक हिन्दुस्तानी का कोई ऐसा नमूना नहीं खड़ा हुआ है जो उर्दू और हिन्दी वाले एक तरह मानते हों। नीचे हिन्दुस्तानी के कई नमूने हैं—

१—"हम इस फ़रेब में मुबतला हैं कि हम सहीअ नाम 'हिन्दुस्तानी' के रिवाज दे देने से हमारी ज़बान की सारी मुश्किलें खत्म हो जायेंगी। बल्कि हम यह समझते हैं कि आज जब हम अपनी ज़बान की असली पोज़ीशन को दुनिआ पर वाज़ेअ कर लें और इसके हमागीर तखील को साबित करने और इसके सारे मुल्क की जबान बनाने का ताहिया कर रहे हैं, तो ज़रूरत है कि हम सबसे पहले इसको इसके नाम से रूशनास करायें जिससे इसकी असली हैसियत वाज़ेअ होती है।"

२—"हिंदुओं के लिए लल्लूजीलाल, बेनीनारायन वगैरः को हुक्म मिला कि नस्र की किताबें तैयार करें, उन्हें और भी ज़्यादा मुश्किलों का सामना करना पड़ा। अहद की भाषा ब्रज थी लेकिन उसमें गद्य या नस्र नाम के लिए नहीं था, क्या करते। उन्होंने एक रास्ता निकाला कि मीर अम्मन, अफ़सोस वगैरः की ज़बानों को अपनाया, पर उसमें फ़ारसी और अरबी के लफ़्ज़ छोड़ दिये और संस्कृत और हिंदी के रख दिए।"

३—"जितने अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ों को हिन्दी के अच्छे लिखनेवालों ने इस्तेमाल किया है और जितने संस्कृत के शब्दों को अच्छे उर्दू लिखने वालों ने व्यवहार किया है उनको हिन्दुस्तानी में ले लेना चाहिए। उनके अलावा आवश्यकतानुसार और भी शब्द लिए जा सकते हैं।"

४—"एक ज़माना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली नहीं था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मज़बूत और जफ़ाकश होते थे, मगर अब तो अँगरेज़ी तहज़ीब और मुआशरत ने सिर्फ़ शहरों में ही नहीं, देहातों में भी काया पलट दी है।"

ऊपर हिन्दुस्तानी के चार नमूने हैं। यह कहना कठिन है कि कौन सबसे उम्दः हिन्दुस्तानी है। सच तो यह है कि हिन्दुस्तानी ठीक-ठीक रूप में अभी चल ही नहीं सकी है। हिन्दी-उर्दू की तरह हिन्दुस्तानी की भी बड़ी लम्बी कहानी है। मुसलमान बादशाहों के ज़माने में हिन्दू-मुसलमानों में मेल से एक नई ज़बान चल पड़ी। इसे 'हिन्दवी' कहा गया। आज की ज़बान में इसी को 'हिन्दुस्तानी' कह सकते हैं। अंग्रेज़ जब पहले आये तो उन्हें राज-काज के लिए फ़ारसी चलती मिली। मुसलमानों की हिन्दवी अब 'उर्दू' बन गई थी। अंग्रेज़ों ने इस 'उर्दू' और जनसाधारण की हिन्दी के बीच 'हिन्दुस्तानी' का नाम देकर एक लीक चलाई। परन्तु सच तो यह था कि 'हिन्दुस्तानी' 'उर्दू' ही थी।

इसके बाद 'हिंदुस्तानी' की तरफ़ सबसे बड़ा क़दम गांधीजी ने उठाया। गाँधीजी ज़माने को देखकर चलनेवाले आदमी हैं। उत्तर हिंदोस्तान में जो ज़बान सब की समझ में आती है वही मुल्क की ज़बान हो सकती है, यह वह जान गये। उन्होंने हिंदी, हिंदी यानी उर्दू यानी हिंदोस्तानी, हिंदी-उर्दू हिन्दो-स्तानी कई नाम इस नई ज़बान को दिये। लेकिन थी यह एक ही ज़बान। हिन्दुस्तान को मुल्की ज़बान बनाने की लड़ाई गांधीजी ने ही जीती है। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद लिखते हैं: "गांधीजी ने हिंदुस्तान को बहुत सी चीज़ें दी हैं। मगर शायद कम लोगों का ध्यान इस तरफ़ गया होगा कि एक बड़ी चीज़ जो हिंदोस्तान को उनके हाथों से मिली, वह उसकी मुल्की ज़बान है। बहुत-सी बोलियाँ रखने पर भी हिंदुस्तान अपनी मुल्की बोली नहीं रखता था। गांधीजी ने उसकी यह कमी पूरी कर दी। अंग्रेज़ी ज़बान हुकूमत के दरवाज़े से आई। लेकिन आते ही सारे मुल्क पर छा गई। और इस तरह छा गई कि हमारी तालीमी, इल्मी और समाजी ज़बान की जगह उसी को मिल गई। अब पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी अपनी मुल्की ज़बान में बातचीत करना शरम की बात समझने लगे थे। बड़ाई और इज्ज़त की बात यही समझी थी कि हर मौक़े पर अंग्रेज़ी ही ज़बान से निकले। लोग अपनी निज की बात-चीत में भी अंग्रेज़ी को भुलाना पसंद नहीं करते थे।

पिछली सदी के आख़िरी हिस्से में मुल्क की नई सयासी जागृति शुरू हुई

और इंडियन नैशनल कांग्रेस की नींव पड़ी। अब कांग्रेस के जलसे इसलिए होने लगे थे कि मुल्की क़ौमी माँगों और क़ौमी फैसलों की आवाज़ दुनिया को सुनाई जाय लेकिन यह आवाज़ भी अपनी ज़बान में नहीं उठती थी। अँग्रेज़ी में ही उठती थी। हिंदुस्तान अब इंगलैण्ड को यह बात सुनाना चाहता था कि उसका मुल्क खुद उसके लिए है, दूसरों के लिए नहीं है। लेकिन यह बात कहने के लिए भी उसे अपनी हिंदुस्तानी ज़बान नहीं मिली थी। वह दूसरों की ज़बान उधार लेकर अपना काम चलाना चाहता था। लेकिन ज्योंही गांधीजी ने मुल्क के सयासी मैदान में क़दम रक्खा, अचानक एक नया इन्क़िलाब उभरना शुरू हो गया। अब मुल्क की आवाज़ खुद उसकी ज़बान में उठने लगी और मुल्क की ज़बान में बातचीत करना शरम की बात नहीं रही। उन्होंने लोगों को याद दिलाया कि शरम की बात यह नहीं है कि हम अपनी ज़बान बोलें, शरम की बात यह है कि अपनी ज़बान भूल जायें। उन्होंने १९२०-२१ में सारे मुल्क का दौरा किया और सैकड़ों तक़रीरें कीं, लेकिन हर जगह उनकी तक़रीरों की ज़बान हिन्दोस्तानी रही।"

गाँधीजी ने हरिजनसेवक, फरवरी १०, १९४६, में अपनी हिन्दुस्तानी की व्याख्या इस प्रकार दी है : "आज की हिन्दुस्तानी के दो रूप हैं, हिन्दी और उर्दू। हिंदी नागरी लिपि में लिखी जाती है; उर्दू, फ़ारसी लिपि है। एक का सिंचन होता है संस्कृत से, दूसरी का अरबी-फ़ारसी से। इसलिए आज तो दोनों को रहना है। दोनों मिलकर ही हिंदुस्तानी बनेगी। आइन्दा उनकी क्या शकल होगा, हम नहीं जानते, न कोई कह सकता है। जानने की ज़रूरत ही नहीं। तेईस करोड़ से अधिक लोग आज हिंदुस्तानी बोलते हैं। जब आबादी तीस करोड़ थी, तब हिंदोस्तानी भाषा बोलने वालों की संख्या २३ करोड़ थी। अगर हम चालीस करोड़ हुए हैं, तो इसके बोलने वाले अधिक होने चाहिये। सो कुछ भी हो, राष्ट्रभाषा इसी में है। दोनों बहनों को आपस में झगड़ा करना नहीं है। मुक़ाबला तो अंग्रेजी से है। उसमें मेहनत कम नहीं। हिन्दुस्तानी की बहुत-से मातां की भाषा को बदना ही है। क्योंकि हिन्दुस्तानी लोगों की भाषा है, मुट्ठीभर राज्यकर्त्ताओं की नहीं।" गाँधीजी के इस कहने से यह साफ़ जान पड़ता है कि वह हिन्दी और उर्दू एकदम

मिट जाये, यह नहीं चाहते। अपनी-अपनी जगहों पर ये दोनों ज़बानें चलेंगी। गांधीजी तो यही चाहते हैं कि दोनों ज़बानों के बीच की एक ज़बान (हिन्दुस्तानी) ऐसी बन जाये जिसमें सारे हिंदोस्तान के लोग एक दूसरे से बातचीत कर सकें, एक दूसरे को लिख-पढ़ सकें। वह यही नहीं चाहते कि हिन्दोस्तानी सिर्फ़ काम-चलाऊ भाषा हो। उनका कहना है कि यह हिंदुस्तानी अंग्रेज़ी की जगह ले ले, राज चलाने के लिए यही ज़बान काम में लाई जाये। प्रांतीय सरकारों का काम अपने-अपने सूबे की भाषा में चले, लेकिन फेडरल सरकार हिन्दुस्तानी अपनाये। अगर एक सूबे का बड़ा लेखक कोई सुन्दर किताब लिखे तो वह हिन्दुस्तान में छप कर सब प्रांतों के पास पहुँच जाये। वैसे हिन्दी भाषा ही सबसे व्यापक भाषा है और इसे ही मुल्क की ज़बान होना चाहिये था। लेकिन दस करोड़ मुसलमान उर्दू को अपनी भाषा मान रहे हैं—जातीय और मुल्की कारणों से बंगाली, गुजराती, मद्रासी मुसलमान उर्दू सीख रहे हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि उर्दू को ध्यान में रखा जाये। इसीसे हिंदू मुसलमानों के मेल को हिंदुस्तान के लिए ज़रूरी मानने वाले गांधीजी हिंदी-उर्दू के मेल से बनी एक ज़बान चाहते हैं। यह ज़बान हिंदुस्तानी ही हो सकती है।

४—गाँधीजी का रचनात्मक कार्य

बाहरवाले चाहे जो कुछ कहें, इसमें शक नहीं, गांधीजी इस संसार की सब से बड़ी हस्ती हैं। उन्होंने एक मुर्दा मुल्क की रगों में खून पहुँचाया है और उस क़ुरबानी का मंत्र दिया है। यदि गांधीजी नहीं होते तो यह देश अब तक गोरों और उनके हिंदुस्तानी एजेन्टों के जूते चाटता रहता। गांधीजी ने हमें आत्मसम्मान सिखाया, अपने हक़ों के लिए लड़ना सिखाया। गुरुगोविन्द की भाषा में कहें तो उन्होंने "चिड़ियों को बाज़ से लड़ा दिया"। दुनिया की निगाहों में यह काम चाहे जो क़ीमत रखे, आज हिंदुस्तान तो इसकी क़ीमत समझ रहा है।

लेकिन गांधीजी के और काम इससे भी बड़े हैं। हिंदुस्तान की आज़ादी गांधीजी के लिये बैठी नहीं रहती। वे नहीं होते तो कोई दूसरा होता। तिलक और गोखले के बाद आज़ादी का काम बहुत दिनों तक पीछे नहीं पड़ा रह सकता था। गांधीजी ने उनके काम को हज़ार गुना आगे बढ़ाया। लेकिन उन्होंने और भी बहुत किया। हिंदोस्तान की आज़ादी तो मानी हुई बात है—बाहरवाले किसी भी देश की छाती पर चढ़े नहीं रह सकते—लेकिन खुद हमारे भीतर जो खराबियाँ हैं, जिन्होंने हमें गुलाम बना रखा है, उनको तो जाना चाहिए। गांधीजी ने यही काम अपने हाथ मे लिया। उन्होंने कहा—"जब तक देश आज़ाद न हो ले, तब तक हम नपुंसकों की तरह बैठे नहीं रह सकते। हमें देश की हज़ारों बुराइयाँ दूर करनी हैं। किसान छः महीने खाली बैठे रहते हैं। इन्हें चरखा दो। यह सूत कातें, कपड़ा बुनें। फिर कपड़े के लिए लङ्काशायर की हमारी गुलामी खत्म हो जायगी।" १६२१ से वे बराबर चरखे पर जोर दे रहे हैं और आज करोड़ों घरों में चरखा पहुँच गया है। इस "यरवदा-चक्र' ने लंकाशायर के राज को ही खतम कर दिया है। जो देश कपड़े के लिए विलायत का मुँह देखता था, वही देश अब लाखों गज कपड़ा दूसरे मुल्कों को भेज रहा है। आज जो करोड़ों-अरबों रुपयों की बड़ी दौलत इस मुल्क में ही रह जाती है, यह गांधीजी के स्वदेशीमंत्र की बदौलत ही। जिस हाथ के कते-बुने कपड़े (खादी) का लोग गवारू समझते थे, वही देश का गौरव हो रहा है, इससे बढ़ कर क्रान्ति की बात क्या होगी!

खादी और स्वदेशी के बाद गांधीजी का सबसे महान् काम अछूतों के लिए है। इस काम के लिए गांधीजी ने जो कुछ किया है, वह बुद्ध, कबीर जैसे महापुरुषों के काम से भी बड़ा है। ऊँची जात के हिंदू अछूतों को अपना भाई मानें, इसलिये गांधीजी को तीनबार मौत के मुँह में जाना पड़ा। उन्होंने अछूतों को उससे ज्यादा हक दिलाये जो सरकार उन्हें दे रही थी। आज गांधीजी अछूतों के सबसे बड़े दोस्त हैं। उन्होंने उन्हें नया नाम—'हरि-जन' दिया है। इन हरिजनों के पास आने के लिये गांधी खुद अपने को भंगी कहते हैं। जहाँ वे जाते हैं, वहाँ वे इन अछूतों, हरिजनों और भङ्गियों में ही

रहते हैं और उन्हें सफाई और सचाई की तालीम देते हैं।

उनका तीसरा बड़ा काम हिन्दू-मुसलमानों के बीच में दोस्ती पैदा कराना है। सदियों से हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ रहते चले आये हैं, लेकिन जब से तीसरी ताक़त (अँग्रेज़ लोग) हिन्दोस्तान में आई तब से दोनों के बीच में खाई पैदा हो गई और वह बराबर बढ़ने लगी। हिन्दू अलग, मुसलमान अलग। हिन्दू चाय, मुसलमान चाय। इतनी नौकरियाँ हिन्दुओं के लिए, इतनी नौकरियाँ मुसलमानों के लिए। इस तरह बीच में फूट का बीज बोया गया। गांधीजी जानते हैं, हिन्दू मुसलमानों को भाई-भाई की तरह इस देश में रहना होगा। तभी देश बड़ा हो सकेगा। उन्होंने १९२१ ई० में ही मुसलमानों के बड़े सवाल—खिलाफ़त के सवाल—को हिंदू-मुसलमान दोनों का सवाल बना लिया। इन दोनों को मिलाने के लिए उन्होंने एक आम ज़बान—सब की बोली—हिन्दुस्तानी को जन्म दिया।

१९३५ में जब कांग्रेस वज़ारतें मुल्क में नई-नई बातों की नींव डाल रही थीं, तब गांधीजी ने राजनीति से अलग रहकर भी डा० ज़ाकिरहुसैन जैसे विद्वानों के साथ मिल कर 'नई तालीम' की बुनियाद डाली। 'काम तालीम का एक बड़ा ज़बरदस्त ज़रिया है या बन सकता है'—यह उन्होंने कहा। जिन लोगों ने तालीम के मसले पर गौर करने की कोशिश की है, वे अब तक इस बात को पूरी तरह मान चुके हैं कि काम के जरिये तालीम देना, यानी काम के साथ पढ़ाई जोड़ना, पढ़ाने का सबसे अच्छा तरीक़ा है। लेकिन शायद बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इस बात को समझने के लिए तैयार हों कि किताबी पढ़ाई का एक लफ़्ज़ जोड़े बग़ैर भी खुद काम ही एक तालीम है, और वह भी ऊँचे दरजे की तालीम। सेवाग्राम के तालीमी संघ में इन्हीं नये असूलों पर काम हो रहा है। सातवें दरजे तक केवल कताई-बुनाई के ज़रिये ही ज्ञान-विज्ञान की सैकड़ों बातें लड़कों को बताना नया तरीक़ा है जो बड़ा सफल भी हुआ है। कांग्रेस हुकूमतों ने गांधीजी के तालीमी काम को आगे बढ़ाया और आज 'वर्धा शिक्षा-योजना' के ढङ्ग की बहुत-सी तालीमी जमाअतें सामने आ रही हैं। अगले कुछ वर्षों में गांधीजी का तालीमी रचनात्मक कार्य इस मुल्क को एकदम बदल देगा, यह साफ़ नज़र आ रहा है।

इस तरह हम देखते हैं कि गांधीजी के रचनात्मक काम कोई एक दो नहीं हैं। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन के हर हिस्से में कुछ न कुछ इंकिलाबी काम किया है। उन्होंने लाखों करोड़ों आदमियों को असूलों पर मरना सिखाया है। लेकिन इससे भी ज्यादा अच्छा काम उन्होंने यह किया है कि उन्होंने लाखों करोड़ों को इंसान की तरह, भाई-भाई की तरह, अच्छी जिंदगी बसर करना सिखाया है। ६-७ करोड़ अछूतों को हिन्दुओं ने जानवर बना रखा है। इन अछूतों को बगावत करना गांधीजी ने ही सिखाया है। इन्हीं ६-७ करोड़ अछूतों में हमारे खेतिहर और मजदूर हैं। इन्हें जगाना कोई आसान काम नहीं था। जिस आदमी ने इस बड़े काम को किया, वह सिर्फ इसी काम के लिए हिन्दोस्तान की तारीख में अमर रहेगा। जब हिन्दोस्तान आज़ाद हो जायगा तो चालीस करोड़ आदमियों को जिंदगी बदलने का सवाल होगा। तब गांधीजी का रचनात्मक काम ही लोगों के लिए मशाल बनेगा।

आज गांधीजी नोआखाली में हैं। वे मुसलमानों के घर जाते हैं, मुसलमानों के साथ रहते हैं। एक गाँव से दूसरे गाँव वे पैदल चलकर जाते हैं और लोगों को भाई-भाई की तरह रहना सिखाते हैं। धर्म के नाम पर, मज़हब के नाम पर झगड़ना ठीक नहीं, यह गांधीजी चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं। हिंदोस्तान अगर जीता है, हिंदुस्तान अगर बड़ा बनता है, तो उसे प्रेम का पाठ पढ़ना होगा। घर-घर में चरखे होंगे। गाँव शहरों के मुहताज नहीं होंगे। नई तालीम आदमी को मोटा, खुदपरस्त और मठ्ठस नहीं बनायेगा। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद-भाव जाता रहेगा। इंसान इंसान को कुत्ता नहीं समझेगा। न कोई ऊँची जात का होगा, न कोई अछूत। चंडीदास ने कहा है—"हे मानुष भाई, तुम सबसे ऊपर हो, तुम सबसे बड़े हो। इससे बड़ी सच्चाई कोई दूसरी नहीं है।" आज गांधीजी इसी सच्चाई को आसमान से उतार कर धरती पर ला रहे हैं। गांधीजी बड़े हैं, इसमें कोई शक नहीं, परन्तु उनका रचनात्मक काम उनसे भी बड़ा है। वह दुनिया के एक चौथाई आदमियों को रामराज्य देगा, अपनी ताकत देगा, अपना सम्मान देगा। गांधीजी के रचनात्मक काम के रास्ते पर चल कर ही देश बड़ा हो सकता है। और कोई राह है ही नहीं।

२—हिन्दोस्तान

यों तो कहने को हिन्दुस्तान हमारा देश है, लेकिन हमें यह जानना है कि यह हिन्दोस्तान क्या है, इसकी हदें क्या हैं ? क्या यह सिर्फ़ उस ज़मीन के उस टुकड़े का नाम है जिसके उत्तर में हिमालय पहाड़ है, दक्खिन में समुद्र है, पूर्व में बर्मा का देश है और पश्चिम में ईरान-अफ़गानिस्तान ? या हिन्दोस्तान कोई ऐसी चीज़ है जो धरती के इस टुकड़े के बाहर भी हो सकती है ? आखिर जिन करोड़ों-करोड़ों आदमियों, मर्दों-औरतों को हम अपना समझते हैं, उनमें कौन-सी बात ऐसी है जो हमारी है। आखिर, यह 'हिन्दुस्तानी' सभ्यता क्या है ? हिन्दू-तहज़ीब, मुसलमान-तहज़ीब ये क्या हैं ? ये कुछ बड़े सवाल हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी नई किताब 'हिन्दुस्तान की कहानी' में इनका जवाब भी दिया है। सचमुच उन्हें बड़ी मेहनत से हिन्दुस्तान की खोज करनी पड़ी है।

आर्यों के आने से पहले हमारे मुल्क में क्या था, क्या नहीं था, यह कहना कठिन है। लेकिन यह सच है कि आर्यों और उनकी ज़बान संस्कृत ने इस धरती के टुकड़े को एक धागे में बाँध दिया। एक भाषा, एक धर्म, एक तहज़ीब ये बातें पहली बार हिन्दोस्तान को आर्यों ने ही दीं। रामायण और महाभारत में किसी एक दो राज्यों की कहानी नहीं है। इन बड़ी पोथियों में सारा हिन्दोस्तान एक डोर में गूँथ दिया गया है। राम की कहानी तो तुमने पढ़ी ही होगी। अयोध्या के राजकुमार राम सरयू नदी के किनारे खेल-कूद कर बड़े हुए, लेकिन उन्होंने गङ्गा-जमुना के पार, विंध्या-सतपुड़ा के पार गोदावरी नदी के किनारे अपनी कुटी बनाई और सारे दक्खिन के राजा उन्हें नायक मानने लगे। राम रावण की लड़ाई की कहानी इस बड़े देश के एक बनने की कहानी है। यह सतयुग का ज़माना था। फिर द्वापर का ज़माना आया। इस समय देश के पश्चिम दक्खिन के एक छोटे से कोने काठियावाड़ में राज करनेवाले भगवान् कृष्ण का रथ द्वारका से कुरुक्षेत्र तक दौड़ता और उनके पांचजन्य की पुकार पर देश के कोने-कोने से क्षत्री इकट्ठे हो गये थे। महाभारत में व्यास भगवान् ने इस भारत की ही बिनती की है—'हे भारत,

अब मैं तुम्हें भारत का कीर्तिगान सुनाता हूँ—वह भारत जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था, जो भारत ययाति, अम्बरीष, मानधाता, नहुष, मुचकुंद और औशीनर, शिवि को प्रिय था; ऋषभ, ऐक और नृग जिस भारत को प्यार करते थे, और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय ब्राह्मणों को प्यारा था। हे नरेन्द्र, उस दिव्य देश की कीर्ति कथा मैं तुम्हें सुनाऊँगा।" ऊपर के लिखान से यह साफ है कि हमारे पुराने ऋषि-मुनि इस देश के 'धर्मक्षेत्र' 'कर्मक्षेत्र' के रूप में एक मानते थे। आज भी हरेक हिन्दू संकल्प मंत्र पढ़ता है। इस मंत्र में जो सात नदियाँ बताई गई हैं (गंगा, जमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी) उनमें पूरा हिन्दुस्तान आ जाता है।

लेकिन हिन्दोस्तान हमेशा आर्यों का हिन्दोस्तान नहीं रह सका। बहुत-सी नई जातियाँ यहाँ आईं और सदा के लिए यहीं बस गईं। हूण, शक जैसी कितनी नई जातियाँ सदियों तक यहीं रह कर हिन्दुस्तानी बन गईं। यहीं जीना, यहीं मरना। उन्होंने हिन्दोस्तान का रहन-सहन, हिन्दुस्तान का रङ्ग-ढङ्ग अपना लिया। राजपूतों का ज़माना आया। मरकज़ी (केन्द्रीय) हुकूमतें चली गईं। छोटे-छोटे राज मकड़ी के जाले की तरह सारे देश में फैल गये। नतीजा यह हुआ कि लोग भूलने लगे कि यह हमारा मुल्क हिन्दोस्तान है। तब शङ्कराचार्य ने देश के चारों खूँटों पर चार मठ बनाये और कुंभ-माघ जैसे बड़े-बड़े मेले चलाये। इन मेलों के लिए काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के आदमी-औरत इकट्ठे होते थे।

इसके बाद मुसलमान आये। औरों की तरह ये लोग भी यहीं बस गये। यहीं शादी-विवाह किये, लेकिन और लोग बहुत दिनों तक राज नहीं कर सके थे। इसी से थोड़े समय तक तो वे अपने को जनता से अलग समझते रहे, फिर उसी में रस गये। मुसलमान आठ सौ नौ सौ वर्ष तक बराबर राजा रहे। इससे हिन्दुओं से वह अपने को अलग-थलग समझते रहे। मुल्क की जनता का एक बड़ा हिस्सा मुसलमान हो गया। लेकिन हिन्दू-मुसलमान साधु संतों ने उन्हें अच्छा पड़ोसी बनाये रखा। यह सब हुआ, लेकिन 'एक देश' 'एक

मुल्क—हिन्दोस्तान' की बात पीछे पड़ गई। धर्म की बात ऊपर हो गई। गदर के बाद मुल्क अँग्रेजों के हाथ में आ गया। रेलें बनीं। तार बिछे। सारा मुल्क एक हो गया। जिले, सूबे और अपने-अपने गाँव की जगह लोग इस सारे बड़े देश की बात सोचने लगे। १८८५ ई० में कांग्रेस का जन्म हुआ। इसी समय बङ्किमचन्द्र ने 'वन्देमातरम्' में फिर वेदव्यास की बात दुहराई। "सुजलम् सुफलम् शीतलम् श्यामलम् मातरम्" बङ्गमाता के रूप में भारतमाता की ही पूजा उन्होंने की। १९०५ ई० में बङ्गाल की पुकार पर हिन्दोस्तान के सब सूबे के आदमी एक होकर अँग्रेजों से लड़े। सब से बराबर हम एकराष्ट्र की ओर बढ़ रहे हैं। आज बङ्गाल, सिंधु, मद्रास, उड़ीसा, द्राविड़, उत्कल, मध्यहिन्द, पञ्जाब सब फिर एक जी, एक जान हो गये हैं। लेकिन बहुत-सी नई, फूट डालनेवाली आवाजें भी उठ खड़ी हुई हैं। पिछले दस वर्षों से मुस्लिम लीग और मिस्टर जिन्ना चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं—हमें एक मुल्क नहीं चाहिए। हम इस देश को दो हिस्सों में बाँट कर रहेंगे—एक 'हिन्दोस्तान' होगा, एक 'पाकिस्तान' होगा। उनका कहना है उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व में मुसलमान ज्यादा हैं। इससे इन हिस्सों को अलग कर दो। लेकिन ऐसा हुआ, तो ५००० वर्षों से एक बना चला आता हुआ यह देश कभी बड़ा बन सकेगा, इसमें भी शक है। धर्म के नाम पर आज हिन्दुस्तान, 'पाकिस्तान', तो कल 'सिखस्थान' 'बौद्धस्थान' न जाने कौन-कौन स्थान बन जायेंगे। आखिर, धर्म में ऐसी कौन बात है कि दो धर्मों के माननेवाले एक जगह नहीं रह सकते? रूस में बीसियों धर्म हैं। खुद इंगलिस्तान में कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट ईसाई फ़िरके हैं। धर्म तो आदमी के जानने की बात है। धर्म तो बदल सकता है। मुल्क तो बदल नहीं सकता। जो आज हिन्दू है वह कल मुसलमान बन सकता है, परसों ईसाई। आज वह हिन्दोस्तान में रहे, कल पाकिस्तान में, परसों ईसाईस्तान में, यह भी कोई बात रही।

हमारा यह बड़ा देश हिन्दोस्तान है। हम चाहे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान, इसी की मिट्टी से हम बने हैं, सदियों से चले आते इसी मुल्क के रहन-सहन को हमें अपनाना पड़ा है। गङ्गा-जमुना का पानी हिन्दू और मुसलमान दोनों की रगों में खून बनकर दौड़ रहा है। इस बड़े देश में जो

चालीस करोड़ मर्द-औरत रहते हैं, वे सब भाई-भाई हैं। ईश्वर ने सबको एक धरती पर, एक आसमान के नीचे, एक हवा में पैदा किया है, एक ही नदियों का जल और एक ही खेतों के अन्न से हमें बड़ा किया है। इस तरह कुदरत ने जिन्हें एक बनाया है, वह क्या कभी अलहदा हो सकते हैं? आज हम चालीस करोड़ बहन-भाई हां तो 'हिन्दुस्तानी' हैं। ये पहाड़, ये नदियाँ, ये जङ्गल, ये खेत, ये सब इसीलिए तो हमें सुन्दर लगते हैं कि हमारे चालीस करोड़ भाइयों का इनसे संबंध है। इन्हीं चालीस करोड़ बहन-भाइयों को हिन्दुस्तान मानकर हमें चलना है।

कुछ चुने हुए निबंध

१—आज़ादी

दोस्तों ने बार बार मुझ पर जोर डाला है कि मैं यह बताऊँ कि आज़ादी क्या है? बात के दोहराये जाने का डर होते हुए भी मुझे कहना चाहिए कि मैं तो रामराज्य का यानी दुनिया में ईश्वर के राज्य का ख्वाब देखता हूँ— यही आज़ादी है। स्वर्ग में यह राज्य कैसा होगा, सो मैं नहीं जानता। बहुत दूर की चीज़ जानने की मुझे इच्छा भी नहीं। अगर वर्तमान दिल को काफ़ी अच्छा लगता हो, तो भविष्य उससे बहुत अलग नहीं हो सकता।

इसलिए राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक यानी सियासी, माली और इख्लाक़ी, तीनों तरह की आज़ादी ही सच्ची आज़ादी है।

'राजनीतिक आज़ादी' का मतलब ही यह है कि मुल्क पर ब्रिटिश फ़ौजों की किसी भी शक्ल में कोई हुकूमत न रहे।

'आर्थिक या माली आज़ादी' का मतलब ब्रिटिश पूँजीपतियों और ब्रिटिश पूँजी के साथ ही उनके प्रतिरूप हिन्दुस्तानी पूँजीपतियों और उनकी पूँजी से क़तई छुटकारा पाना है। दूसरे लफ़्ज़ों में छोटे से छोटे आदमी को भी यह महसूस करना है कि वह बड़े से बड़े आदमी के बराबर है। यह तभी हो

सकता है जब पूँजीपति अपने हुनर और अपनी पूँजी में छोटे से छोटे और गरीब से गरीब को अपना हिस्सेदार बनालें।

'नैतिक आज़ादी' का मतलब मुल्क की हिफाजत के लिए रक्खी हुई हथियारबन्द फौजों से छुटकारा पाना है। रामराज्य की मेरी कल्पना मे ब्रिटिश फ़ौजी हुकूमत की जगह राष्ट्रीय फ़ौजी हुकूमत को बैठा देने की कोई गुञ्जाइश नहीं। जिस मुल्क में फ़ौजी हुकूमत होती है, फिर वह फौज मुल्क की अपनी ही क्यों न हो, वह मुल्क नैतिक दृष्टि से कभी आज़ाद नहीं हो सकता, और इसलिए उसके सबसे कमज़ोर कहे जाने वाले बाशिन्दे कभी पूरी तरह से नैतिक उन्नति नहीं कर सकते।

अगरचे यह दावा किया जाता है कि श्री चर्चिल ने ब्रिटिश के लिए लड़ाई जीती है, तो भी एक असल अहिंसावादी सुधारक के नुक्तेनिगाह से उन्होंने एबर्डीन की अपनी तक़रीर मे अक़्लमन्दी की बातें कही हैं। एक हथियारों से लैस सिपाही की तरह श्री चर्चिल भी जानते हैं कि हमारे ज़माने की पिछली दोनों लड़ाइयों से कितनी तबाही और बरबादी हुई है। अखबारों में उनकी तक़रीर का जो खुलासा छपा है, उसे मैं इसी पुस्तक में दूसरी जगह दे रहा हूँ। उनके भाषण से निराशावाद की जो गूँज उठती है, उसके खिलाफ़ मुझे जनता को सावधान कर देना चाहिए। कुछ भी नुकसान न होगा, अगर मनुष्य समाज लड़ाई की मुसीबतों से बचने के लिए उससे मुँह मोड़ ले। लोगों ने आखिरी बूँद तक अपना जो खून बहाया है, वह बेकार न हुआ होता, अगर उससे हम यह सीख जाते कि अच्छा या बुरा कैसा भी कारण क्यों न हो, हमें दूसरों का खून लेने के बजाय खुद अपना ही खून खुशी से देना चाहिये।

अगर विलायती वज़ीरों का मिशन स्वराज्य दे देता है, तो हिन्दुस्तान को यह तय करना पड़ेगा कि क्या एक फौज़ी राष्ट्र बनने की कोशिश में वह कम से कम कुछ सालों के लिए, दुनिया में पाँचवें दर्जे की ताक़त बना रहना चाहेगा और इस तरह जिस निराशावाद का ज़िक हुआ है उसके जवाब में वह दुनिया को आशा का कोई संदेशा न देगा, या अपनी अहिंसा को और भी सँवार कर वह अपने को दुनिया का सबसे पहला राष्ट्र बनने के लायक़ साबित करेगा और बड़ी मुश्किलों से हासिल की हुई अपनी आज़ादी का इस्तेमाल दुनिया के

सिर से उस बोझ को उतारने में करेगा जो लड़ाई में हासिल की गई जीत के बावजूद उसे पीस रहा है ?

—मोहनदास करमचंद गांधी

२—खोया स्वर्ग

बाल्मीकि-मन्दिर में मेरे कमरे के पिछले हिस्से में एक छोटी-सी खिड़की थी, जो मैदान में खुलती थी। वहाँ लाल चट्टान और सूखी घास दोनों एक टीला-सा बनाये हुए थे, जिसके उस पार दूर तक फैले हुए आसमान के अलावा और कुछ नज़र नहीं आता था। जिससे और बापू की बकरियों की खामोशी भरी सोहबत से मुझे बराबर आराम मिला करता। उन बकरियों को मेरी खिड़की के नीचे आकर खड़े होने की आदत-सी पड़ गई थी।

जब मैं छोटी बच्ची थी तो अपने बाबा के देहातवाले मकान में रहती थी। उन दिनों मेरी आया मुझे तीन अलग-अलग रास्तों पर घुमाने ले जाती थी। एक रास्ता शहर को जाता था, दूसरा गाँव को और तीसरा खेत और देहात की पगडण्डी से होता हुआ पहाड़ियों को जाता था। वहाँ चिड़ियाँ गाती थीं और जंगली फूल खिले रहते थे। जब कभी मेरी आया मुझसे पूछती कि मैं किस ओर जाना पसन्द करूँगी, तो मैं हर बार एक ही जवाब देती—'पगडण्डी पर से पहाड़ी पर'। मेरे लिए वह खुशी और खूबसूरती की दुनिया थी। इसके पचास साल बाद यहाँ दिल्ली की भंगी बस्ती में वह पगडण्डी और पहाड़ी तो नहीं थी, लेकिन उसकी शकल उस देहात से मिलती-जुलती जरूर थी। यही वजह थी कि मेरा दिल उस बड़े शहर के गर्दोगुबार से दूर उस छोटी खिड़की की राह बाहर झाँका करता था।

मेरे यहाँ ठहरने के आखिरी दिन मुझे कुछ जरूरी सामान खरीदने के लिए चाँदनी चौक जाना पड़ा। वहाँ मुझे लगा, जैसे चारों ओर से मेरी तमाम इन्द्रियों पर चोटें पड़ रही हों। सवारियों का शोर गुल और तीखी आवाजें कानों के पर्दे फाड़े डालती थीं, गन्दगी और बदसूरती आँखों को चोट पहुँचाती थी, और बदबू से दम घुटा जाता था। सबसे बुरी चीज़, लोगों

के वे चेहरे थे, जिन पर उनके दिल और दिमाग़ का बोथरापन और कठोरता उभर आये थे।

इसे तहज़ीब कहते हैं। इस पर अँगुली उठाना ज़माने को पीछे ले जाना कहा जाता है। चाँदनी चौक कोई गन्दी गली नहीं है। वह एक बड़ा बाज़ार है; और ख़रीद-फ़रोख्त की ख़ास जगह है।

उस दिन शाम को मैंने देहरादून की गाड़ी पकड़ी। सबेरे जब मैंने डिब्बे की खिड़की से बाहर झाँका, तो मुझे लगा जैसे बहिश्त या स्वर्ग मेरे सामने फैला पड़ा हो। ताज़ी और साफ़ हवा, शरद ऋतु की ख़ूबसूरती, और तिस पर एक झरना, जो अपने साफ़ पानी को लिये नाचता और चमकता हुआ चट्टानों पर से दौड़ा जा रहा था। झरने के दोनों किनारे फूलों से लदी झाड़ियों और ऊँची परदार घास से रोशन थे। जंगल एक चौड़ी घाटी में ख़त्म होता था। पूरब के पहाड़ों पर सूरज निकल आया था और सुनहरी रोशनी की चमचमाहट में गंगाजी दिखाई पड़ती थीं, जो हरद्वार की ओर अपना पाक रास्ता तय कर रही थीं। मेरा दिल पखेरुओं के साथ ही ख़ुदा का शुक्रगुज़ार होकर एकबारगी गा उठा।

फिर मैंने शहरों में रहनेवाले उन शहरियों के बारे में सोचा, जो अपने डरावने ख्याल से घिरे रहते हैं। क्या वे ऐसी मंज़िल पर पहुँच गये हैं, जहाँ उन्हें इन ख़ूबसूरत नज़ारों के बजाय शहरी गन्दगी ही ज़्यादा पसन्द आती है? क्या उनकी आँखों में वह ताक़त नहीं रही, जिससे वे क़ुदरत में ख़ुदा का नूर देख सकें? क्या उनके कान इतने ख़राब हो गये हैं कि ख़ामोशी की आवाज़ सुननी तो दूर रही, वे चिड़ियों के गाने तक नहीं सुन पाते? और उनकी नाक? क्या वह पहाड़ों की ताज़ी हवा लेने के बजाय शहरी बदबू में ही मशग़ूल रहती है? मैंने अपने साथ सफ़र करनेवाले मुसाफ़िरों पर नज़र डाली। वे दो पढ़े-लिखे नौजवान थे। एक किताब में डूबा हुआ था, और दूसरा एक कोने में सटा हुआ सिगार पी रहा था। मैंने सोचा, जब ये लोग मसूरी पहुँचेंगे तो सिनेमा की तलाश में निकलेंगे और वहाँ पर्दे पर चमकते हुए परदेशी दृश्य देखेंगे और गंदे गाने सुनेंगे। उनकी नज़र केदार की शानदार बर्फ़ीली चोटियों की तरफ़ अदब से कभी नहीं झुकेगी और न

वे चीड़ के खुशबूदार जंगलों में भटकने वाली हवा की आवाज़ ही सुन सकेंगे।

नये ज़माने के आदमी की इस हालत पर मुझे अफसोस होता है। वह एक भयानक बीमारी का शिकार है, लेकिन उस बीमारी में वह खुशियाँ मनाता है, और उसे उन्नति, तहज़ीब और इल्म का नाम देता है।

—मीरा बहन

२—गाँधीजी

जो लोग गांधीजी को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते और जिन्होंने सिर्फ़ उनके लेखों को ही पढ़ा है वे अक्सर यह सोच बैठते हैं कि गाँधीजी किसी धर्मोपदेशक की भाँति नीरस, शुष्क और मनहूसियत फैला देनेवाले व्यक्ति हैं। लेकिन गांधीजी के लेख गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं। वह जो कुछ लिखते हैं उससे वह कहीं ज्यादा बड़े हैं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा है उद्धृत करके उनकी आलोचना करने बैठ जाने से उनके साथ पूरी तरह इन्साफ़ नहीं किया जा सकता। धर्मोपासकों के रास्ते से उनका रास्ता बिलकुल जुदा है। उनकी मुसकराहट आह्लादकारक होती है। उनकी हँसी सबको हँसा देती है और वह विनोद की एक लहर बहा देते हैं। उनमें भोले बच्चों की सी कुछ ऐसी बात है जो मोह लेनेवाली है। जब वह किसी कमरे में पैर रखते हैं, तो अपने साथ एक ऐसी ताजी हवा का झोंका लेते आते हैं जो वहाँ के वातावरण को आमोदित कर देता है।

वह उलझनों के एक असाधारण नमूने हैं। मेरा ख़याल है कि सभी असाधारण पुरुष, कुछ-न-कुछ हद तक, ऐसे ही होते हैं। बरसों इस पेचीदा सवाल ने मुझे परेशान किया है कि यह क्या बात है कि गांधीजी पीड़ितों के लिए इतना प्रेम और उनकी भलाई का इतना ख़याल रखते हुए भी ऐसी प्रणाली का समर्थन करते हैं जो लाज़िमी तौर पर पीड़ितों को पैदा करती है और फिर उन्हें कुचलती है। और यह क्या बात है कि एक तरफ तो वह अहिंसा के ऐसे अनन्य उपासक हैं, और दूसरी तरफ एक ऐसे राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में हैं जो सोलहो आने हिंसा और बलात्कार पर ही टिका हुआ है।

शायद यह कहना सही नहीं होगा कि वह ऐसी प्रणाली के पक्ष में हैं। वह तो क्रम-बद्ध एक दार्शनिक अराजक हैं। लेकिन अराजकों का आदर्श एक तो अभी बहुत दूर है और हम आसानी से उसका कयास भी नहीं कर सकते; इसलिए वह मौजूदा अवस्था को मंजूर करते हैं। मेरा ख्याल है कि परिवर्तन किन साधनों से किये जायँ, इसपर उन्हें उतनी आपत्ति नहीं है जितनी हिंसा के उपयोग पर आपत्ति है। वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए किन जरियों से काम लेना चाहिए इस सवाल को छोड़कर हम एक ऐसे आदर्श ध्येय को अपनी आँखों के सामने रख सकते हैं, जिसको दूर भविष्य में नहीं, निकट भविष्य में ही, पूरा कर लेना हमारे लिए मुमकिन है।

कभी-कभी वह अपने को समाजवादी भी कहते हैं; लेकिन वह समाजवाद शब्द का प्रयोग एक ऐसे अनोखे अर्थ में कहते हैं जो खुद उनका अपना लगाया हुआ है और जिसका उस आर्थिक ढाँचे से कोई सरोकार नहीं है, जो आम तौर पर समाजवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनकी देखा-देखी कुछ प्रसिद्ध कांग्रेसी भी समाजवादी शब्द का इस्तेमाल करने लगे हैं, लेकिन उस समाजवाद से उनका मतलब मनुष्य-समाज की एक किस्म की गोल-मटोल सेवा से होता है। इस गोल-मटोल राजनैतिक शब्दावली का गलत प्रयोग करने में प्रसिद्ध व्यक्ति उनके साथ हैं क्योंकि वे सब तो सिर्फ ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मंत्री की मिसाल पर ही चल रहे हैं। मैं यह जानता हूँ कि गांधीजी समाजवाद से अपरिचित नहीं हैं क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजवाद और मार्क्सवाद पर भी बहुत सी किताबें पढ़ी हैं और इन विषयों पर दूसरों के साथ वाद-विवाद भी किया है लेकिन मेरे मन में यह विश्वास घर करता जाता है कि अत्यन्त महत्व के मामले में अकेला दिमाग हमें ज्यादा दूर तक नहीं ले जाता। विलियम जेम्स ने कहा है—"अगर आपका दिल नहीं चाहता तो इत्मीनान रखिए कि आपका दिमाग आपको कभी भी विश्वास नहीं करने देगा" हमारी भावनाएँ हमारे सामान्य दृष्टिकोण पर शासन करती हैं और दिमाग को अपने काबू में रखती हैं। हमारी बातचीत फिर चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक या आर्थिक, वस्तुतः हमारी भावनाओं पर या मन की प्रवृत्तियों पर ही निर्भर रहती है। शोपेनहर ने कहा है—"मनुष्य जिस बात का संकल्प करे

उसे वह पूरा कर सकता है, लेकिन वह जिस बात का सङ्कल्प करना चाहे उसका सकल्प नहीं कर सकता।"

दक्षिण अफ्रीका में शुरू के दिनों में गांधीजी को बहुत जबरदस्त तकलीफ हुई। इससे जीवन के बारे में उनकी सारी विचार-दृष्टि बदल गई। तब से उन्होंने अपने सभी विचारों के लिए एक आधार बना लिया है और अब वह किसी सवाल पर उस आधार से हट कर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं कर सकते। जो लोग उन्हें नई बातें सुनाते हैं, उनकी बातें वह बड़े धीरज और ध्यान से सुनते हैं; लेकिन इस नम्रता और दिलचस्पी के बावजूद उनसे बातें करनेवाले के मन पर यह असर पड़ता है कि मैं एक चट्टान से टकरा रहा हूँ। कुछ विचारों पर उनकी ऐसी दृढ़ आस्था बँध गई है कि और सब बातें उन्हें महत्त्व-शून्य मालूम होती हैं। उनकी राय में दूसरी और गौण बातों पर जोर देने से मुख्य योजना से ध्यान हट जायगा और उसका रूप विकृत हो जायगा। अगर हम अपनी आस्था पर दृढ़ रहें तो अन्य सभी बातें जरूरी तौर पर अपने आप उचित रीति से ठीक हो जायँगी। अगर हमारे साधन ठीक हैं तो साध्य भी अनिवार्य रूप से ठीक होगा।

मेरे ख्याल से उनके विचारों का आधार यही है।

पत्र-लेखन

१—हम पत्र क्यों लिखते हैं?

पत्र लिखने के पीछे दो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं :

(क) मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने दुख-सुख हर्ष-विषाद को दूसरे पर प्रगट करना चाहता है। ऐसा करने भर से उसे एक प्रकार का संतोष मिलता है।

(ख) उसमें जिज्ञासा का भाव रहता है। वह और-और व्यक्तियों के दुख-

सुख के संबंध में जानना चाहता है। समाज में रहने के कारण अनेक व्यक्तियों से उसके अनेक सम्बंध हो जाते हैं। वह किसी का पुत्र होता है, किसी का भाई, किसी का पिता। उसके मित्र होते हैं। उसकी पत्नी होती है। वह अपने इन सम्बंधियों के अधिक निकट आना चाहता है।

इन दोनों प्रवृत्तियों के कारण विभिन्न मनुष्यों के व्यक्तित्वों में आदान-प्रदान चलता रहता है। यदि दो मनुष्य पास हुए तो वे बातचीत से, मुद्राओं से और दूसरे के लिए कुछ काम करके एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। यदि वे दूर हैं तो अंतिम दो बातें नहीं हो सकतीं। वे केवल अपनी बात लिपिबद्ध करके एक-दूसरे के पास भेज सकते हैं। यह पत्र द्वारा।

२—पत्र लिखना कला है। किसी भी चीज़ के कलापूर्ण होने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें कलाकार के व्यक्तित्व का प्रदर्शन हो सके। पत्र-लेखन में इसके लिए काफ़ी स्थान है। व्यक्तिगत पत्रों में कला का सन्निवेश बड़ी सुन्दरता से हो सकता है। महापुरुषों और महान् लेखकों के पत्रों के पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है। वे अपने सबसे स्वाभाविक रूप में उनके द्वारा प्रकट होते हैं।

३—कूपर ने किसी की प्रशंसा में लिखा है—"तुम्हारा पत्र पढ़ता हूँ तो लगता है जैसे तुम्हें बोलता हुआ सुन रहा हूँ।" सच तो यह है कि किसी भी पत्रलेखक की इससे बढ़कर प्रशंसा नहीं हो सकती। पत्र लिखते समय कोई बनावट न हो। किसी तरह की शंका न हो। ऐसा लगे, तुम सामने बैठे हुए बोल रहे हो। वाक्यों की बनावट इस ढङ्ग की हो कि जिसने एक बार तुम्हें बोलते हुए सुना है वह उसके सहारे तुम्हारी मुख-मुद्रा और अङ्गों की चेष्टा का भी अनुमान कर सके। काग़ज़ पर दिल की तस्वीर उतर आये। कहीं भी थोड़ा-सा पेचीदा-पन न हो; कहीं भी विचारों में गुत्थी न पड़ने पाये।

४—मोटे रूप से पत्रों के दो भेद कर सकते हैं :—

(क) व्यक्तिगत पत्र—इस वर्ग में सम्बन्धियों और मित्रों आदि को लिखे पत्र और निमंत्रण-पत्र आते हैं।

(ख) व्यापारिक पत्र—इनमें प्रार्थना-पत्र, काम-काजी पत्र, दफ़्तरी पत्र, समाचार पत्रों को लिखे हुए पत्र और इसी तरह के वे अनेक पत्र आते हैं जिनमें लेखक का व्यक्तिगत सम्बन्ध प्रकट नहीं होता।

५—साधारणतः पत्र के चार भाग होते हैं :—

(क) प्रारम्भिक भाग (आदि)।

इसमें लेखक का अपना पता रहता है। व्यापारिक पत्रों में प्रेषक के साथ प्रेष्य का पता भी रहता है और वह भी उसी भाग में आता है।

(ख) मध्य भाग (मध्य)।

यह पत्र का मुख्य भाग होता है जिसमें लेखक का आशय रहता है। इसके भी तीन भाग किए जा सकते हैं। पहले भाग में सम्बोधन और कुशल-क्षेम, दूसरे में प्रधान आशय; तीसरे में किसी कामना या इच्छा अथवा प्रार्थना के साथ समाप्त।

(ग) अंतिम भाग (अंत)।

इसमें लेखक का नाम रहता है। कभी-कभी 'पुनश्च' भी जुड़ा होता है।

(घ) इसका सम्बन्ध लिफाफे से है। यह लिफ़ाफ़े या पोस्टकार्ड के एक कोने में लिखा हुआ पता होता है।

६—व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले जो पत्र होते हैं उनमें आशय को स्पष्ट करने के लिए उसे शीर्षक रूप में पत्र के प्रारम्भ में दे देते हैं।

७—नीचे व्यापारिक पत्र का ढाँचा दिया जा रहा। इसमें शीर्षक और प्रेष्य का नाम और पता निकाल देने पर यही ढाँचा व्यक्तिगत पत्रों के लिए भी काम में आ सकता है।

शीर्षक के रूप में आशय—

तिथि
प्रेषक का पता

प्रेष्य का नाम
पता
संबोधन

प्रारम्भ
मध्य
अंत

आप का
हस्ताक्षर

श्री० राजकुमार जी बी० ए०
४, मछली टोला,
कलकत्ता

देवदत्त शर्मा,
कानपुर

८—पत्र के सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक बातें :—

(क) पत्र पर तिथि लिखने के बहुत से ढंग प्रचलित हैं। यों साधारणतः ढङ्ग पर ईसा-संवत् लिखा जाता है परन्तु कितने ही लोग अपने यहाँ के

विक्रमी, शाका, तुलसी या ऐसे ही दूसरे कितने संवत् प्रयोग में लाते हैं। लिखने के ढङ्ग भी अनेक हैं।

हमारी समझ में यह अच्छा हो, यदि तिथि को पूरा लिखा जाए, फिर चाहे पत्र व्यवहार से सम्बन्ध रखता हो या किसी निकट के सम्बन्धी के लिए हो। इस तरह लिखिए—

(१) जुलाई १५, १९३७ या (२) ३री अप्रैल, १९३८। बहुधा ऐसा होता है कि लोग जल्दी में संक्षेप में भी लिख देते हैं।

(१) २३/८/३७

या (२) २३—८—३७

विद्यार्थियों को चाहिये कि ये ढङ्ग नहीं अपनाएँ।

(ख) जैसा हम ऊपर बता आए हैं, व्यक्तिगत पत्रों में ऊपर उस व्यक्ति का पता नहीं लिखा जाता जिसे पत्र लिखा गया है। हाँ, यदि थोड़ी ही जान-पहचान हो तो लिख सकते हो परंतु गहरी जान-पहचान में यह बात भद्दी और अनावश्यक हो जाती है। जो पत्र बिलकुल आपसी ढंग के हों, उनके नीचे पत्र की बायीं ओर एक कोने में मित्र या परिचित का पता लिख सकते हो।

(ग) प्रशस्ति और निवेदन।

प्रष्य	प्रशस्ति	निवेदन
(१) उन संबंधियों को जो अपने से बड़े हों	मान्यवर पूज्यवर परम पूज्य श्री पूज्य (इन विशेषणों के बाद बड़ों का नाता दिया है जैसे पूज्य गुरु देव पूज्यनीया माता जी)	आज्ञाकारी स्नेहभाजन कृपाकांक्षी सेवक

प्रेष्य	प्रशस्ति	निवेदन
(१) उन सम्बन्धियों को जो अपने से छोटे हों	चिरंजीवी प्रिय	तुम्हारा हितैषी शुभचिन्तक
(३) बराबर वाले—मित्रों आदि को	प्रियवर प्रिय	तुम्हारा मित्र, सुहृद (या केवल तुम्हारा लिख कर छोड़ दो)
(४) परिचितों को	प्रिय (आगे पूरा नाम या गुप्ता जी, ठाकुर साहब के ढङ्ग पर)	आपका (आगे अपना पूरा नाम लिखो)
(५) अपरिचितों को	महाशय या प्रिय महाशय, श्रीमान्	आपका (पूरा नाम लिखो)
(६) स्त्रियों को यदि वे तुम्हारी सम्बन्धी न हों	महोदया	,,

(घ) १— इस तरह प्रारम्भ करो—

(१) आपका पत्र पाकर मुझे हार्दिक हर्ष हुआ।
(२) मुझे अभी आपका स्नेहपूर्ण पत्र मिला है।
(३) आपने अपने पत्र में लिखा है—
(४) तुम अच्छे तो हो—

या पत्र में कोई बात पूछी हो तो सीधे उसी के सम्बन्ध में कुछ लिखो। यही अंतिम बात अधिक अच्छी होगी। इससे पत्र पढ़नेवाले को तकल्लुफ़ की बू भी नहीं आवेगी और आपका पत्र भी मनोरंजक होगा। पहले यह देख लो कि तुम्हारा प्रधान विषय क्या रहेगा, फिर उसके अनुरूप भूमिका बना डालो।

२—(१) पत्र के मध्य का भाग बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें तुम जिस भाषा का प्रयोग करो वह सीधी-सादी हो, उसमें बनावट नहीं जान पड़े

और उसमें लिखनेवाले का व्यक्तित्व प्रगट हो रहा हो। पत्र पढ़ते ही जान पड़े, वह कैसा आदमी है? गम्भीर है, हँसमुख है, छिछला है, क्या है?

(२) अलङ्कारिकता को पत्र में स्थान नहीं मिलना चाहिये।

(३) जो तुम्हें लिखना हो, उसे पहले अपने दिमाग़ में सुलझा लो। अच्छा हो यदि तुम एक अलग परचे पर संक्षेप में उन बातों को लिख लो जिनको तुम पत्र में विस्तृत रूप से दोगे। फिर लिखना शुरू करो और जैसे तुम पत्र लिखने वाले के सामने बैठे अपनी बात उससे कह रहे हो, उस तरह बात करते जाओ।

३—अंत का पद कुछ इस प्रकार लिखा जा सकता है:—

(१) धन्यवाद के साथ, आपका—

(२) मेरी शुभाकांक्षा आपके साथ है—

पत्र के अंत में प्रेष्य के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछना या उसकी कुशल-कामना प्रगट करना ठीक नहीं है। हाँ, यदि कुछ ऐसी परिस्थिति हो जिसमें यह प्रश्न पूछना आवश्यक हो जैसे जिसे पत्र लिख रहे हो, वह बीमार हो या निकट भूत में अस्वस्थ रह चुका है, तो और बात है। सीधे-सादे ढङ्ग पर पत्र का अंत करना अधिक स्वाभाविक होगा।

६—ऊपर जो पत्र लिखने का ढङ्ग हमने बताया है वह नवीन प्रणाली के अनुसार है। पुरानी प्रणाली संस्कृतज्ञों और पुरानी पीढ़ी के पंडितों में आज भी चल रही है। इसलिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी उसके संबंध में अनभिज्ञ न रहे।

प्राचीन प्रणाली के अनुसार पत्र लिखने में सबसे आरम्भ में किसी देवता या ईश्वर को नमस्कार लिखा जाता है। ऐसे पत्रों में आप पत्र के ऊपर बीच में श्री गणेशायनमः; श्री रामायनमः जैसा लिखा देखेंगे।

प्रशस्ति में स्वस्ति श्री या सिद्धि श्री का प्रयोग होता है। फिर बहुत पुरानी परिपाटी के नियमानुसार कोई अंक रहता है। गुरु को ६, बड़े को ५, शत्रु को ४, मित्र या बराबर वाले को ३, नौकर को २, और पुत्र, स्त्री तथा छोटे को १ का अंक लिखो। इसके बाद 'शुभस्थान प्रयोग' के रूप में

उस स्थान का नाम लिखा जाता है जहाँ पत्र भेजा जा रहा हो। तदनंतर किसी प्रशंसा-सूचक विशेषण के साथ संबंध का नाम लिखा जाता है। अनेक विशेषण हैं और उनमें से अधिक समासों के रूप में भी चलते हैं। किस नाते के साथ किस विशेषण का प्रयोग हो, इसकी बड़ी सूक्ष्म व्यवस्था है।

फिर प्रणाम और कुशल-सूचना के बाद पत्र का प्रधान भाग रहता है। 'अत्र कुशलम् तत्रास्तु' जैसे संस्कृत के प्रयोग भी रहते हैं। पत्र की समाप्ति पर 'इतिशुभम्' और मिती रहती है।

१०—समाचार पत्रों को लिखे हुए पत्र—

ये पत्र संपादक के नाम लिखे जाने चाहिए। संबोधन 'श्रीमान्' या 'महाशय' हो, 'प्रिय महाशय' नहीं।

अंत में 'आपका विश्वासी' या 'भवदीय' या केवल 'आपका' रह सकता है। यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के पत्रों में नाम अवश्य रहे, विशेष कर यदि पत्र प्रकाशन के लिए हो। कोई भी पत्र-संपादक अपने ऊपर जिम्मेवारी लेना पसंद नहीं करेगा। यह हो सकता है कि आप अपना उपनाम देना चाहें (जैसे "एक दर्शक", "एक सम्बन्धी", "लखनऊ का नागरिक," "जानकार" आदि)। ऐसी दशा में अपने पूरे पते को अन्त में बायीं ओर थोड़ी जगह देकर साफ़ अक्षरों में लिख दीजिए।

बाढ़ के सम्बन्ध में

सम्पादक 'भारत',
प्रयाग

महाशय,

मैं अभी-अभी बाढ़ के क्षेत्र से लौट रहा हूँ। मैंने वहाँ की परिस्थिति का पूरी तरह अध्ययन किया है और मैं चाहता हूँ कि आपके पत्र के द्वारा जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित करूँ।

आपके पत्र में बाढ़ के सम्बन्ध के समाचार बराबर छपते रहे हैं परन्तु इस प्रकार की सूचना की अपनी सीमाएँ हैं। मैं अपनी आँखों देखी बात कहता

हूँ। इस समय प्रान्त का पूर्वी भाग लगभग सारा जलमग्न हो रहा है। गंडक घाँघरा, सोन और गंगा में बाढ़ आई हुई है। अब तक सैकड़ों गाँव डूब गए हैं और हज़ारों मवेशी बह रहे हैं। सूबे के पिछले बारह वर्ष के इतिहास में वर्षा कभी भी इतनी अधिक नहीं हुई और न इतनी बड़ी बाढ़ आई। फ़सलें नष्ट हो गई हैं। चारा बह गया है। फलतः मनुष्यों और उनके ढोर-डंगोर के पास खाने के लिए कुछ भी नहीं है। मैंने देखा है कि स्थान-स्थान पर लोग टीलों पर आश्रय ले रहे थे। उनके चारों ओर पानी है और वे एक तरह से क़ैद हैं। जहाँ-जहाँ ज़मीन ऊँची थी वहाँ-वहाँ टापू बन गए हैं। यह आवश्यक है कि उन्हें ठीक-ठीक समय पर रसद पहुँचाई जाए और उनको वहाँ से अधिक सुरक्षित स्थानों में हटाने का प्रयत्न किया जाय।

बाढ़ में सबसे अधिक हानि किसानों की हुई है। अब इनके पास अपने तन के चीथड़े ही रह गए हैं। गोरखपुर ज़िले की परिस्थिति बड़ी करुणोत्पादक है। मैंने गाँव के गाँव को पेड़ों के नीचे रात काटते हुए देखा है। ज़रूर है कि सरकार, कांग्रेस और दूसरी संस्थाएँ सहायता का कार्य कर रही हैं परन्तु बाढ़ के व्यापक क्षेत्र को देखते हुए यह आवश्यक है कि साधारण जनता भी सामने आये। अभी तो अनाज और वस्त्र की बड़ी आवश्यकता है। जब बाढ़ उतर जाएगी तो गाँवों को फिर बसाना पड़ेगा और किसानों को हल-बैल के लिए रुपया बाँटना होगा। इस तरह न जाने कितना रुपया खप जायगा।

मैं आशा करता हूँ कि आप अपने पत्र में 'बाढ़-फण्ड' के नाम से एक फण्ड खोलने की अपील करेंगे। इस फण्ड में वह सब कुछ स्वीकार हो जो जनता दे सके। धन हो, वस्त्र हो या अनाज-दाना हो। बाढ़ की भीषणता को देखते हुए इस काम को सरकार या कुछ संस्थाओं को सौंप कर निश्चिंत होकर नहीं बैठा जा सकता।

प्रयाग,
२८ अगस्त, '३५

आपका
ज्ञानचन्द्र गोयल
एडवोकेट

जीवन-चरित्रों के पढ़ने से लाभ

छोटे भाई को

२८, दारागंज, प्रयाग
१७ जुलाई, १९३७

प्रिय रमेश,

तुम तो जानते ही होगे २५ जुलाई तुम्हारी वर्षगाँठ का दिन है ? पिताजी ने इस संबंध में मुझे लिखा है। वैसे ही मैं इस अवसर को भूल नहीं सकता। यदि मैं तुम्हारे साथ होता तो कैसा अच्छा होता। फिर मैंने सोचा कि मैं इस अवसर पर तुम्हें क्या उपहार दूँ। सचमुच दुनिया भर की चीज़ें सामने आ जाती हैं। पर उनमें से कौन तुम्हारे लिए चुनी जाए ? याद है, पारसाल मैंने तुम्हें क्या दिया था ? हाँ, तब मैं घर पर तुम्हारे बीच में ही था। मैंने जगदीश से कह कर तुम्हारे लिए छोटी-सी हरक्यूलिश मँगा दी थी।

पर अब तुम्हारे पास घड़ी भी है, साइकिल भी है, खेल का सामान भी है। तुम अपनी सुविधा के लिए जो चाहोगे वह बापू जी मँगा देंगे। फिर अब तुम सातवीं कक्षा में पढ़ रहे हो। इन चीज़ों से ज्यादा जरूरी चीज़ें तुम्हें मिलनी चाहिए। ऐसी चीज़ें जो तुम्हारा मनोरंजन करें, तुम्हारे ज्ञान की वृद्धि करें और साथ ही चरित्र-निर्माण में सहायता दें। तो मैंने निश्चय किया है कि इधर कुछ वर्ष मैं तुम्हें ऐसे पुस्तकें दूँ जो तुम स्कूल से बचे हुए समय में पढ़ सको और जो तुम्हें अच्छी लगें। इस वर्ष मैं तुम्हें दस महापुरुषों के जीवन-चरित्र भेज रहा हूँ।

पुस्तकें तुम्हारे पास वर्षगाँठ के दिन तक पहुँच जाएँगी और जब उस दिन की चहल-पहल से छुट्टी पा जाओ तो उन्हें पढ़ जाना। धीरे-धीरे पढ़ना। काफ़ी समझदारी से। इस तरह पाठ कई महीने चल सकेगा।

इनमें से कई महापुरुषों को तुम ज़रूर जानते होगे। हाँ, मेरा मतलब यह है, तुमने उनका नाम सुना होगा और कुछ और भी सुन लिया हो। इनके चरित्रों के पढ़ने से तुम्हें यह पता चलेगा कि मनुष्य को यश कितने परिश्रम के बाद मिलता है। इन महापुरुषों में से बहुत से ऐसे हैं जो ऊँचे और अमीर घराने में नहीं पैदा हुए। उनका बचपन बड़ी कठिनाई में कटा।

उनके पास न घड़ी थी, न साइकिल और शायद पुस्तकें भी पूरी नहीं थीं। इस संबंध में तुम कदाचित् इनसे अधिक सौभाग्यशाली हो। फिर इन्होंने किस कड़े परिश्रम से काम किया; रात को रात न देखी; दिन का दिन न देखा; इन्होंने वर्षों परिश्रम किया। लोगों ने इन्हें ठीक नहीं समझा परन्तु यह फिर भी संतोष से बढ़ते गए। उनके साथी आराम से चादर ताने सोते थे, वे मिट्टी का दिया बाल कर उसके उजाले में पढ़ते-लिखते थे। इन पुस्तकों में एक इब्राहीम लिंकन के सम्बन्ध में है। इसने सूखी पत्तियाँ जला कर उनकी रोशनी में और म्यूनिस्पल्टी के लैम्प के नीचे पढ़ा था। इनमें एक जब लड़का था तो पेट पालने के लिए कपड़े की कल में नौकर हो गया था। वहाँ वह सूत को सुलझाता जाता और लेटिन शब्दों के रूप याद करता जाता।

तो तुम देखते हो, मैंने यह पुस्तकें तुम्हारे लिए क्यों छाँटी हैं? मैं चाहता हूँ, तुम भी उन लोगों की तरह बनो, जिनकी पुस्तकें तुम पढ़ोगे। वे ऐसे कैसे बने? परिश्रम से। परन्तु परिश्रम ही सब कुछ नहीं है। उनमें और भी कई सुन्दर गुण थे। एक तो यह कि वे जिस बात को सच समझ लेते उस पर अटल रहते। कठिन से कठिन परिस्थितियों में उनका निश्चय नहीं डिगता। देखो, मैं एक उदाहरण दूँ—कोलम्बस के सिर में यह पागलपन समाया कि दुनिया जब गोल है तो उसका चक्कर लगाया जा सकता है। वह वर्षों इसी फेर में पड़ा रहा। कई देशों की सरकारों से मिला। फल तब निकला जब उसकी जवानी बुझने लगी थी। परन्तु वह जहाज़ी बेड़ा लेकर चल खड़ा हुआ। उस समय के जहाज़ हवा के बल पर चलते थे। आठ दिन का सफ़र महीनों में तय करते। उसके साथी ऊब गए। उनके दिल में हलचल पैदा हुई। परन्तु साहसी कोलम्बस गाली खाता हुआ भी काम करता गया। तब एक दिन उसके साथियों ने सोचा—पागल है, इसे बाँध कर जहाज़ के एक कोने में डालो और घर लौटो। किंतु आज उस तरफ़ एक बड़ी दुनिया है जिसे अमरीका कहते हैं। यदि कोलम्बस साहस छोड़ देता तो?

हमें इन महापुरुषों की जीवनियों के पढ़ने से यह शिक्षा मिलती है कि जिस काम में लगें उसमें जी-जान लगा दें। नेपोलियन ने कहा था—असंभव

शब्द मूर्खों के कोष में मिलता है। इन पुस्तकों से तुम्हें इस उक्ति की सत्यता का पता लगेगा।

वर्षगांठ के अवसर के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। माँ से कहना मैं इस अवसर पर घर रहना कितना चाहता था पर ऐसा नहीं हो सका।

तुम्हारा भाई
सतीश

विद्यार्थी जीवन के सम्बन्ध में

पिता का पत्र पुत्र के नाम

२४, किसरौल
मुरादाबाद

चिरंजीव प्रकाश,

जब मैं तुमसे अलग होने लगा था, तो मैंने तुमसे कहा था, मैं तुम्हें बराबर पत्र लिखता रहूँगा। जब तुम मेरे साथ रहते हो तो मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करता हूँ। लेकिन अब मैंने तुम्हें एक अच्छी संस्था को सौंप दिया है और मैं निश्चिन्त हूँ। अब तुम सैकड़ों नई चीज़ों के बारे में जानोगे। तुम्हारे प्रश्न बड़े होंगे और तुम्हारे अध्यापक उनका हल तुम्हारे सामने रख कर तुम्हें संतुष्ट करते रहेंगे। तुम उनको मेरे स्थान पर समझना और अपने हठीले प्रश्नों को उनके आगे रखने में कोई संकोच न करना।

तुमने एक नए जीवन में प्रवेश किया है। क्या तुम ऐसा समझते हो? तुम्हारे ऊपर भी उतनी ही ज़िम्मेदारी है, जितनी तुम्हारे अध्यापकों पर या तुम्हारे माता-पिता पर। माता पुत्र को जन्म देती है। परन्तु, जैसा पंडितों ने कहा है, मनुष्य का एक दूसरा जन्म तब होता है जब वह विद्या प्राप्त करके गुरु के आश्रम से बाहर होता है। माँ ने उसे भौतिक शरीर दिया तो गुरु ने उस शरीर में आत्मा डाली। मैंने विद्या को मनुष्य की आत्मा कहा है। भला यह आदमी की रूह नहीं है तो और क्या है?

यह एक नया जीवन है जो तुम बिताने जा रहे हो। यह ज्ञान लाभ करने और संस्कारों को शुद्ध और मज़बूत करने का समय है। इस समय तुम जो सीखोगे वह तुम्हारे रक्त में ऐसा घुल-मिल जायगा कि तुम उसे धो कर कभी छुटा नहीं सकोगे। इसीलिए तुम्हें सतर्क रहना है। मैं समझता हूँ तुम मेरी बात समझ रहे हो।

वहाँ तुम्हारे संगी-सहपाठी होंगे। उनसे हिलते-मिलते रहो। उनके साथ खेल में शरीक हो, उनकी खोज-खबर रक्खो। यदि तुम किसी को दुखी देखो तो तुम यह प्रयत्न करो कि उसका वह दुख दूर हो। कोई मित्र बीमार हो, तो उसकी देख-रेख करो। ये बातें तुम्हारे भीतर उस गुण को भर देंगी जिसे हम मनुष्यता कहते हैं। आखिर आदमी, और पशु में यही भेद है कि जहाँ पशु को अपने पेट भरने से काम है, वहाँ आदमी दूसरे की ओर देखकर काम करता है। मनुष्य मनुष्य की देख रेख न करेगा तो क्या पशु करेगा?

हाँ, तुम स्कूल की टीम में अपना नाम ज़रूर लिखा लेना। इससे एक तो तुम्हारा खेल नियमित हो जायगा; दूसरे तुम अपने साथियों के सम्पर्क में अधिक आओगे। शिक्षा के लिए—यदि वह शिक्षा ठीक ढङ्ग की है—खेल का मैदान भी उतना ही आवश्यक है जितना क्लास-रूम। उत्तेजना मिलने पर भी क्रोध न करो, सहयोगी बनो, उठने-बैठने के ढङ्ग सीखो, आत्म-शासन की प्रवृत्ति को विकसित करो और यह सब बातें उतनी अच्छी तरह कहाँ हो सकेंगी जितनी अच्छी खेल में। मुझे इस सम्बन्ध में एक अंग्रेज़ी लेखक का वाक्य याद आ रहा है। वह कहता है हमारे नौजवान आक्सफोर्ड और ईटो की बड़ी-बड़ी इमारतों के कमरों में शिक्षा प्राप्त नहीं करते। उनका एक शिक्षालय है खेल का मैदान, दूसरा है उपन्यास का विशाल क्षेत्र। इसमें बहुत कुछ सचाई भी है। हमें अपने पुत्रों को देश का अच्छा नागरिक बनाना है तो फिर वे छोटी अवस्था से ही उन बातों को क्यों न सीख लें जो प्रत्येक नागरिक को जानना चाहिए। इससे अच्छा मौक़ा उन्हें कहाँ मिलेगा? अब न घर की चिन्ता है न नोन-तेल-लकड़ी की फ़िक्र है। अब नहीं तो फिर कब?

मैं तुम्हारे नाम से कुछ रुपया इलाहाबाद से इम्पीरियल बैंक में ट्रांसफर

कह रहा हूँ। इससे तुम्हें सुविधा होगी। मैं जानता हूँ तुम इस सुविधा का सदुपयोग करोगे।

तुम्हारी माँ तुम्हें आशीर्वाद भेजती है। इस पत्र के नीचे तुम्हारी मुन्नी ने टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में तुम्हें कुछ लिख दिया है।

तुम्हारा स्नेही पिता,

२७, जुलाई, १९३७ रमेशचंद्र

छात्रालय के संबंध में माता को

रणजीत होटल,
लाहौर।
१२ अगस्त, १९३८

पूज्यनीया माताजी,

आपका पत्र पाकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। मेरे पत्र न भेजने का यह कारण था कि मैं इधर काम में बहुत व्यस्त हो गया था। यहाँ आकर मुझे कितने ही सामान जुटाने पड़े। मेस चल नहीं रहा था और होटल इस जगह से मील भर दूर है, कुछ खाने-पीने की दिक्कत थी। और बहुत-सी गड़बड़ियाँ थीं जो अब नहीं रही हैं। अब रहन-सहन का प्रबंध काफी अच्छा हो गया है और यदि इसी तरह चलता रहा तो मुझे कोई असुविधा होती नहीं दीखती।

यहाँ छात्रालय में जीवन की दिशा ही कुछ और रहती है। तबीयत गिर न जाए, इसका ध्यान रखना होता है क्योंकि अपनी अकेली जान किसको सौंपें। इससे आत्म-शासन और स्वावलंबन की प्रवृत्ति का विकास होता है। सच तो यह है कि आपके वात्सल्य-पूर्ण दुलार से मुझे अब तक कुछ भी करना नहीं पड़ा था। पहले-पहल जब सब मेरे सिर पर आ पड़ा तो मुझे बोझा जैसा मालूम पड़ने लगा। परन्तु अब मैं अपना सब काम देखता हूँ। उनमें समय कट जाता है और एक तरह गर्व होता है कि अब मैं अपनी देख-भाल कर सकता हूँ।

यहाँ विद्योपार्जन की बड़ी सुविधा है। इसका कारण यह है कि यहाँ का

सारा वातावरण ही इस तरह का है कि विद्यार्थी को बहुत-सा ज्ञान यों ही सहज अयाचित ही मिल जाता है। पढ़ाई का यह सुभीता घर पर नहीं हो सकता। सब पढ़ रहे हैं, तो प्रतियोगिता के भाव से ही हम पढ़ेंगे। एक बात यह है कि घर रहते हुए बहुत-सा समय घरेलू आवश्यक कामों में चला जाता था। यहाँ इस प्रकार की कोई चिन्ता न होगी। खाने-पीने का प्रबंध वार्डन साहब के हाथ में है। वही मेस चलाते हैं। प्रत्येक मास एक दिन हिसाब कर देने पर विद्यार्थी को छुट्टी है। न साग के लिए दौड़ना पड़ता है, न नौकर को देखना होता है।

हमारे होस्टल में ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी भी हैं। मैं दो ऐसे विद्यार्थियों से परिचित हो गया हूं। उनसे पाठ तैयार करने में सहायता ली जा सकती है।

माँ, तुम जानती हो मुझे हॉकी कितनी प्यारी है। घर पर कभी-कभी खेलने नहीं जाता था तो मैं उदास हो जाता था। मैं मानता हूँ कि तुम मुझे खेलने को बराबर उत्साहित करती रहती थी परन्तु फिर भी कभी-कभी मेरा नियम टूट जाता था। यहाँ तो मैं शाम के कई घंटे व्यायाम और खेल-कूद में बिताता हूँ। व्यायाम के लिए बड़ा अच्छा प्रबन्ध है। पटियाला के महाराज के दान से एक बड़ी व्यायामशाला बनी हुई है। इसे पटियाला जिमनेशियम कहते हैं। यह स्थान खुला हुआ है। वायु स्वास्थ्यवर्द्धक है। चारों ओर एक बड़ा मैदान है। सुबह उठकर आध घंटे इधर-उधर घूम फिर भी आता हूँ।

छात्रालय में रहकर प्रत्येक बात की पाबन्दी करनी पड़ती है। खाने की घन्टी बजती है, हाजिरी की घन्टी होती है, सोने की घन्टी होती है। सारा जीवन नियमित-सा हो जाता है। यहाँ नियम से न चलो तो रहना कठिन हो जाय। घर पर मैं रात गए लौटता था और बारह बजे तक पढ़ता रहता था यहाँ ऐसा नहीं हो सकता। दस बजे रोशनी बुझ जाती है। इसलिए लौटना भी जल्दी होता है।

फिर मिल-जुल कर रहने की बात है। इतने विरोधी स्वभाव कहाँ

इकट्ठा होते हैं ! हमें एक-दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखकर चलना होता है । हम यहाँ पर पर एक दूसरे की खोज खबर न लेंगे तो कौन लेगा ?

माँ, यह मत सोचना कि मैं यह सब लिख रहा हूं तो मुझे घर नहीं भाता । यहाँ तुम्हारे जैसा स्नेह रखने वाला कहाँ है ? नरेश कहाँ है ? शीला कहाँ है ? एक छोटा-सा कमरा है और मैं हूँ । पहले दो-चार दिन तो यहाँ रहना इतना खला कि क्या कहूँ । यहाँ घर का-सा सुख कहाँ मिल सकता है ? परन्तु विद्याध्ययन तो तप है । प्राचीन काल में जो शिष्य गुरुकुल में रहता था, उसे आचार-विचार और व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कितनी साधना करनी पड़ती थी ! यहाँ गुरुकुल का स्नेह-पूर्ण वातावरण तो नहीं है, परन्तु साधना तो है ही ।

पूज्य पिताजी को मेरा प्रणाम कह कर सूचित कीजिए कि मैं उनके मित्र बाबू रघुवशराय से मिल लिया हूँ । उनका स्नेहपूर्ण व्यवहार मुझे बड़ा अच्छा लगा । अब मैं इस स्थान पर अजनबी नहीं रहूँगा । उनका एक भतीजा मेरी कक्षा में पढ़ता है । संभव है, हम दोनों मित्र हो जाएँ ।

नरेश और शीला को मेरा प्यार । शीला के लिए मैंने कई अच्छे फ़ोटू लिए हैं । अगले पत्र के साथ उन्हें भेज दूँगा ।

आपका वात्सल्य-भाजन,
किशोर

नैनीताल से मित्र को

२६, नैनीताल
२० मई, १९३८

प्रिय कैलाश,

लो, मैं तुम्हारे मैदानों के नरक से निकल कर यहाँ आ पहुँचा । अब मैं पहाड़ों के बीच में हूँ और देवदार के एक कुञ्ज में ठंडी हवा के झोंके खाता हुआ यह पत्र लिख रहा हूँ । पहली अप्रैल को हमारी युनिवर्सिटी बंद हो गई थी । १५ दिन बाबूजी के साथ दिल्ली में बिताए । उन्होंने कहा, तन्दुरुस्ती

गिर रही है तुम्हारी। अच्छा हो, कहीं पहाड़ चले जाओ। सचमुच यहाँ बड़ा अच्छा है।

रेल का सफ़र अच्छा नहीं रहा। बड़ी भीड़ थी। ज़रा भी सहूलियत नहीं। काठगोदाम पहुँचने पर जी में जी आया क्योंकि वहाँ ठंड थी। काठगोदाम पहाड़ी की तलैटी में बसा है। इसे चढ़ कर नैनीताल पहुँचना होता है। सड़क चक्करदार है। ५ मील लम्बी है। सड़क के एक ओर खड्ड है दूसरी ओर ऊँचा पहाड़ खड़ा है। हमने टैक्सी ली। वह चक्कर लेता हुई बड़ी तेज़ी से चलती थी और थोड़ी देर बाद मेरा सर घूमने लगा। इस तरह यात्रा करने का यह मेरा पहला अनुभव था। सड़क जङ्गलों के बीच से होती हुई जाती थी और तब बड़ा अच्छा लगता था।

ऊपर पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई। मेरा नैनीताल आने का पहला अवसर था। बड़ा ही सुन्दर दृश्य था। ज़रा कल्पना तो करो, साफ़ पानी की झलमलाती हुई झील, पहाड़ियों से घिरी और उस पर सूरज की अंतिम किरणें लाली बिखेरती हुई। नैनीताल इसी झील के चारों ओर बसा है। हम सड़कों पर झील का चक्कर देते हुए आगे बढ़ रहे थे और उसमें छोटी-छोटी सुन्दर नावों को धीरे-धीरे तिरता हुआ देखते थे।

यहाँ होटल बहुत हैं। हमने हिमालिया होटल में एक कमरा लिया। झील सामने पड़ती थी। फिर कुछ दिनों बाद हमने मकान ठीक कर लिया। दिन में अभी यहाँ तेज़ धूप पड़ती है।

आ सको तो ज़रूर आओ। भले आदमी, इतने घर-घुस्से कब से बन गए? 'खूब गुज़रेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो।' दो नहीं, तीन कहना चाहिये। अब तुम समझे होगे कि मैं 'हम' क्यों लिख रहा था। यह नहीं पूछो, तीसरा कौन है। न! यहाँ से 'चाइना पीक' दो मील है। आसमान साफ़ होता है तो यहाँ से दिखाई देती है। तुम आओ तो फिर चला जाए। कब आ रहे हो?

तुम्हारा अभिन्न
हृदयनारायण

हिन्दू-मुस्लिम एकता पर मुसलमान मित्र को

प्रयाग
५-६-३२

दोस्त,

आदाबअर्ज़। अच्छे तो हो। मैंने अभी-अभी 'निगार' (पत्र) में तुम्हारा वह लेख पढ़ा है जो हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में है। मैं सच कहता हूँ, रसूल, मैं उस लेख पर मुग्ध हो गया हूँ। पंक्ति-पंक्ति में तुम्हारा सहृदय व्यक्तित्व सजीव हो उठा है।

यह ऐसा प्रयत्न नहीं है, जिसकी मैं तुम्हें दाद न दूँ। वैसे तो यह वाह-वाही का जमाना है। मन तुरा शाही बगोयम, तू मरा शाही बगो! झूठ, मकर, फ़रेब। यह दुनिया इन्हीं तीनों टाँगों पर खड़ी मालूम पड़ती है परन्तु मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, मेरे हृदय में झूठी वाह-वाही की कोई क़दर नहीं है।

तुमसे यह छिपा नहीं है कि आज हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध कितने कड़वे हो गए हैं। जब अंग्रेज नहीं आये थे, तो उससे कहीं अधिक भाई-चारे का सम्बन्ध था, जो आज है। आज तो जैसे हम लड़ने के लिए ही, भाई-भाई का गला काटने के लिये ही जीते हैं। आज हमारे एक राष्ट्र, एक देश, एक "हिन्दुस्तान" कहने में सबसे बड़ी बाधा यही हिन्दू-मुसलमान झगड़े हैं। राष्ट्र-निर्माण की इस बड़ी बाधा को दूर किए बिना हम कैसे स्वतंत्र हो सकते हैं।

भला इस रोज़ की गला-कटाई से लाभ क्या होता है? धन-जन की हानि एक साधारण बात है। नेताओं का ध्यान राष्ट्र की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं से हट कर इन झगड़ों में अटक जाता है। सारे देश की चिन्तन-धारा उलटी ओर बहने लगती है। हमारे शत्रुओं को यह कहने का मौक़ा मिलता है कि हिन्दुस्तान अभी जंगली है। मैं मानता हूँ कि इस तरह की समस्या प्रत्येक देश में है। अनेक धर्म हैं, अनेक मत-विचार हैं। इसके बिना तो प्रगति हो ही नहीं सकती। यदि घर के व्यक्ति अपने-अपने विचारों के लिए पहर बन जायें, तो इस विग्रह का अन्त कहाँ होगा? यह हम क्यों नहीं

समझते ? क्यों हम अपने-अपने दृष्टिकोण के प्रति इतनी कट्टरता दिखाते हैं ? ८-६ शताब्दियों तक एक पृथ्वी पर रह कर, एक जल-वायु का सेवन कर, एक प्रकाश से संसार को देखकर भी हम पास नहीं आये !

इसका कारण है । मुसलमानों ने विजेता के रूप में प्रवेश किया । हिन्दुओं ने सक्रिय-सशस्त्र विरोध किया । जब वह सफल नहीं हो सके तो उन्होंने सामाजिक बहिष्कार का शस्त्र पकड़ा । मुसलमान शासक थे । वह शासक के मद में अलग-अलग रहे । दोनों पास नहीं आ सके । उनकी विचार-धाराओं में मेल नहीं हो सका । भाषा में मेल अवश्य हुआ । उर्दू बनी । परन्तु यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए नहीं, रोज़मर्रा का काम चलाने के लिए । देखते हो, उर्दू-साहित्य में हिन्दुओं को कितनी कम चिन्ताएँ प्रस्फुट हुई हैं । इसे हिन्दुओं के आचार-विचार, धर्म और संस्कृति का दर्पण कहाँ कहा जा सकता है ? यह तो पुरानी बात है । आज की दशा भी कितनी अच्छी है ! मुस्लिम यूनीवर्सिटी, हिन्दू यूनीवर्सिटी । मुस्लिम स्कूल कालेज, हिन्दू-स्कूल-कालेज । स्टेशनों पर मुस्लिम-पानी, हिन्दू पानी । पहरावा अलग, साहित्य अलग, भाषा अलग, तीज-त्योहार अलग ! आपके घर की बात मैं नहीं जानता, मेरे घर की बात आप नहीं जानते । चलो हो लिया ! स्वराज्य मिल लिया ।

राष्ट्रीयता का जब विकास होने लगा, तो सोचा था, अब हिन्दू-मुसलमान एक रंगमंच पर आये । अब झगड़ा मिटा । इकबाल ने कहा था—

सच कह दूँ ऐ बिरहमन, गर तू बुरा न माने,
तेरे सनमकदों के बुत हो गए पुराने
आपस में बैर करना तूने बुतों से सीखा,
जंगो-जदल सिखाया वायज़ को भी ख़ुदा ने
तंग आके मैंने आख़िर देरो-हरम को छोड़ा,
वायज़ का वाज़ छोड़ा, छोड़ा तेरे फ़साने

हाँ, इन्हीं इकबाल साहब ने लिखा था—

मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर करना ।
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा ।

ज ा आगे "मिल्लत" के तराने गाने लगे। अफ़सोस तो इस बात का है कि हमारे जो कवि-लेखक-विचारक राष्ट्रीयता से शुरू करते हैं, वे समाप्ति करते हैं साम्प्रदायिकता में।

तो क्या किया जाय ? किस प्रकार इन दो विरोधी अखाड़ों को सहिष्णु बनाया जाय ? मैं कहता हूँ यह शुद्धि-तबलीग, गौ-हत्या, बाजे, हिन्दी-उर्दू के राग बे-वक्त हैं, बे-सुरे हैं। हम एक दूसरे की दिल दुखाने वाली बात छोड़ दें, क्या यह त्याग बहुत होगा। यह नहीं तो अपना जोश ही कम कर दें। कम से कम यही करें कि एक दूसरे के साहित्य, धर्म और दर्शन का अध्ययन करें, एक दूसरे के महापुरुषों से परिचित हों।

हाँ, तो जो कदम तुमने उठाया है वह तारीफ़ के काबिल है। इसी तरफ़ बढ़ने से हिन्दू-मुसलमान समीप आ सकते हैं। क्या मैं आशा रक्खूँ तुम इस रास्ते को नहीं छोड़ोगे ?

अमीना कैसी है ? छोटी शीला उसे बहुत याद करती है। उसकी सालगिरह कब है ?

तुम्हारा
रोशन

छोटी बहिन को पत्र

१५, जार्जटाउन,
प्रयाग।
१३ दिसम्बर, '३७

नैना,

माँ ने लिखा है तू घर में अंधड़ उठाए रहती है। तू लिखती है, मैं अब बड़ी अच्छी हो गई हूँ। भय्या को धोखा देना कब से सीख लिया ? अच्छा बता, तू पड़ोस की लक्ष्मी से क्यों लड़ गई ? देख री, इस बात पर अम्मा ने नाराज़ होकर मुझे दस पंक्तियाँ लिखी हैं।

तेरी पढ़ाई कैसी चल रही है ? मैंने पं० जवाहरलाल की पुस्तक जो तुझे भेजी थी—'पिता के पत्र पुत्री के नाम'—वह तेरे मास्टर साहब तुझे समझा रहे हैं या नहीं ? मैंने उन्हें लिख दिया था।

ऊधम मत मचाया कर पढ़-लिख। अब तू बड़ी लड़की हो गई है। समझी।

तेरा

रमेश भैय्या

कपड़े की खरीद के संबन्ध में

मैनेजर स्वदेशी स्टोर,
बड़ा बाज़ार, कानपुर।

२०, मोती महल,
आगरा

१२ दिसम्बर, १६३६

महाशय,

मैं आपका बड़ा कृतज्ञ होऊँगा यदि आप कृपा करके, नीचे लिखा हुआ सामान शीघ्र से शीघ्र मेरे पास भिजवा देंगे :—

(१) पाजामों के लिए ५० गज़ बड़े अरज़ का लट्ठा (आपके सूचीपत्र के ११० नम्बर का)। (२) ६ जोड़ा अहमदाबादी पाँच गज़ा मरदाना धोतियाँ। (३) कमीज़ों के लिए ५० गज़ ह्वाइट क्लॉथ (नं० २०००)। ४२० गज़ नीली सर्ज (नं० ३०)।

सामान मेरे ऊपर के पते पर रेल से भेजियेगा। सूचना मिलते ही आपका बिल चुकता करके छुड़ा लिया जायगा।

आपका

(प्रो०) रोशनलाल

फोन नं० २४० शालिमार क़ालीन कम्पनी लिमिटेड,
भारतीय क़ालीन और कम्बलों के व्यवसायी,
२, शेरसिंह भवन, लुधियाना (पंजाब)

प्रिय महाशय,

आपके २८ मई के पत्र के लिए धन्यवाद! उत्तर देने में बड़ा विलंब हो रहा है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

(१) क २१ उत्तमश्रेणी ६'४×७'४' @ ५०), (२) क २६ मध्यमश्रेणी ८'४'×८'@ ६०) (३) ३ ज ५ गोदाम में नहीं है।

G.R.—3 Superfine Grade 14 ft. 3 in. by 11 ft. 2 in. @ Rs. 100.

हमने जो दाम लिखे हैं, वह इस समय अमृतसर और लुधियाने के बाज़ार

में सबसे सस्ते हैं। बाज़ार की मंदी तेजी के हिसाब से दाम घट-बढ़ सकते हैं।

हम अपने माल पर ३ वर्ष की गारंटी करते हैं। हमें विश्वास है कि हम आपको संतोष-जनक माल दे सकेंगे, अतः हम आपके आर्डर के उत्सुक होंगे।

भवदीय
मैनेजर शालिमार कम्पनी लिमिटेड

निमन्त्रण-पत्र

निमन्त्रण-पत्रों के लिखने के कई ढङ्ग प्रचलित हैं। यों साधारणतः जिस तरह मित्र को लिखा जाता है उस तरह लिख सकते हो। परन्तु जो लिखो, उसे संक्षेप में लिखो। पत्र के अंत में 'आपका दर्शनाभिलाषी' या 'आपका कृपाकांक्षी' लिखो।

प्रीति-भोज का निमंत्रण-पत्र

श्रीमान्,

आपको यह सूचित करते हुए मुझे अपार हर्ष है कि मेरे सुपुत्र नित्येन्द्र-कुमार ने ईश्वर की कृपा से स्वास्थ्य-लाभ कर लिया है। इसके उपलक्ष में मैंने बुद्धवार, २४ जनवरी १९३८ को (जो उसकी वर्षगांठ की तिथि है) एक प्रीति-भोज देने का निश्चय किया है। समय सायकाल ७॥ बजे रक्खा गया है। अतः आपसे सविनय प्रार्थना है कि आप इस शुभ अवसर पर अवश्य पधारें और मुझे अनुगृहीत करें।

कृष्ण-कुटी, आगरा
जनवरी १८, १९३८

आपका दर्शनाभिलाषी
मोहनलाल

निमंत्रण का पत्र

प्रिय वमोजा,

क्या आप २४ की शाम को ७॥ बजे मेरे साथ चाय-पानी का निमंत्रण स्वीकार करेंगे? आपकी स्वीकृति पाकर मुझे बड़ा हर्ष होगा।

आनन्द-कुटीर, चारबाग,
२० अक्टूबर, १९३८

आपका
गोपालमुरारी अरोड़ा

विधेयात्मक उत्तर

प्रिय अरोड़ा,

निमंत्रण के लिए धन्यवाद। मैं २४ की शाम के ७॥ बजे आपके

पास होऊँगा।

२५ आर्यनगर, तुम्हारा
२२ अक्टूबर, १९३८ सुधीर वर्मा

निषेधात्मक

प्रिय अरोड़ा,

निमंत्रण के लिए धन्यवाद। मुझे दुख है कि मैं आपके साथ का आनन्द नहीं उठा सकूँगा क्योंकि मैं इस समय के लिए अपने एक मित्र से पहले ही वचन बद्ध हो गया हूँ।

आशा है मेरी परिस्थिति को समझ कर आप मुझे क्षमा करेंगे।

२५ आर्यनगर, आप का
२२ अक्टूबर, १९३८ सुधीर वर्मा

विवाह का निमंत्रण-पत्र

जय गणेश जय गजवदन गिरिजासुत गणराज।
एक रदन मंगल सदन करहु सफल मम काज॥

श्री मान्,

सेवा में सादर निवेदन है कि भगवान् विष्णु की असीम अनुकम्पा से चिरजीव राधेश्याम का पाणिग्रहण-संस्कार मेरठ निवासी बा० गोपीकृष्ण श्रीवास्तव की सुपुत्री चि० गिरिजा देवी से सम्पन्न होना निश्चित हुआ है। विवाह की शुभ तिथि वैशाख शुक्ल पंचमी......वार सम्वत्......वि० तद्नुसार ता०......मई, सन् १९४० है। अतः विनम्र प्रार्थना है कि आप इस शुभ अवसर पर बन्धु-बान्धव और इष्ट-मित्रों के साथ पधार कर उत्सव की शोभा बढ़ाइए। आशा है कि आप मुझे अवश्य अनुगृहीत करेंगे।

राजद्वारा, आपका दर्शनाभिलाषी
रामपुर (राज्य) बलदेवप्रसाद श्रीवास्तव

सूचना

तरुण हिन्दी संघ, प्रयाग की ओर से आगामी २० फरवरी, १९......(......वार, सायं ६ बजे) को एक गल्प-सम्मेलन का आयोजन किया गया है। हिन्दी कहानी-जगत के सर्वश्रेष्ठ कलाकार श्री जैनेंद्रकुमार ने सभापति का आसन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है। हमने हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित

कहानीकारों को निमंत्रित किया है। उनमें से कई के उत्तर हमें प्राप्त हो चुके हैं, जिससे हमें यह आशा होती है कि हमारा यह प्रयत्न नगर के इतिहास में अभूतपूर्व सिद्ध होगा। आपसे प्रार्थना है कि आप अपनी उपस्थिति से इस सम्मेलन को सफल बनाएँ।

स्थान — निवेदक
हिन्दी-संघ-भवन का हाल — मंत्री, हिन्दी-संघ, प्रयाग

विज्ञापन

'किताब महल', जीरो रोड, प्रयाग को आवश्यकता है एक ऐसे नवयुवक की जो हिन्दी शीघ्र-लिपि और टाइपराइटिंग जानता हो। केवल वही सज्जन आवेदन-पत्र भेजें जो साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा पास हों और अपना संपूर्ण समय संस्था को दे सकें।

शोक-प्रस्ताव

प्रयाग के हिन्दी साहित्यिकों और हिन्दी प्रेमियों की यह सभा हिन्दी के कर्मठ लेखक, पंडित प्रवर और महान् आलोचक श्रद्धेय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, काशी विश्वविद्यालय की असामयिक मृत्यु पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। आचार्यजी के निधन से हिन्दी-साहित्य की जो क्षति हुई है, इसके सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि आज साहित्याकाश सूना जान पड़ने लगा है। एक महान् व्यक्तित्व हमारे बीच में से उठ गया है। साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ अचानक गिर गया। यह सभा ईश्वर से प्रार्थना करती है कि वह दिवङ्गत आत्मा को शांति प्रदान करे और उनके शोक-संतप्त परिवार को इस दारुण प्रहार के सहने की शक्ति दे। इस प्रस्ताव के द्वारा यह सभा आचार्यजी के दुखी परिवार के साथ समवेदना प्रकट करती है।

शोक-पत्र

दारागंज, प्रयाग
१८ अप्रैल, १९४१

प्रिय रामेश्वर,

खोज-सम्बन्धी कार्य के लिए मैं बाहर गया हुआ था। लौटा तो तुम्हारा दुःखद सन्देश मिला। कौन जानता था कि इतनी जल्दी तुम्हारे सिर पर से माता के स्नेह-पूर्ण अंचल की छाया उठ जायगी? परन्तु मनुष्य धैर्य रखने के सिवा कर ही क्या सकता है। तुम जानते हो मैं स्वयं इस विषय में भुक्त-भोगी

हूँ। अभी अधिक समय नहीं हुआ है कि तुमने मेरे आँसू पोंछे थे। ईश्वर तुम्हें इस अपार दुःख के सहने की शक्ति दे।

यह लिख तो दिया, परन्तु भाई रामेश्वर, लिखते हुए मेरी छाती फटी जा रही है। माता का विछोह कितनी गहरी चोट करता है, यह मैं जानता हूँ। धैर्य रक्खो भाई! छटपटाने से ही क्या लाभ?

तुम्हारा शुभाकांक्षी
गोपाल स्वरूप

उत्तर

'कैलास', बिजनौर,
२१ अप्रैल, १९४१

प्रिय गोपालस्वरूप, वन्दे!

तुम्हारे समवेदना के पत्र ने अमृत का काम किया है। उसके लिए धन्यवाद क्या दूँ। मित्रों की सहानुभूति ने बड़ा बल दिया है परन्तु इस हृदय का क्या करूँ? माँ मुझे क्षण भर भी नहीं भूलती।

संभव है; मैं कुछ दिनों के लिए तुम्हारे पास चला आऊँ। यह घर अब काटता है।

तुम्हारा
रामेश्वर

अभ्यास

(१) "आज" (बनारस) के सम्पादक को एक पत्र लिख कर पूछो कि रेडियो की भाषा हिंदी से इतनी दूर क्यों होती है और हिंदी समाचार-पत्र इस विषय में आन्दोलन क्यों नहीं करते?

(२) "ब्लैक आउट" से होनेवाले हानि-लाभ के सम्बन्ध में 'प्रताप' (कानपुर) के सम्पादक को पत्र लिखो।

(३) "रामलीला में सुधार" विषय पर "कल्याण" (गोरखपुर) के सम्पादक को एक पत्र लिखो।

(४) "हिंदू-मुस्लिम दंगे" को विषय बना कर किसी समाचार-पत्र को वर्णनात्मक पत्र लिखो।

(५) अपने मित्र को साहित्यरत्न की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर बधाई दो और उनके भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में पूछो।

(६) मित्र को पत्र लिखो जिसमें इनमें से एक का वर्णन हो :—

(अ) दशहरा का उत्सव, (ब) उद्योग-धंधे की शिक्षा, (स) स्कूल का पहला दिन, (द) पूजा की छुट्टियाँ।

(७) प्रेमचंद के किसी एक उपन्यास को पढ़कर उसके सम्बन्ध में अपने मित्र को पत्र लिखो।

(८) अपने छोटे भाई को एक पत्र लिखकर हड़ताल के कारण उत्पन्न परिस्थिति का वर्णन करो।

(९) चाचा को पत्र लिखकर उनसे व्यवसाय के चुनाव के सम्बन्ध में सलाह लो।

(१०) बड़े भाई को पत्र लिखकर परीक्षा-पत्रों के सम्बन्ध में सूचना दो और बताओ कि छुट्टियों को किस प्रकार व्यतीत करना चाहते हो?

(११) किसी व्यावसायिक फ़र्म को पत्र लिखकर एजेंसी लेने की प्रार्थना करो।

(१२) पुस्तक-व्यवसायी को पत्र लिखो।

(१३) अपने मित्र को पत्र लिखकर किसी शोकसभा का वर्णन करो।

(१४) माता को अपने स्वास्थ्य और दैनिक कार्यक्रम से सूचित करो।

(१५) "भरतजी की भक्ति" के सम्बन्ध में छोटे भाई को पत्र लिखो।

(१६) जन्म-दिवस पर मित्र को पत्र लिखो।

(१७) पिता की ओर से पत्र लिखो जिसमें स्कूल के सम्बन्ध में पूछा गया हो।

(१८) "रेल में थर्ड क्लास के सफ़र" पर बड़े भाई को पत्र लिखो।

(१९) छोटी बहन को उपहार भेजते हुए पत्र लिखो।

अभिनन्दन-पत्र

हिन्दी-काव्य जगत में क्रांति उपस्थित करनेवाले, छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि, श्री सुमित्रानन्दन पन्त की सेवा में

कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ, के हिन्दी-विभाग के विद्यार्थियों की ओर से

माननीय पंत जी,

आपने बीच में आप को उपस्थित देख कर आज हमें कितना हर्ष हो रहा है, यह कहने का विषय नहीं है। हम सब इसे अनुभव कर रहे हैं। आप स्वयम् कवि हैं, हमारे हृदय की दशा को आप से अच्छा कौन जान सकेगा?

श्रीमान्, वर्त्तमान हिन्दी-काव्य के संबन्ध में आपकी सेवाएँ अद्वितीय हैं। आपने उस समय लिखना आरम्भ किया जब खड़ी बोली की कविता का कंठ भी अच्छी तरह फूटा न था। उसकी वाणी में असंगति थी। निपट अटपटा-पन था। उसे माँजने, सँवारने और मधुर-रस से पूर्ण करने का श्रेय आपको ही है। आपके प्रयत्नों के कारण ही आज हम खड़ी बोली से अपरिचित नहीं हैं, आपने उसमें हमारे प्राणों का संगीत भर दिया है, उसकी आत्मा से आज हमारी आत्मा का साक्षात्कार हो गया है।

श्रीमान्, आपकी कविता की पहली छटा का हिन्दी संसार ने "ग्रन्थि", और "वीणा" के रूप में परिचय प्राप्त किया। उसके पश्चात् "पल्लव" ने जन्म ले कर सारे काव्य-प्रेमियों का मन मोह लिया। हिन्दी खड़ी बोली का स्वर कभी भी इतना मधुर नहीं हो पाया था, जितना 'पल्लव' में। उसके साथ हिन्दी-काव्य में एक ऐसी शक्ति और मधुरता का प्रवेश हुआ जो आज हमारे गर्व का विषय है। फिर 'गुंजन' के साथ आपने 'दर्शन' के भावों का मृदु-गुञ्जार उपस्थित किया। तब से अब तक आप "युगांत", "युगवाणी", "ग्राम्या" और "पल्लविनी" में अपने काव्य के परिपूर्ण फल हिन्दी को प्रदान कर चुके हैं।

श्रीमान्, हमें हर्ष है कि आप सतत प्रगतिशील हैं। "वीणा" का मधुर-कंठ बालक आज राष्ट्र की राजनीति, संस्कृति और दर्शनज्ञान का गायक हो जायगा, यह कौन कह सकता था। यद्यपि आपके भविष्य की उज्ज्वलता को आलोचकों ने तब भी स्वीकार कर लिया था। आज देश की सारी चिन्तन-धाराओं को आत्मसात् कर आप सच्चे अर्थ में "राष्ट्र-कवि" बन गए हैं। भारती आपको पाकर धन्य है।

श्रीमान्, आप कवि ही नहीं हैं, युगविचारक भी हैं। आप की इधर की कविताओं और आपकी "पाँच कहानियों" में हमने आप को चिन्तनशील,

समाज-सुधारक और महत् भावनाओं के उन्नायक के रूप में देखा। आपके "पल्लव की भूमिका" हिन्दी गद्य-साहित्य का सुन्दर रत्न है। आपने अपने "रूपाभ" (पत्र) के द्वारा पत्र-कला में भी एक नया आदर्श उपस्थित किया था।

श्रीमान्, आज हमें ही नहीं हिन्दी को आपको पाकर कितना हर्ष है। पंद्रह वर्ष पहले आपकी ही का रत्नप्रसू लेखनी ने लिखा था—"हमें आशा है, भविष्य इसके (हिन्दी के) समुद्र को मथ कर इसके चौदह रत्नों को किसी दिन संसार के सामने रख देगा; और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुह कर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बना कर, एक बार फिर दुर्भिक्ष-पीड़ित संसार को परितृप्ति प्रदान करेगा।" आज हमें इसमें किञ्चित मात्र भी संदेह नहीं है कि वह पृथु आप ही हैं। आपने ही हमारे वर्तमान् हिन्दी-भाषा-समाज से अकाल को दूर करके उसे रस से आप्लावित किया है।

श्रीमान्, वेद में लिखा है—"कविर्मनीषी परिभूस्स्वयंभू।" आप अपने काव्य के भीतर स्रष्टा के रूप में भी भली-भाँति प्रतिष्ठित हैं। आपने शब्द कोष, छंद और कला सभी विषयों में नई सृष्टियाँ की हैं। काव्य के सम्बन्ध में कहा गया है :—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदेशिवत्त रक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मति तयोपदेश युजे॥

जो कवि इतना कर सकता है उसका सम्मान हम क्षुद्र-प्राणी किस प्रकार कर सकते हैं। उसके कल्याण का ऋण क्या कभी चुक सकता है?

कवि! भावना के ये पुष्प आपके कर-कमलों में भेंट के रूप में उपस्थित हैं। आप इन्हें ग्रहण करके हमें अपनी चमत्कारपूर्ण पीयूषवर्षिणी वाणी का आस्वादन करायें, यही प्रार्थना है।

वाद-विवाद

(विषय—प्रजातंत्र बनाम एकतंत्र)

समय—५ मिनट

सभापतिजी और मित्रो,

"आज के विवाद का विषय था—'प्रजातंत्र और एकतंत्र राज्यों में से कौन हमारे देश के लिए उपयुक्त है?' मैं प्रजातंत्र राज्य की ओर से खड़ा हुआ हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा काम सरल नहीं है क्योंकि आज संसार ऊपर से देखने से तो एकतन्त्र की ओर ही बढ़ता हुआ जान पड़ता है। जहाँ अभी कल तक प्रजा के हाथ में शासन के सारे अधिकार थे, वहाँ आज शक्ति केवल थोड़े से हाथों में केन्द्रित हो गई है। 'आज इसी की आवश्यकता है'—यह बात मान कर वे लोग भी चुप हो गये हैं, जो प्रजातन्त्र का दम भरते थे।

सभापतिजी, आप मुझे थोड़े से ऐतिहासिक विवेचन की आज्ञा देंगे। प्राचीन प्रागैतिहासिक समय में दैहिक शक्ति ही की महत्ता स्थापित थी। इसलिए उस समय वही व्यक्ति राज्य का शासक चुना जाता था जो दैहिक बल में सर्वोत्तम होता। फिर धीरे-धीरे अस्त्र-शस्त्र बने। जो उनमें सबसे निपुण होता; वही शासक बनता। परन्तु उसके बाद राज्यसत्ता चुनाव के ऊपर टिकी नहीं रह सकी। उसका आधार पिता-पुत्र क्रम अथवा 'वंश' हुआ। राज्य पैत्रिक सम्पत्ति हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य का मूल एकतन्त्र भावना में नहीं हुआ। उसमें प्रजातन्त्र की भावना—चुनाव—का मुख्य हाथ था। परन्तु धीरे-धीरे जब शासक बली होने लगे और राज-सिंहासन पर पैत्रिक अधिकार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया तो जनता का महत्त्व हो गया और धीरे-धीरे एक तन्त्र विकसित हो गया।

सभापतिजी, हमें यह बात भुला नहीं देनी चाहिए कि हमारी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र राजनीति नहीं धर्म रहा है। इसीलिए राजनीति में भी हमारे स्मृति-कारों का ही अनुशासन रहा है। जो लोग यह कहते हैं कि भारत में सदा ही एकतन्त्र रहा है और वह प्रजातन्त्र के उपयुक्त नहीं है, वे यह नहीं

जानते कि यहाँ का एकतंत्र आजकल के पश्चिम के एकतंत्र से कम नहीं है। वहाँ के एकतंत्र शासक भगवान् रामचन्द्र धोबी के उपालंभ भर से प्रेरित होकर अपनी सती स्त्री को त्याग सकते थे। यहाँ राजा प्रजा का सेवक था। यह बात नहीं कि वह ऐसा समझा ही जाता हो या इस प्रकार की व्यवस्था ही की गई हो, ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जो इस बात की सत्यता को सिद्ध तेरक हैं। जिन रामचन्द्र की यह स्थिति थी—

भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला॥

जिस पर आज का प्रतापी अँग्रेज़ी साम्राज्य भी गर्व कर सकता है, उस राज्य की प्रजा की समृद्धि को आज कितने राज्य पहुँचेंगे? देखिए—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
अल्पमृत्यु नहीं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

सभापतिजी, वह दिन दूर गये। वह सतयुग था। हम कलयुग में रह रहे हैं। आज राजधर्म और प्रजा-धर्म का वह आदर्श हमारे सामने नहीं है। हमने यह देख लिया है कि एक हाथ में शक्ति केन्द्रित हो जाने से सदैव अच्छा नहीं होता। आज हम व्यक्ति के ऊपर इतनी श्रद्धा नहीं कर सकते। आज प्रजा को शक्ति देनी होगी। राज वही चलाएगी।

सभापतिजी, यह कहना हास्यापद है कि हमारे देश में इस तरह की परम्परा नहीं है। बौद्ध-साहित्य में अनेक गणतंत्रों का वर्णन है। वैशाली के प्रसिद्ध जनतंत्र की बात वह क्यों भूल जाते हैं। जब सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था, तो उस समय सारे पंजाब में कितने ही छोटे-बड़े गणतंत्र थे। यदि प्रजातंत्र के लिए आज कोई देश उपयुक्त है तो भारतवर्ष है। यहाँ सेवाभाव की महिमा सदा गाई जाती रही है। यहाँ की प्रजा में सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा जैसी स्वर्गीय भावनाएँ आज भी भरी हुई हैं। ऐसी प्रजा के हाथ में शक्ति आकर कभी भी कलुषित नहीं हो सकती।

परन्तु, सभापतिजी, विचार यह करना होगा कि हमारे देश में किस ढङ्ग का प्रजातंत्र बने? क्या पश्चिम के ढङ्ग का? पश्चिम के ढङ्ग का प्रजातंत्र

एक प्रकार से बहुतंत्र है या यों कहिये, अमीरतंत्र है। वहाँ वोट (निर्वाचन) का अधिकार प्रत्येक छोटे-बड़े, अमीर-गरीब को प्राप्त है, यह मैं मानता हूँ; परन्तु उसका उपयोग ग़रीब कहाँ कर पाते हैं ? आप समाचार-पत्रों में पढ़ते होंगे कि पश्चिम के निर्वाचनों में कितनी घूसखोरी चलती है। यह क्यों ? इसलिए कि शक्ति आज भी धन में है। हम यह चाहेंगे कि हमारे प्रजातंत्र में धन की महत्ता स्थापित नहीं हो। भारत ने तपस्वी साधकों और उच्च चरित्रवान् व्यक्तियों को ही महत्त्व दिया है। हमारे प्रजातंत्र के मूल भाव में सेवा-भाव हो। उसका उद्देश्य यह न हो कि ग्रामीण जनता मूढ़ बनी रहे और एक विशेष वर्ग (चाहे वह धन में बड़ा हो, चाहे विद्या में, चाहे संगठन में) उस पर शासन करे। यही बात, यही परिस्थिति, यही आदर्श तो आज के महायुद्धों को परिचालित कर रहा है। प्रत्येक ग्रामनिवासी हमारे प्रजातंत्र का अध्यक्ष बन सके। हमारी समस्याएँ सरल से सरल परिभाषा में प्रगट की जायँ, उन्हें आदर्श चिन्तन की ओर नहीं, कर्तव्य की ओर मोड़ा जाय। "'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' 'नहीं, हमारा प्रजातंत्र "सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय" स्थापित हो। एकतंत्र शासन की महत्ता स्थापित करनेवाले, मेरे विपक्षी मित्र ने कहा था—"आज एकतंत्र की आवश्यकता है जिससे प्रगति की गति तीव्र हो। एक व्यक्ति, एक मस्तिष्क, एक प्राण—यही राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर कम से कम समय में पहुँचा सकते हैं।" मैं कहता हूँ—"उन्होंने ठीक कहा है। उन्नति के शिखर तक विद्युतगति से बढ़ो और उसी गति से नीचे आ गिरो। एक व्यक्ति, एक मस्तिष्क, एक प्राण—फिर चाहे युगों का संचित मानवता का ज्ञान-धर्म-कोष खतरे में क्यों न पड़ जाय। एक व्यक्ति—वह तुम्हारा डिक्टेटर, तानाशाह—यदि कल सिड़ी हो जाये तो तुम भी पागलों का नाच नाचो और कुएं में ही क्यों, पाताल में गिर जाओ। क्यों ? आज पश्चिम में यही तो हो रहा है ?"

अन्त में, सभापतिजी, मैं एक बार फिर अपने मत पर बल देता हुआ कहता हूँ—आज चाहे एकतंत्र की धूम है, कल का संसार प्रजातंत्र पर ही आश्रित होगा और उन प्रजातंत्रों में जो भविष्य के संसार में स्थापित होंगे

सबसे महत्त्वपूर्ण होगा हमारा, हमारा हमारा भारतवर्ष का प्रजातंत्र ! अब मैं आपसे आज्ञा लेकर बिदा होता हूँ ।"

भाषण*

हिन्दी भाषा और साहित्य की समस्याएँ

बन्धुवर्ग

अनेक वयोवृद्ध साहित्य महारथियों के रहते हुए हिन्दी-प्रेमियों ने इस परिषद् के सभापति के रूप में जो मुझे चुन कर भेजा है इसका उद्देश्य कदाचित् नई पीढ़ी को प्रोत्साहित करना तथा उसके दृष्टिकोण को समझना मात्र है। कार्य-भार उठाने के लिए बड़े-बूढ़े नवयुवकों को ऐसी ही युक्तियों से तैयार करते हैं। जो हो, गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस अवसर-प्रदान तथा आदरभाव के लिए साहित्य-सेवियों का आभारी हूँ।

हमारी अत्यन्त प्राचीन भाषा का नया कलेवर—मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ी बोली हिंदी से है—तथा उनका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थितियों में होकर गुज़र रहा है। इन नवीन परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप अनेक नई समस्याएँ; नई उलझनें, नये भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दियों तथा अहिंदियों दोनों ही के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात ज़रा बचकानी-सी मालूम होती है किन्तु मेरी समझ में हिन्दी-भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत-सी वर्त्तमान् समस्याओं का प्रधान कारण हदी की परिभाषा, नाम तथा स्थान के सम्बन्ध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है। अतः सबसे पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

---

*हिंदी साहित्य सम्मेलन के सत्ताईसवें अधिवेशन (शिमला) के साहित्य परिषद् के सभापति श्री डा० धीरेन्द्र वर्मा के भाषण का एक अंश।

आप कहेंगे कि हिन्दी की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद ही क्या हो सकता है, किन्तु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिन्दी-सेवियों का एक वर्ग हिन्दी-भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ में करता है। देश में हिन्दी-भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। क्योंकि हम लोग हिन्दी-साहित्य-परिषद् के रंगमंच पर बैठे विचार विनिमय कर रहे हैं, अतः हमारे लिए हिन्दी भाषा का प्रधानतया वह रूप महत्वपूर्ण है जिसमें हमारा साहित्य लिखा गया था तथा आज भी लिखा जा रहा है। मेरा तात्पर्य चंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, रत्नाकर, प्रेमचंद, प्रसाद की भाषा से है। इनकी ही रचनाओं को तो आप हिन्दी-साहित्य की श्रेणी में रखते हैं तथा इन रचनाओं की भाषा को ही तो आप साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी भाषा नाम देते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। हिन्दी प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटि-पूर्ण पावें तो विचार विनिमय के उपरान्त उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथप्रदर्शन के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपने आप स्पष्ट रूप में समझे रहें कि आखिर किसी हिंदी के लिए हम और आप अपना तन मन धन लगा रहे हैं। हिन्दी-भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—"व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों में रूप आर्यावर्त के मध्यदेश अर्थात् वर्तमान् हिंद प्रांत (संयुक्त प्रांत), महाकोसल, राजस्थान, मध्य भारत, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूलजनता की मातृभाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रांतों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिंदी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ी बोली हिंदी है जो मध्य प्रदेश की पढ़ी-लिखी मूलजनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठन-पाठन आदि की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी व छापी जाती है। भारतवर्ष का अन्य प्रांतों

भाषाओं में समान खड़ी बोली हिंदी तथा हिंदी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृत है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत, तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, उर्दू आदि के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

इस तरह हम पाते हैं कि यद्यपि हिंदी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किंतु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलने वालों ने हिंदी के खड़ी बोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहित्यिक खड़ी हिंदी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिंदी-भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिंदी भाषा किसे कहा जाय यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रम-मात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिंदी के रूप को समझना चाहते तो कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी-छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किंतु यो आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्द-समूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिंदी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम से कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को कायम रक्खे हुए है। संभव है कि आप में से कुछ लोग सोच रहे हों कि साहित्य-परिषद् में भाषा सम्बन्धी इस विस्तार की क्या आवश्यकता थी। साहित्य के लिये भाषा का माध्यम अनिवार्य है, अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के सम्बंध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में घातक हो सकता है। इसलिए सबसे पहले इस सम्भव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग कहते सुने जाते हैं कि आखिर नाम में क्या रक्खा है। एक हद तक यह बात ठीक है किन्तु आप अपने पुत्र का नाम रहीम खाँ रक्खें अथवा रामस्वरूप इससे कुछ तो अंतर हो ही जाता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित् नाम होता है। रहीम खाँ उर्फ़ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा सुना होगा। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरांत अथवा आजकल की परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिन्दी के लिए "भाषा" या "भाखा" शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रजभाषा, अवधीभाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ, सवा सौ वर्ष से जब से हिन्दी के खड़ी बोली रूप को हम मध्य देशवासियों ने अपने साहित्य के लिये अपनाया, तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी रक्खा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानंद सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसंदेह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था किन्तु वह नहीं चल सका और वह बात वहीं हो समाप्त हो गई। किन्तु इधर हमारी भाषा के नाम के संबंध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नये नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी तथा राष्ट्रभाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु मुनुआ, पुतुआ तथा बेटा रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि

नाम परिवर्तन संबंधी यह उद्योग हिन्दी-भाषा और साहित्य प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिंदी साहित्य सेवी की ओर से नहीं आया है। इस विचार के सूत्रधार प्रायः देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिंता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी भाषा के नाम के साथ यह खिल-वाड़ करना अब उचित नहीं प्रतीत होता। हमारे राजनीतिज्ञ पंडित यदि यह सोचते हों कि हिंदी नाम बदल कर वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतार सकेंगे तो यह उनका भ्रम मात्र है। प्रत्येक हिंदी का विद्यार्थी यह जानता है कि 'हिंदी' नाम प्रारम्भ में खड़ीबोली उर्दू भाषा के लिए प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिये जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिंदी छोड़कर हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख लिया। यदि हम हिंदी-हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम से भी अपनी भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा। 'राष्ट्र-भाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग से स्वीकृत करवाना असंभव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली की है। यदि आप खड़ीबोली उर्दू शैली को तथा तत्सम्बंधी सांस्कृतिक वाता-वरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिन्दी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किन्तु क्या हमसे अपनी भाषा-शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुड़ाई जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। सम्भव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें किन्तु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोड़ेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के सम्बन्ध में यह एक नई गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि इससे कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार किया जा सकता था किन्तु वास्तव में हिंदी को हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नामों से पुकारने से हिंदी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसादजी स्वर्गीय इक़बाल की भाषा में साहित्य रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इक़बाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना। यदि इसे आप असम्भव समझते हों तो हिंदी-उर्दू के बीच में एक नए नाम के मढ़ने से कोई फल नहीं। हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्र-

भाषा के कारण हिंदी की साहित्यिक शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है, इसी कारण मुझे अपने साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ।

तीसरी समस्या, जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी-भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है। जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फ़ारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस—उसी प्रकार हिंदी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिये यह बात प्रायः भुला दी जाती है। इधर कुछ दिनों से हिंदी के राष्ट्रभाषा अर्थात् अखिल भारतीय अंतर्प्रान्तीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक ज़ोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अन्तर्प्रान्तीय। हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त के मध्य-देश में गङ्गा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रान्तों तथा देशी राज्यों में विभक्त है। हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र संयुक्तप्रांत, महाकोशल, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली, तथा पंजाब में हैं। यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राजभाषा तो अभी नहीं कह सकते। इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की राजभाषाएँ भिन्न हैं, जैसे बंगाल में बंगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी आदि। इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है। प्रत्येक की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किंतु अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिये कुछ लोगों के वास्ते उन्हें हिन्दी की भी आवश्यकता जान पड़ती है। हम हिन्दियों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है, और अन्तर्प्रान्तीय भाषा भी हिन्दी ही है। हिन्दी के बनने-बिगड़ने से एक बंगाली, गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता इसलिए हिन्दी के सम्बन्ध में विचार करते समय उनका एक तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किन्तु हिन्दी-भाषा या साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिन्दियों की भविष्य की पीढ़ियों का बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए भारतीय, ईरानी,

जापानी आदि सभी लोग काम चलाऊ अंग्रेज़ी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही ग़लत प्रयोग करते हैं, किंतु एक अंग्रेज़ी का अपनी भाषा के हित अन-हित के संबंध में विशेष चिन्तित होना स्वाभाविक है। इस संबंध में एक आदरणीय विद्वान ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किए हैं! उनके ये सदा स्मरण रखने योग्य वचन निम्नलिखित हैं :—"मैं कहता हूँ क्यों हिंदी को हिंदी नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने में हम हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोड़ों का सुख-दुख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्रभाषा अर्थात् तिजारत की भाषा, राजनीति की भाषा, काम चलाऊ भाषा यही चीज़ प्रधान हो गई और मातृभाषा, साहित्य भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण। हमारे साहित्यिक दारिद्र्य का इससे बढ़ कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा!"

वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानता हिंदी भाषियों पर निर्भर है। हिंदी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रांतवासी राष्ट्र-भाषा हिंदी को सीख सकेंगे व उसके संबंध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस भ्रमवश एक भिन्न परिस्थिति होने जा रही है। हिंदी-भाषियों को अपनी भाषा आदि के रूप स्थिर करके राष्ट्रभाषा के हिमायतियों के सामने रखने चाहिये थे। इस समय राष्ट्रभाषा प्रचारक हिंदी का रूप स्थिर करके हम हिंदियों को भेंट करना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिंदी-भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मैं इसे अक्षयवट इसलिए कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य हिंदी-भाषा के ही पूर्व रूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में स्थित हैं किन्तु इस विशाल वट-वृक्ष के स्निग्ध हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगला, आसामी, उड़िया, तेलगू, तामिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नये-पुराने वृक्ष भी हैं। हम

सब के हितैषी हैं। किंतु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वट-वृक्ष ही है। इसके सींचने के लिए और सुदृढ़ करने के लिए वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ़ वृक्ष की हरी हरी पत्तियें उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा सूर्य के आतप तथा प्रचण्ड वायु के क्रोध से आप ही करती रहेंगी। आज हम मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में पाया जाने वाला हिंदी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा पत्र समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट, तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है जड़ को सींचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को सुदृढ़ करना मुख्य कार्य है और हिंदी हितैषियों की शक्ति का प्रधान अंश इसमें व्यय होना चाहिए 'नष्टे मूले नैव पत्र न शाखा'। अंतर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिंदी का अन्य प्रांतों में प्रचार, भावी भारत की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया राजनीतियों का है और इसका सम्बन्ध अन्य प्रांतों के हित-अनहित से भी है, अतः इस क्षेत्र में इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिंदी भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र में काम करने वालों को सहायता करने के लिए सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए किंतु इस सम्बंध में हिन्दी भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

हिंदी-भाषा और साहित्य के सम्बंध में सिद्धांत सम्बंधी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल प्रश्नों का निवारण हो जावे तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वयं लुप्त हो जावेंगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका किंतु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में रखने का उद्योग किया है।

सारलेखन अथवा संक्षेपलेखन

१—बड़े-बड़े पाठों या लेखों के समीचीन अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि पाठक उनके विषयों का विश्लेषण करे, विषय के विकास का क्रम ठीक-ठीक समझ ले और गौण बातों से अपनी दृष्टि हटा कर प्रधान बातों पर केंद्रित करे। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि उसे इन पाठों या लेखों का सार ग्रहण करना है। इसके लिये उसे "सारलेखन" या "संक्षेपलेखन" के अभ्यास की अपेक्षा है। यों तो इस प्रकार के अभ्यास के बिना भी अनुभव, अध्यवसाय अथवा तीव्र बुद्धि से लेखों का सार ग्रहण किया जा सकता है परंतु "सारलेखन" के अभ्यास से पाठक का आधार वैज्ञानिक हो जाता है। उसे प्रधान बातों के छूट जाने की आशंका नहीं रहती। किसी भी पाठ्यग्रंथ या लेख के वैज्ञानिक अध्ययन की पहली सीढ़ी यही है कि उसे विषयविकास के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार लिख लिया जाय कि उसमें कोई अप्रधान बात न रहे और कोई प्रधान बातें उससे छूटने न पावें।

"सारलेख" या "संक्षेपलेख" की कोई भी परिभाषा ठीक नहीं उतरती। साधारण रूप से हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक उत्तम सारलेख या संक्षेप लेख में—

(१) विषय-विस्तार मूल के एक-तिहाई से अधिक नहीं हो। यह बात सदैव आवश्यक भी नहीं है। कभी-कभी विस्तार एक तिहाई से कम भी हो सकता है, कभी-कभी विस्तार इससे अधिक भी हो सकता है।

(२) मूल लेख के केवल महत्त्वपूर्ण ही अंश संग्रहणीय हैं, गौण अंश छोड़ दिये जायें।

(३) मूल लेखक की विचारधारा, उसके विषय-विकास आदि में कोई अंतर नहीं पड़े।

(४) जितने भी कम शब्द संभव हो सकें, उतने ही कम शब्दों का प्रयोग हो।

(५) इतना होने पर भी संक्षेप लेख प्रवाहमय, प्रसादगुणपूर्ण, सरस और स्वतःपूर्ण हो।

२—लेखों को साररूप में उपस्थित करने के अभ्यास से कई लाभ हैं। पहली बात तो यह है कि इससे अध्ययन करने का ढंग वैज्ञानिक बन जाता है। साधारणतः हमारा अध्ययन अत्यन्त उथला होता है। हम गौण और प्रधान बातों को सदैव ही अलग-अलग नहीं कर सकते। हमारी आँखें शब्दों में उलझती चली जाती हैं और हमारा मन भावों के प्रवाह में बहता चला जाता है। अंत में जो हमारे गाँठ पल्ले पड़ता है, वह बहुत थोड़ा है और हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि जो हमें मिला है वह निश्चय ही बहुमूल्य है। यदि हम संक्षेप में विषय-विकास लिखते चले जायँ तो हम लेखक के मंतव्य या लेख के सार के विषय में निश्चित हो सकते हैं। सार लेख उपस्थित करते समय हमें मूल लेख के प्रत्येक वाक्य पर अपनी धारणा केन्द्रित करनी होती है। पद को सावधानी से पढ़े बिना उसका सार नहीं लिखा जा सकता। इस प्रकार संक्षेप-लेखन के अभ्यास से वैज्ञानिक अध्ययन का जन्म होता है। दूसरा लाभ यह है कि सारलेखन के अभ्यास से भावप्रकाशन का ढंग भी वैज्ञानिक हो जाता है और लिखने में अस्पष्टता एवं व्यर्थ के विस्तार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। सक्षिप्त, प्रसादगुणपूर्ण प्रवाहमय और सरललेखन शैली सब क्षेत्रों में सामान रूप से समादृत है। ऐसे लेखनशैली अनायास ही नहीं सध जाती। इसके लिए ही प्रतिदिन सारलेखन पर थोड़ा बहुत परिश्रम करने की आवश्यकता है। तीसरी बात व्यवहार के क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है। सारलेखन के अभ्यास से तर्क-शक्ति सुलझ जाती है, विचारों और भावों को क्रमबद्ध करना आ जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुलझे हुए मस्तिष्क और संयोजित भावनाओं एवं विचारधाराओं की आवश्यकता है। एक दूसरा व्यवहारिक लाभ है समय और परिश्रम की बचत। आजकल प्रत्येक चलते व्यवसाय के सम्बन्ध में पत्रों का ताँता लगा रहता है और व्यवसाय चलाने वाला मनुष्य प्रत्येक पत्र को नहीं पढ़ता। अन्य लोग उसे आई हुई चिट्ठियों का सार लिखकर दे देते हैं और वह गौण बातों में उलझने जाता ही नहीं। यों लोग व्यर्थ के विस्तार को बुरा नहीं मानते परन्तु यह एक भयंकर दोष है और इससे बचना ही चाहिये। शब्दों के अधिक अवांछित एवं असुन्दर प्रयोग से किसी का दिवाला निकलता नहीं सुना गया है,

इससे लोग उनके प्रयोग में कंजूसी नहीं करते। परन्तु इससे शब्दों के सिक्के खोटे हो जाते हैं।

३—संक्षेपलेखन का अर्थ है कि

(क) तुम अपने शब्दों का अत्यन्त सतर्कता से प्रयोग करो और ठीक शब्द चुनो।

(ख) अपने वाक्यों को सावधानी से संक्षेप में गढ़ो।

(ग) सामग्री को वैज्ञानिक क्रम से रक्खो जिससे उसके भीतर भाव और विचार स्पष्ट रूप से ग्रहण किये जा सकें। अब यह प्रश्न हो सकता है कि अच्छे सारलेख के क्या गुण हैं। इस प्रश्न का उत्तर हम इस प्रकार दे सकते हैं—

(१) उसमें मूल लेख का मुख्य भाव या विचार होना चाहिये और साथ ही उसके पढ़ने से वही धारणा बँधे जो मूल लेख के पढ़ने से बँधती हो।

केवल प्रधान बात के उपस्थित करने से काम नहीं चलेगा। उसमें मूल लेख की आत्मा भरनी होगी।

(२) उसके प्रत्येक वाक्य इस प्रकार भाव-धारा में बँधे और शृंखलित हों कि पूरा सारलेख स्वतः पूर्ण हो और कहीं से भी उखड़ा नहीं जान पड़े।

(३) सारलेख को सुलझा हुआ होना चाहिये। उसके पढ़ने से मूल लेख के किसी भी अंश के सम्बन्ध में सन्देह बना नहीं रह सके।

(४) सारलेख संक्षिप्त हो और उसमें कम से कम शब्दों और सबसे अधिक सार्थक एवं उपयुक्त शब्दों का प्रयोग हुआ हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि तुम सब असम्बन्धित बातों को छोड़ दो; अनावश्यक और गौण विस्तार पर ध्यान न दो; कम से कम शब्दों में मुख्य विचार या भाव के प्रकाशन की चेष्टा करो परन्तु साथ ही इसका भी ध्यान रखो कि तुम्हारा आशय अस्पष्ट न हो जाये। संक्षेप इतना ही हो जितने में स्पष्टता और पूर्णता बनी रहे। तुम्हें यह समझ लेना चाहिए कि सारलेख को केवल संक्षेप ही नहीं होना है, उसे मूललेख का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करना है।

(५) सारलेख को ऊबड़-खाबड़ नहीं होना चाहिये। वह ऐसा छिन्न-भिन्न नहीं रहे। उसमें मूललेख की सब बातें आ जायें। ऐसा नहीं लगे कि

तुमने उसे पूर्णता नहीं दी, अधूरा छोड़ दिया है या कंकाल-मात्र खड़ा किया है। तुम्हें यह स्पष्ट-रूप से समझ लेना है कि मूललेख का कितना और कौन अंश मूल लेखक की भावना या उसके विचार के विकास के लिए आवश्यक है और कितना अंश इस पिछले अंश की पुष्टि के लिए गौण रूप से साथ है। लेख के शरीर में लेखक ने कहाँ आत्मा की प्रतिष्ठा की है, इसे जान लेना सारलेखक की पहिली सीढ़ी है। उस आत्मा को ही लेकर आगे बढ़ना होगा। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण भावना या विचार को घेर कर गौण भावनाओं और विचारों के वृत्त चलते हैं। तुम्हें इन वृत्तों से केन्द्र की ओर बढ़ना है।

(६) सारलेख तुम्हारे अपने वाक्यों में हो। चाहे वे कितने ही सार्थक हों। मूललेख के वाक्यों का प्रयोग मत करो। हो सकता है कि मूललेख का कोई वाक्य तुम्हें इतना अच्छा लगे कि तुम सारलेख में उसे स्थान देना चाहो परन्तु यह भी सम्भव है कि तुम अपने अन्य वाक्यों से उसकी पटरी न बैठा सको। जहाँ तक हो, सारलेख में मूललेख के किसी वाक्य का प्रयोग न हो। तुम सारलेख अपनी ही भाषा में लिखो

४—मूललेख के सम्बन्ध में तुम्हें दो बातें पूर्ण रूप से निश्चित करनी हैं। उनके विषय में निश्चित हुए बिना तुम्हारा काम एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकेगा। पहिले तो तुम्हें यह देखना है कि मूललेख का विषय क्या है; दूसरे, उस विषय पर क्या कहा गया है? इन दोनों बातों के सम्बन्ध में तुम्हें असंदिग्ध होना चाहिये। इसके लिये इस बात की आवश्यकता है कि तुम मूललेख को कई बार पढ़ो। एक बार पढ़कर तुम उसकी मुख्य वस्तु को स्पष्ट रूप से पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिये तुम्हें उसे एक, दो, तीन—तब तक पढ़ना चाहिये जब तक उसके विषय और उस विषय पर लेखक के मंतव्य के सम्बंध में कोई संदेह नहीं रहे। अब तुम अपना ध्यान विषय पर ही केन्द्रित करो और लेख का शीर्षक ढूँढ़ने की चेष्टा करो।

इस बार पद या कदम्बक को शीर्षक ढूँढ़ने की दृष्टि से पढ़ो और किसी ऐसे शब्द, शब्द-समूह अथवा वाक्य को सोचो जिसमें विषय गर्भित हो सके। इसके लिये तुम्हें पद के पहले और अंत के वाक्य पर विशेष रूप से ध्यान

देना चाहिये क्योंकि मुख्य आशय अधिकतर पद के आदि या अंत में ही होता है।

५—शीर्षक चुन लेने के बाद पद को सूक्ष्म रूप से ध्यान से पढ़ो। एक-एक वाक्य पढ़ो। शब्द-शब्द पढ़ो। जिन शब्दों का अर्थ तुम नहीं जानते हो, संदर्भ से अथवा कोष से उन शब्दों का अर्थ जानने की चेष्टा करो। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक विशेष शब्द अथवा विशेष शब्दों-समूह ही पूरे पद की कुञ्जी होता है। ऐसी परिस्थिति में उनका अर्थ न जानने से काम नहीं चलेगा। ऐसे कठिन शब्दों या शब्द-समूहों को सुलझा कर तुम लेखक के भाव-विकास अथवा विचार-विकास को पकड़ सकते हो, अन्यथा विस्तार में भटक जाने का भय है।

इसके बाद तुम्हें मुख्य आशय चुनना है। यह कठिन काम है। तुम्हें यह देखना है कि पद का कौन-सा भाग महत्त्वपूर्ण है और कौन-सा गौण है—महत्त्वपूर्ण भाग का कौन-सा अंश ऐसा है जिसकी तुम उपेक्षा नहीं कर सकते? हो सकता है कि महत्त्वपूर्ण अंश को छाँटने के लिए तुम्हें पद को कई बार पढ़ना पड़े। चेष्टा करो कि तुम महत्त्वपूर्ण अंशों को रेखांकित किये बिना ही हृदयंगम कर सको, परन्तु यदि आवश्यक हो तो मूल के महत्त्वपूर्ण शब्दों, शब्द-समूहों, वाक्यांशों और वाक्यों को रेखांकित कर लो। आवश्यकता इस बात की है कि यह जान सको कि—

(१) महत्त्वपूर्ण अंश कौन से हैं?

(२) अप्रधान अंश कौन से हैं?

(३) लेखक ने दोनों में किस प्रकार सन्तुलन स्थापित किया है; इसके पश्चात् तुम अलग-अलग लिख सकते हो :—

शीर्षक

विषय

महत्त्वपूर्ण विचार या भाव (आशय)

६—यदि चाहो तो महत्त्वपूर्ण विचारों या भावों को लेकर पहले आशय का खाका बना लो। इनके बीच में शृंखला न भी हो तो भी कोई बात नहीं। फिर इन कड़ियों को पूरी करो। इस प्रकार तुम मूल लेखक के सार के

निकट पहुँच जाओगे। परन्तु अधिक अच्छा हो यदि तुम पहले महत्वपूर्ण भावों या विचारों को सूत्ररूप में लिख लो। फिर उन्हें लेख के क्रम के अनुसार रखो। इन सूत्रों को वाक्यों में ढालो, परन्तु यह देखते चलो कि प्रत्येक का विस्तार उतना ही है जितना मूललेख में था। सार लेख में विचारों का संतुलन, क्रम-विकास एवं विस्तार मूललेख के अनुपात के अनुसार ही हो।

याद रखो कि सारलेख में मूल की कोई बात छोड़ी नहीं गई हो, न कोई बात तुम्हारी ओर से जोड़ी ही गई हो— वह मूल का सच्चा प्रतिनिधि हो। यह आवश्यक नहीं है कि उनके क्रम में मूल के क्रम से अन्तर नहीं हो, तुरंत जहाँ तक हो सके, वही क्रम बनाये रखो जो मूल में है। यदि संक्षेप लेख के शब्दों की संख्या दी गई हो तो उस तक पहुँचने का प्रयत्न करो। जहाँ इस प्रकार की कोई संख्या दी गई हो, वहाँ मूल के शब्दों को गिन कर उसके एक तिहाई शब्दों का प्रयोग करो।

७—तुम्हारी भाषा-शैली अलंकारहीन, शुद्ध और प्रवाहमयी हो। हो सके तो वह बामुहावरा भी हो और सरल भी हो।

८—जहाँ तक हो सके संक्षेप को तृतीय पुरुष सर्वनाम में ही लिखा जाना चाहिये और उसी के अनुरूप क्रियाओं का रूप भी बदलते रहना चाहिये।

९—सारलेख के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात स्वयं संक्षेप-कला है। शब्दों की संख्या को कम से कम करने की चेष्टा की जाती है। ऐसा करने के कई ढङ्ग हैं। विद्यार्थी को दुहराई हुई बातों, दृष्टांतों, विस्तार आदि को हटा देना होगा। वह अलंकारों के स्थान पर सीधी-सीधी बात कहे, शब्दाडम्बर वाक्यों को संक्षिप्त करे और विशेष शब्द-समूह के लिए किसी विशेष शब्द का प्रयोग करे। इस प्रकार वह संक्षेपलेखन में सफल हो सकेगा।

१०—(१) तुम्हें चाहिये कि संक्षेपलेखन को बड़े अक्षरों में नहीं लिखो जिससे उसके विस्तार के सम्बन्ध में तुम्हें धोखा रहे।

(२) अपनी ओर से कुछ न जोड़ो और व्यर्थ, असंबन्धित बात एक न कहो। लेख में जो कहा गया है, हो सकता है कि तुम उससे सहमत न हो, परन्तु चाहे तुम उससे सहमत हो या असहमत, तुम्हें अपना मत प्रगट करने

का कोई अधिकार नहीं है। मूललेख मात्र ही तुम्हारा आधार होना चाहिये।

(३) मूललेख के शब्द-समूहों और वाक्यों का प्रयोग मत करो। तुम्हारा संक्षेपलेख, जहाँ तक हो सके, तुम्हारे ही शब्दों में होना चाहिये।

(४) तुम्हें मुख्य विचार-धारा और तत्सम्बन्धी अन्य गौण विचार-धाराओं के सम्बन्ध में निश्चित हो जाना चाहिये। यह न हो कि भ्रांतिवश गौण विचार-धारा या गलत विचार-धारा पर बल देने लगो। मूल को पढ़ते समय अपने व्यक्तिगत विचारों को ताक पर धर दो और उसे भली प्रकार समझो।

(५) सारलेख की शैली पर भी ध्यान दो, विशेषतः इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारे वाक्यों में क्रम-विकास एवं तारतम्य है या नहीं। लेखन-शैली की शुद्धता और एकता नितान्त वांछनीय है। सारलेख में बोलचाल के मुहावरों, घूमफेर के कथन, व्यंग आदि को स्थान नहीं मिलना चाहिए। इसे तो मूल की मुख्य बात का प्रतिनिधित्व करना है। पहली बात यही है। यह दूसरी बात है कि संक्षेपलेख संक्षिप्त और शुद्ध हो।

११—नीचे के उदाहरणों में चिन्हित शब्द-समूहों और वाक्यांशों के संक्षेप का अध्ययन करो—

(१) अभी रेडियो <u>अमीरों की चीज है, सब लोगों तक नहीं पहुँच</u> सका है। वह केवल कुछ <u>नगर में रहने वालों</u> के मन बहलाने की वस्तु है। (अभी रेडियो <u>सर्वसाधारण</u> तक नहीं पहुँच सका है। वह केवल कुछ <u>नागरकों के मनोरञ्जन</u> की वस्तु है)

(२) वर्षा से किसान के जो रागात्मक सम्बन्ध हैं उनका पूरा चित्र उन लोक-गीतों में साफ उतरा है जिन्हें इस ऋतु में हम गाँवों में सुन सकते हैं। नगर के सहृदय मेघ को दूसरी दृष्टि से देखते हैं, विशेष कर धनी मानी। वे उसे साहित्य और परंपरा के भीतर से देखते हैं। किसान के तो जल ही जीवनाधार है। (वर्षा ऋतु में गाँवों में सुनाई पड़ने वाले लोक-गीतों में वर्षा के प्रति किसान का रागात्मक सम्बन्ध फूट पड़ा है। नगर के धनी-मानी मेघ को साहित्य के भीतर से देखते हैं, परन्तु किसान के तो प्राण ही इनमें पड़े रहते हैं।)

(३) जयदेव की कविता का अमृतपान करके तृप्त, चकित, मोहित और घूर्णित कौन नहीं होता, और किस देश में कौन ऐसा विद्वान् है जो कुछ भी संस्कृत जानता हो और जयदेवजी की काव्यमाधुरी का प्रेमी न हो। जयदेवजी का यह अभिमान कि अंगूर और ऊख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है, बहुत सत्य है। इस मिठाई को न पुरानी होने का भय है न चींटी का डर है। मिठाई है पर नमकीन है—यह नई बात है। सुनने पढ़ने की बात है पर गूँगे का गुड़ है। (जयदेव की कविता पढ़कर प्रत्येक पाठक रसविभोर और आश्चर्यान्वित हो जाता है। संसार का प्रत्येक संस्कृत विद्वान जयदेव के काव्य का रसिक होगा। उनकी कविता का शब्द-माधुर्य और भावविन्यास अङ्गूर और ऊख की मिठास से कहीं बढ़कर है और उनका वाक्य चातुर्य अत्यन्त आकर्षक है। उस अमर-काव्य को हृदयगम करके मौन रह जाना पड़ता है।)

(४) प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत देखता है। वर्त्तमान की तो कोई बात नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। (कवि प्रतिभा लेकर जन्म लेता है। उसी के द्वारा वह पिछली बातों को इतने निकट से देख लेता है जैसे वे उसके सामने घटित हुई हों और होनेवाली बातों का सामीप्य ग्रहण करता है; उसके कथन में चमत्कार आ जाता है और उसके काव्य के सुनने से रस की अत्यन्त तीव्र अनुभूति होती है।)

(५) हे कवित्व ! हे महापुरुष ! यह दुःखी लता मिथ्या तुम्हारे ही संसर्ग से रमणीय कल्पना हुई है। इसीसे हे अलौकिक शक्ति सम्पन्नदेव ! तुमको हम पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। तुमने दीन की ओर दया करके उसका कष्ट-मोचन किया है। तुमने मनुष्यों का हृदय मिथ्या की ओर बदल दिया है। (साधारण व्यवहार में हम जिसे मिथ्या या झूठ कहते हैं, वही काव्य में

कवि-कल्पना के नाम से प्रसिद्ध है। झूठ को सब बुरा कहते हैं परन्तु कल्पना सभी को प्रिय है। मिथ्या को आदरणीय बनानेवाला कवित्व अभिनन्दनीय है।)

(६) हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रङ्ग दिखाया करती है, वह प्रपञ्चात्मक संसार का एक बड़ा आईना है, जिसमें जैसा चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिल-बहलाव है? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी नहीं पहुँच सकता (हमारे मन के भीतर संसार की बातों के संबंध में जो उथल-पुथल मचा करती है, वह जितना आकर्षक है उतना मित्रों का साहचर्य भी नहीं। उसमें आश्चर्यजनक वैचित्र्य है। उसकी सुन्दरता में मन खो जाता है।

अभ्यास

नीचे के उद्धरणों का संक्षेप लिखोः—

(१)

वेगवती महानदी स्वयम् बालू जमा कर लाती है और अन्त में अपनी ही राह आप रोकती है। कभी-कभी पुरुष की सभ्यता भी वैसी ही एक प्रबल नदी मालूम होती है। उसके वेग से, मनुष्य के लिए जो सामान्य आवश्यक वस्तुएँ हैं वे भी चारों ओर से इकट्ठी हो ढेर लगा रही हैं। सभ्यता की साल-साल की आवर्जना (जंजाल) पर्वताकार हो रही है और हमारी संकीर्ण नदी क्षीण-स्रोत हो, परिवार के घन सेवार के जाल में फँस कर छुप-सी गई है। किन्तु उसमें भी एक प्रकार की शोभा सरसता और श्यामलता है। उसमें वेग नहीं है, बल नहीं है, व्याप्ति नहीं है, पर मृदुता है, स्निग्धता है और सहिष्णुता है।

और यदि हमारी आशंका सच हो तो हो सकता है कि यूरप की सभ्यता भीतर ही भीतर जड़ता की विशाल मरुभूमि सृष्टि कर रही है। जो

गृह मनुष्यों के प्रेम का एकान्त स्थान है, कल्याण की निर्झर-भूमि है, पृथ्वी का सब कुछ लोप हो जाने पर भी जहाँ थोड़ी भी जगह रहनी मनुष्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, उस गृह को भी यह आवश्यक वस्तुओं के ढेर से भर रही है और हमारे हृदय की जन्मभूमि की भावमयी, रूपमयी आकृति अब आवरणों के कारण क्रमशः भावशून्य और नीरस हो रही है।

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

(२)

अहंकार के कुफल के सम्बन्ध में सभी नीति-शास्त्र हमें सतर्क किया करते हैं। अहंकार से लोगों का पतन क्यों होता है? प्रथम कारण तो यह है कि अपने बड़प्पन पर अति विश्वास होने से लोग दूसरों को ठीक तरह नहीं जान सकते हैं। जिस संसार में दस आदमियों के साथ रहना और काम करना पड़ता है वहाँ तभी सब विषयों में सफलता मिलनी सम्भव है जब हम अपनी तुलना से दूसरों को यथार्थ रूप में जान सकें। चीन देश आत्माभिमान को प्रबलता के कारण जापान को नहीं पहचान सका, इसीलिये उसकी ऐसी आकस्मात् दुर्गति हुई। जर्मनी से युद्ध होने से पहले फ्रांस की भी वही हालत हुई थी। और यह कहावत तो हमारे देश में प्रसिद्ध है कि "अति दर्पे हता लङ्का।" अँग्रेजी में एक प्रवाद है कि ज्ञान ही बल है (Knowledge is power.) क्या घर में और क्या कर्मक्षेत्र में, दोनों ही जगह, दूसरों के संबंध में सम्यक ज्ञान होना ही हमारा प्रधान बल है और अहंकार उस ज्ञान के विषय में अशक्त करके हमारी दुर्बलता का कारण बन जाता है। अहंकार में एक और विपत्ति यह है कि वह सब को हमारे प्रतिकूल खड़ा करता है। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो वह संसार के निकट नाना विषयों में ऋणी होता है। अतएव जो इस ऋण को विनय-पूर्वक स्वीकार करना नहीं चाहता है उसके लिए आगे ऋण मिलना कठिन हो जाता है।

पर इससे बढ़ी एक और विपत्ति है। बड़े को बड़ा समझने में एक प्रकार का आध्यात्मिक आनन्द है। यह आनन्द आत्मा का विस्तार होने से होता है। पर अहंकार हमें अपनी संकीर्णता में ही आबद्ध कर रखता है।

जिसे भक्ति है वही जानता है कि अपने से बाहर के बृहत्व और महत्व का अनुभव करने से ही आत्मा की मुक्ति होती है।

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

(२)

आमतौर पर सत्य के मानी हम सच बोलना ही समझते हैं। लेकिन हमने तो सत्य का विशाल अर्थ में प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य ही सत्य हो। इस सत्य को सम्पूर्णतया समझने वाले को दुनिया में दूसरा कुछ भी जानना नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान इसमें समाया है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं। इसमें जो न समा सके वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है, तो फिर सच्चा आनन्द तो मिल ही कैसे सकता है? यदि हम इस कसौटी का प्रयोग करना सीख जायं तो तुरंत ही हमें पता चलने लगे कि कौन सी प्रवृत्ति करने योग्य है और कौन सी त्याज्य; क्या देखने योग्य है, क्या नहीं; क्या पढने योग्य है, क्या नहीं।

लेकिन सत्य जो पारस मणि है, कामधेनु रूप है, कैसे मिले? इसका जवाब भगवान् ने दिया है, अभ्यास से और वैराग्य से। सत्य की ही लगन अभ्यास है; और उसके बिना दूसरी तमाम चीजों के लिये आत्यन्तिक उदासीनता वैराग्य है। यह होते हुए भी हम देखा करेंगे कि एक का सत्य दूसरे का असत्य है। इससे घबराने की कोई ज़रूरत नहीं। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न मालूम होने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दीख पड़ने वाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर भी कहीं पर आदमी को भिन्न नहीं मालूम होता! तो भी हम यह जानते हैं कि वह एक ही है। लेकिन सत्य ही परमेश्वर का नाम है, इसलिए जिसे जो सत्य लगे वैसा वह बरतेंगे तो उसमें दोष नहीं, यही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। यदि ऐसा करने में गलती होगी तो वह भी सुधर जायगी। क्योंकि सत्य की शोध के पीछे तपश्चर्या होती है यानी स्वयं दुःख सहन करना होता है, उसके लिए मरना भी पड़ता है, इसलिये उसमें स्वार्थ की तो गंध तक नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ शोध करते हुए आज तक कोई ऐसा न हुआ जो आखिर तक गलत रास्ते गया हो।

रास्ता भूलते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्ते पर चलने लगता है। इसीलिए सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति तो सर क सौदा है, अथवा वह हरि का मार्ग है, अतः उसमें कायरता की गुञ्जाइश नहीं। उसमें हार जैसा कुछ है ही नहीं। वह तो मर कर जीने का मन्त्र है।

(महात्मा गांधी)

(४)

सत्याग्रही निराश नहीं होता। सत्य ही उसकी तलवार होने से उसे तलवारों तथा गोली-बारूदों का भय नहीं होता। वह आत्मबल और प्रेम से शत्रु को वश में कर लेता है। मित्र-मण्डली में प्रेम की कसौटी नहीं होती। मित्र मित्र पर प्रेम करे, तो वह कोई नवीनता नहीं है; वह गुण नहीं है, पर शत्रु के प्रति मित्रता रखने में ही प्रेम की कसौटी है, इसमें पुरुषार्थ है और इसी में सच्ची बहादुरी है। राज्यकर्त्ताओं की ओर भी हम ऐसी दृष्टि रख सकते हैं। ऐसी दृष्टि रखने से हम उनके कार्य की कीमत समझेंगे और उनकी भूलों के लिये दोष के बदले प्रेमभाव से वे भूलें उन्हें बता कर दूर कर सकेंगे। इस प्रेमभाव में भय को स्थान नहीं है। निर्बलता तो होती ही नहीं।

प्रेम लड़ सकता है: प्रेम को बहुत बार लड़ना पड़ता है। सत्ता के मद में मनुष्य अपनी भूल नहीं देखता; ऐसे समय सत्याग्रही, बैठा नहीं रहता; पर स्वयं दुःख सहन करता है। सत्ताधीश के हुक्म का, उसके क़ायदे का सादर निरादर करता है और इस निरादर से आये हुए कष्टों को—जेल, फाँसी इत्यादि को सहन करता है। इससे आत्मा मुक्त होती है, इसमें कालक्षेप नहीं होता और इस प्रकार विनयपूर्वक किये गये निरादर में यदि पीछे से भूल देखने में आवे, तो इस भूल का परिणाम-मात्र सत्याग्रही और उसका साथी सहन करता है। इसमें सत्ताधीश के साथ बुराई नहीं होती; किन्तु अंत में वह अपने वश में हो जाता है। वह जान लेता है कि सत्याग्रही के ऊपर मेरी हुकूमत नहीं चल सकती—सत्याग्रही की सम्मति के बिना वह उससे एक भी कार्य नहीं ले सकता, यह स्वराज्य की परिसीमा हुई। क्योंकि इसमें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता आ गई है।

ऐसा सत्याग्रह शिक्षित सत्ताधीश के सामने ही हो सकता है, ऐसा में

नहीं मान सकता। वज्र समान कठोर हृदय वाला भी आत्मबल की अग्नि में पिघल सकता है। यह अतिशयोक्ति नहीं है; किन्तु गणित के सूत्रों के समान है। यह सत्याग्रह भारत का मुख्य शस्त्र है। भारत में दूसरे शस्त्र भी हैं पर सत्याग्रह भारत में विशेष उपयोग में आया हुआ शस्त्र है। यह सर्व-व्यापक शक्ति है। प्रत्येक समय काम में आने योग्य है। इसके लिए काँग्रेस आदि की जुरूरत नहीं। जिसको इस शक्ति का ज्ञान हो जाता है, वह इसका उपयोग किये बिना नहीं रहता। जिस तरह पलकें आँख को रक्षा अपने आप किया करती हैं, उसी तरह सत्याग्रह प्रगट होकर स्वतः आत्म स्वतन्त्रता की रक्षा करता है।

(महात्मा गाँधी)

(५)

रामायण का प्रधान विशेषत्व यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यंत विस्तृत रूप से वर्णित हुई हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, स्वामी स्त्री में जो धर्म-बंधन है, जो प्रीति और भक्ति का संबंध है, उसका रामायण में बढ़ा-चढ़ा कर बखाना है कि वह ठीक महाकाव्य के उपयुक्त हुआ है। देश-विजय, शत्रुसंहार, दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों के प्रचण्ड पदाघात, ये सारे व्यापार साधारणतः महाकाव्य में आन्दोलन और उद्दीपन के संचारक होते हैं। किंतु रामायण की महिमा राम-रावण के युद्ध में नहीं है; वह युद्ध घटना राम और सीता की दाम्पत्य-प्रीति का उज्वल बनाने के उपलक्ष्य मात्र है। पिता के प्रति पुत्र की वश्यता, भाई के लिये भाई का आत्मत्याग, प्रतिपत्नियों में परस्पर की निष्ठा और प्रजा के प्रति राजा के कर्त्तव्य कहाँ तक पालन किये जा सकते हैं; यही रामायण में दिखलाया गया है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेष की प्रधानतः गृह-चरित्र किसी देश के महाकाव्य में इस प्रकार वर्णनीय विषय नहीं समझे गये हैं।

इससे केवल कवि का ही परिचय नहीं होता, भारतवर्ष का भी परिचय होता है। भारत में गृह और गृहधर्म का कितना महत्त्व है, यह इसीसे समझा जा सकता है। हमारे देश में गृहस्थधर्म सबसे ऊँचा था, इस बात

को यह काव्य प्रमाणित करता है। गृहस्थाश्रम हमारे अपने सुख और सुविधा के लिए नहीं था। वह सारे समाज को धारण किए रहता था और मनुष्य को यथार्थतः मनुष्य बनाये रखता था। रामायण भारतीय आर्यसमाज की भित्ति है, रामायण उसी गृहस्थाश्रम का काव्य है। रामायण ने उसी गृहस्थाश्रम को उच्छृङ्खलावस्था में डाल कर बनवास के दुःख से उसे गौरवान्वित किया है। मन्थरा और कैकेयी के कुटिल कुचक्र के कठिन आघात से अयोध्या का राज-गृह दुखस्थापन्न हो गया था, तथापि गृहधर्म ज्यों का त्यों बना रहा। रामायण इसी गृहधर्म की दुर्भेद्य दृढ़ता की घोषणा कर रहा है। रामायण ने बाहुबल को नहीं; जिगीषा को नहीं, राष्ट्रगौरव को नहीं, केवल शांत रसास्पद गृहधर्म को ही करुणा के अमृतह्रद से अभिषिक्त कर उसे महान् शौर्यवीर्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया है।

(रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

(६)

संसार में जिस प्रकार मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द भी सर्वोत्कृष्ट अलौकिक सुख है। मनुष्य के पुरुषार्थ का यही अलौकिक फल है जो सच्चे मुमुक्षु को प्राप्त होता है। यह आनन्द किसी धर्म या जाति विशेष के ही लिए नहीं है और न यह किसी देश और काल ही के लिए है। मुमुक्षु सदा सभी देश, काल, जाति और धर्म में हुए हैं, होते हैं और हो सकते हैं। मनुष्य जीवन का यही एकमात्र उद्देश्य है। यही मनुष्य के पुरुषार्थ का अनन्य फल है, इसके अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। किसी धर्म और सम्प्रदाय में रहता हुआ मनुष्य मोक्ष-लाभ कर सकता और उसके सर्वोत्कृष्ट फल ब्रह्मानन्द* को पा सकता है। इसके लिए भगवेवस्त्र धारण करने की आवश्यकता नहीं है और न घर-बार त्यागने की। जिसमें द्वैतभाव बना* है और जिसने अहङ्कार नहीं छोड़ा वह भगवा पहन कर और गृह त्याग कर क्या कर सकता है? कहते हैं कि जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य काशी की गलियों से होकर जा रहे थे। मार्ग में चमारी झाड़ू दे रही थी। भगवान् ने उसे अस्पृश्य जाति का समझ ठहर कर किनारे होने को कहा।

चमारी थी वाक्यपटु* । उसने कहा, महाराज, सिर मुड़ाने पर भी भेद-भाव बना ही है ? शंकराचार्य जी के ऊपर उसकी इस स्पष्टवादिता का इतना प्रभाव पड़ा कि वे उसके चरणों पर गिर पड़े और भेद-भाव को सदा के लिए तिलांजलि* दे दी ।

(७)

गृहस्थों का सबसे परमावश्यक कर्त्तव्य जो संतान के प्रति है, वह उनको सुशिक्षित करना है और उन्हें सच्चा मनुष्य बनाना है । सबसे अधिक आवश्यक तो यह है कि बच्चों को जहाँ तक हो सके, बोलने की लत न पड़ने देनी चाहिए और उन्हें निर्भय और साहसी बनाना चाहिए । कितने लोग बच्चों को डराया करते हैं; इससे लड़के भीरु और साहसहीन हो जाते हैं । बच्चों के साथ ऐसा बर्ताव करो कि वे तुमसे डरें न, किन्तु तुम्हें श्रद्धा और भक्ति से देखें । कितने लोग बच्चों पर अपना इतना आतंक रखते हैं कि बच्चे उनसे सदा काल की तरह डरते रहते हैं । ऐसे लोगों के बच्चे उनके सामने बड़े सीधे-सादे दिखाई देते हैं, पर उनकी अनुपस्थिति में बड़े-बड़े खोटे काम करते हैं । बच्चों को तनिक-तनिक अपराध पर मारना ठीक नहीं है । इससे वे तुमसे सदा अपने अपराध को छिपाने की चेष्टा करते रहेंगे । जितना काम समझाने से चलता है, उतना दण्ड से नहीं । बच्चों के अंतःकरण अपने आप सहानुभूति, अनुकम्पा आदि सद्गुणों का अवलम्बन और सत्कर्मों का आचरण करें न कि तुम्हारे भय से । उनका जैसा व्यवहार तुम्हारी उपस्थिति में हो, वैसा ही तुम्हारी अनुपस्थिति में भी हो । उनकी आत्मा को स्वतंत्रता दो और उन्हें स्वावलम्बन सिखाओ । ऐसे पुत्र और उनके पिता दोनों सर्वत्र पूज्य और आदरणीय होते हैं ।

(८)

हमारे देश के लोग धन का अपव्यय* विशेषकर दान और उत्सवों आदि में करते हैं । दान देना एक अच्छी बात है; पर वह दान सुपात्र को देना चाहिए दान के पात्र* दो ही सकते हैं—एक विद्वान और दूसरे दीन

और दरिद्र पुरुष। ऐसे पुरुष को दान देने से कोई लाभ नहीं जो दान को अपव्यय में लगावे अथवा उसे संचय करके जमा रखे। हमारे देश में विद्वानों को दान देने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है। शास्त्रों में विद्वान् को दान देने की बड़ी प्रशंसा की गई है। उस समय आज-कल की भाँति गाँव-गाँव में पाठशालाएँ और बड़े-बड़े नगरों में स्कूल और कालेज नहीं थे। हमारे बच्चों की शिक्षा और उनके पालन का भार हमारे देश के विद्वान् ब्राह्मणों के मत्थे था। वे लोग अपनी सारी आयु देश-सेवा में लगाते थे। वे बच्चों को, जिन्हें लोग आठ या दस वर्ष की अवस्था में उनके आश्रमों में छोड़ आते थे, पालन-पोषण करते हुए शिक्षा देते थे। वे कृषि आदि कोई दूसरी आजीविका* नहीं करते थे। भरण-पोषण तथा उनके शिष्यों के भरण-पोषण* का भार देश पर था। हमारे देश के लोग उन आचार्यों का यथासमय अन्न धनादि दान से पूजा करते थे। विद्वानों को दान देने का यह भी तात्पर्य है कि विद्वान् हमारे दिये हुए धन को किसी देश-हित के काम में लगावें। विद्वान् मनुष्य समाज के मुख हैं। जिस प्रकार मुख में खाया हुआ अन्न रस बन कर सारे शरीर के अंग-प्रत्यंग को पुष्ट करता है, उसी प्रकार विद्वान् को दिया हुआ दान सारे मनुष्य समाज को किसी न किसी रूप में लाभ पहुँचाता है।

(६)

केवल महाभारत को पढ़ने से ही इस बात का पता लग जाता है कि हमारी उस समय की सभ्यता में जीवन का वेग कितना प्रबल था। उसमें कितने ही समाज-विप्लव और कितनी ही परस्पर विरोधी शक्तियों की टक्करें देख पड़ती हैं। वह समाज किसी एक बड़े बुद्धिमान् कारीगर आदमी के हाथ का गढ़ा हुआ अत्यंत सुन्दर, सुसज्जित, समता-युक्त 'कल' का समाज न था। उस समाज में एक तरफ लोभ, हिंसा, भय, द्वेष और असंयत अहंकार ने और अपूर्व साधुभाव ने मनुष्य-चरित्र में हलचल डाल कर उसे सजग सचेत बना रक्खा था। उस समाज में सभी पुरुष साधु न थे, सभी स्त्रियाँ सती न थीं; और सभी ब्राह्मण तपस्वी न थे। उस समय में विश्वामित्र ऐसे क्षत्रिय थे; द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और परशुराम ऐसे ब्राह्मण थे; और कुन्ती ऐसी सती थी; क्षमाशील

युधिष्ठिर ऐसे राजा थे; शत्रुओं के समाज में भलाई और बुराई प्रकाश और अन्धकार आदि जीवन के लक्षण वर्त्तमान थे। उस समय का मनुष्य समाज रेखा-चिह्नित, विभाग युक्त, स्थल और सिलसिलेवार नक्काशी के समान नहीं था। विप्लव के द्वारा क्षोभ को प्राप्त हुई विचित्र मनुष्य प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात के कारण सदा जाग्रत रहने की शक्ति से परिपूर्ण, उसी समाज में हमारी वह प्राचीन सभ्यता छाती फुलाए विशाल शाल वृक्ष की तरह सिर ऊँचा किए विराजमान थी।

उसी प्रबल वेगवती सभ्यता को आज हम अपनी कल्पना से निपट, निश्चेष्ट, निर्विरोध, निर्विकार, निरापद और निर्जीव बताकर कहते हैं कि हम लोग उसी सभ्य जाति के हैं—हम लोग वही आध्यात्मिक आर्य्य हैं। हम लोग केवल जप-तप करेंगे; दलबंदी करेंगे और समुद्र यात्रा को रोक कर, दूसरी जातियों को अछूत बता कर, उस महान् हिन्दू नाम को सार्थक करेंगे।

(१०)

मनु ने यह भी कहा है कि "मरण-काल तक अव्यभिचारी बन कर रहना स्त्री पुरुष का परम धर्म है। विवाहित स्त्री-पुरुष वियुक्त न होकर किसी प्रकार व्यभिचार न करें, इस विषय में सदा सावधान रहना चाहिए।" आदर्श पति प्रेममय, आशुतोष, सदानन्द और पत्नी को लक्ष्मी समझता है। इससे वह आप कभी व्यभिचार में लिप्त होकर अपनी पत्नी को असन्तुष्ट करना नहीं चाहता। वह अपनी पत्नी को आजीवन अपने साथ रखकर उसकी रक्षा करता है। वह जानता है कि स्त्री-जाति सामान्य दुःसंग से भी सदा रक्षणीय है। क्योंकि इस विषय में थोड़ी-सी भी असावधानी की जाय तो वह स्त्री श्वसुर-कुल और पितृकुल, दोनों को कलंकित कर देती है। इससे पति उसे सदा अपने निकट रखता है। जिस घर में पति-पत्नी सर्वदा एकत्र रह कर संसार कार्य का निर्वाह करते हैं उसमें व्यभिचार की कोई सम्भावना नहीं रहती। प्रेममय के अंक में प्रेममयी सदा सुख से रहती है और प्रेममय पति भी प्रेममयी की सेवा-शुश्रुषा से स्वर्ग-सुख भोगता है।

(११)

संसार में मनुष्यों को सबसे पहले आत्मरक्षा की चिंता करनी पड़ती है। आत्म-रक्षा के ही भाव से प्रेरित होकर उसे अपनी उन्नति करनी होती है। यदि वह अपनी उन्नति न करे तो, अपनी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। काल का प्रवाह मनुष्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर करता है। यदि मनुष्य काल के साथ नहीं जा सकता तो वह नष्ट भी हो जायगा। अतएव यह तो निश्चित् ही है कि सभी लोगों को अपनी स्थिति और उन्नति के लिये प्रयास करना पड़ता है। इसी प्रयास से मनुष्यों में पारस्परिक संघर्षण होता है। कुछ लोग दूसरों की उन्नति को अपनी उन्नति के लिए विघ्न-स्वरूप समझकर उन्हें अवनत करने की चेष्टा करते हैं। तभी हिंसा का भाव उनमें उत्पन्न होता है। मनुष्य में जिगीषा का भाव इतना प्रबल हो गया है कि जीवन अब संग्राम समझा जाता है। इस युद्ध-भूमि में वही कृतकृत्य समझा जाता है, जो दूसरों को नष्ट कर उसके नाश की भित्ति पर अपनी उन्नति का निर्माण करता है। परन्तु सच पूछो, तो मनुष्य प्रेम ही के बल से आत्म-रक्षा कर सकता है, और उसी से उसकी उन्नति भी हो सकती है। पारस्परिक संघर्षण से नहीं, किन्तु पारस्परिक सहायता से ही मानव-समाज की स्थिति है। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में केवल आत्मीयों के प्रति मनुष्य का खिंचाव होता है। क्रमशः उसका यह खिंचाव बढ़ता जाता है। अंत में वह एक बृहत् समाज में व्याप्त हो जाता है। पहले जो भाव एक परिवार में सीमाबद्ध था वह अब देश-व्यापी हो गया। पहले देश की सीमा एक क्षुद्र भूमि-खंड में परिमित थी। अब देश का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। सौ वर्ष पहले जो परस्पर प्रतिद्वंद्वी थे, वे ही अब एक लक्ष्य सामने रख कर एक ही पथ पर चल रहे हैं। जो लोग पहले देश के शत्रु समझे जाते थे वे ही अब देशवासी हो गये हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का प्रेम एक देश में ही चिरकाल तक आबद्ध रहेगा? देश कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह सीमाबद्ध ही है परन्तु मनुष्य का प्रेम असीम है। इसीलिए अब हम देख रहे हैं कि प्रेम का भाव देश की सीमा का उल्लंघन कर मनुष्य-मात्र के प्रति आकृष्ट हो रहा है।

(१२)

इसमें संदेह नहीं कि साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिए हिन्दी-साहित्य ही की विचार-धारा पर एक बार ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिन्दी-काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के आदि काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद आध्यात्मवाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त कवि उत्पन्न हुए। तदनन्तर शृंगार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सब होने पर भी हिन्दी साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। परन्तु जिस भावना के उद्रेक से चन्द कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की वहसूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिन्दू जाति का अधःपतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिन्दू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने अपनी गौरव-रक्षा के लिये अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसंत-ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में भी हम शौर्य के स्थान में शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति हिम्मत बहादुर की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पददलित हिन्दू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है, परन्तु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता नहीं

अवलम्बित है। अपनी हीनावस्था में भी हिन्दू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किए हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर, तुलसी और बिहारी ने शक्ति-हीन हिन्दू-जाति में ही जन्म ग्रहण किया था परन्तु उनकी रचनाएँ सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव सम्पन्न हो जाती है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है, पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। जब तक देश उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती है। जब वह अवनतिशील होता है, तब साहित्य की गति बदल जाती है। परन्तु उसका वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में, सत्य है।

(१३)

साहित्य के व्यापक अंगों में राजनीति भी उसका एक अंग है। अतएव राजनीति की पुष्टि भी वह चाहता है। पर जो लोग राजनीतिक क्षेत्र से यह प्रचार करते हैं कि पहले अधिकार तब सुधार, उनके इस गुरु प्रभाव से वह रुचना नहीं चाहता। कारण, यह व्यक्तिमुख की उक्ति उसकी दृष्टि में, 'पहले मुर्गी, फिर अंडा' या 'पहले अंडा, तब मुर्गी' प्रश्न की तरह रहस्यमयी तथा जटिल है। वह केवल बहिर्जगत को अंतर्जगत के साथ मिलाता है। उदाहरण के लिए भारत का ही बाहरी संसार लिया जाय। साहित्यिक के कथन के अनुसार भारतीयों की भीतरी भावनाओं का ही बाहर यह विवादग्रस्त भयंकर रूप है। जिस बिगाड़ का अंकुर भीतर हो, उसका बाहरी सुधार बाहरी ही है, गंदगी पर इत्र का छिड़काव इस तरह विवाद-व्याधि के प्रशमन की आशा नहीं। दूसरे जो रोग भीतर है, जड़-प्राप्ति-द्वारा, रुपये-पैसे या ज़मीन से उसका निराकरण हो भी नहीं सकता। मानसिक रोग मानसिक सुधार से ही हट सकता है। साहित्य की व्यापक महत्ता यहीं सिद्ध होती है।

जीवन के साथ राजनीति का नहीं, साहित्य का संबंध है। संस्कृत जीवन कुम्हार का बनाई मिट्टी है, जिससे इच्छानुसार हर तरह के उपयोगी बर्तन गढ़े जा सकते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए हम प्रायः एक दूसरा तरीका

अख्तियार कर बैठते हैं, वह साहित्य के भीतर से अध्यवसाय के साथ काम करने पर, अपनी परिचित आय प्राप्त करेगा।

(सूर्यकांत त्रिपाठी निराला)

(१४)

दर्शन और विज्ञान साहित्य के अंतर्गत हैं अवश्य; पर वे हमारे प्रकृत साहित्य नहीं कहे जा सकते। क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा आनन्द जनक भाव ही प्रधानतर रखता है। सत्य ही भाव-रूप से हृदय में प्रस्फुटित होता है। जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसका अनुभव भावमुग्ध मनुष्य अपने अंतर्हृदय से करता है। जिसकी प्राप्ति का उपाय ज्ञान बतलाया है, वह भाव ही से प्राप्त होता है। भाव भीतर ही भीतर हमें लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति के योग्य बना देता है, पर ज्ञान नहीं। वेद भी यही कहता है—'आनन्द ही ज्ञान का सार है।' क्योंकि विज्ञानमय कोष के भीतर ही आनन्दमय कोष है। उस आनन्द का मूल कारण भाव है। भाव-व्यक्त होने के ही कारण हमारे काव्य को प्रधान और प्रथम स्थान मिला है। आधुनिक दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि का स्थान उससे पीछे है। श्रेष्ठ भाव ही हमारे सूक्ष्म शरीर का पोषक है। भाव ही द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है और भाव ही द्वारा वह ज्ञान में परिणत होता है। भाव-प्राप्ति के लिए भावना की आवश्यकता होती है। फिर—"याद्दशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ताद्दशी"। मतलब यह है कि श्रेष्ठ भाव ही हमारा सहगामी और सदा का साथी है। सुन्दर भावों का जहाँ संग्रह है वही काव्य है और वही हमारा प्रधान साहित्य है। सभी भाव हमारे लिये हितकर नहीं। जो भाव हमारे प्रकृत सहायक और प्रकृत हितकर हैं, उन्हीं का संग्रह साहित्य है।

(पूर्णचंद्र वसु)

(१५)

स्त्री-शिक्षा का चुडान्त फल सतियों की सृष्टि है। हिन्दू-गृह में इसकी अपेक्षा और कोई उच्च शिक्षा नहीं थी। दूसरी शिक्षाएँ यदि स्त्रियों को दी जातीं तो बालक-शिक्षा के समान उनका भी भली-भाँति विवेचन होता। पर

उसका विवेचन हमारे धर्मशास्त्र में विशेष रूप से नहीं है। यदि स्त्रियों को और शिक्षाएँ देना अभीष्ट होता तो मनु ने गुरु-गृह की शिक्षाप्रणाली को जैसे विधिबद्ध किया है, वैसे स्त्री-शिक्षा को भी विधिबद्ध करते। अयोध्या में हम सीता को सतीत्व-गौरव से पूर्ण पाते हैं। किन्तु सीता ने जनक के घर में किस शिक्षा के प्रभाव से सतीत्व-गौरव प्राप्त किया था, इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। सीता ने अपने पिता के घर राजर्षि जनक की सांसारिक व्यवस्था देख कर ही वैसी शिक्षा पाई थी, यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है। वहाँ सीता को सुशीला सतियों का दृष्टान्त अवश्य दिखाई पड़ता था। व्रत, नियम और पातिव्रत्य में संयम की शिक्षा अवश्य होती थी, और लड़कपन से भक्तिवृत्ति को भी उत्तेजना अवश्य दी जाती थी। इसी भक्ति से स्त्री अपने पति को अपना जीवन सर्वस्व समझती है। जो स्त्री भक्ति-भाव से एकनिष्ठ, निःस्वार्थ और निराकांक्ष होकर पति की शुश्रूषा कर सकती है, वह उसी भाव से वैसी होकर देवता की भी शुश्रूषा करेगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो लड़कपन से ही गुरुजनों का आदर और देवताओं की भक्ति-भाव से पूजा करती आती है उसके लिए पातिव्रत्यधर्म कठिन नहीं है। जो भक्ति-शिक्षा बाल्यकाल से ही दी जाती है, उसकी परिपुष्टि वयोवृद्धि के साथ ही होती जाती है। अनुराग और प्रेम का प्रसाद भाई-बहनों में इसी प्रकार होकर दिन-दिन बढ़ता जाता है। वेदशास्त्र में जिनकी पैठ नहीं, उनके लिए भक्ति सुमार्ग, प्रधान-शिक्षा और तपस्या है। सती पहले जीवित-स्वामी की पूजा करना सीखती है क्योंकि अशिक्षित नारियों के लिए प्रत्यक्ष देवता ही अधिकतर भक्ति के पात्र हैं। हम पहले कह आये हैं कि जीवित देवता की पूजा से ही नारी देव-प्रतिमा की पूजा में लगती है। भक्ति पथ में स्थूल देवता की ही पहले पूजा होती है। पीछे यही पूजा सूक्ष्म देव-पूजा में परिणत हो जाती है। पार्थिव पति-प्रेम ही बढ़कर जगत्पति के प्रेम तक पहुँच जाता है।

(१६)

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को कम मैं

के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत में हो रहा है वह केवल आवरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकल कर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है किन-किन अधर्मों को करके वे धर्मज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन की पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आवरण अपने नेत्र न खो चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैग़म्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित हो कर उससे दो नये पत्ते ऊपर नहीं निकल आये, तब तक ज्योति और वायु किस काम के?

(१७)

"सौन्दर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत् की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कलकूजन में, भ्रमरावली के मधुर गुंजार में, मछली के स्वच्छ गंभीर जल में उछल कर विद्युत की-सी चपलता दिखाने में, मदोन्मत्त गजराज की मदभरी चाल में, सिंहनी की क्षीण कटि में, मृगशावक के तरल और कातर नेत्रों में, कमल और शिरीष पुष्पों की कोमलता और सुस्निग्धता में, रंभास्तम्भों की श्लक्ष्णता में, हिम और कर्पूर की दिव्य-धवलता में, पूर्ण शरदिंदु की सुधासनी शीतलता में, आकाश-

की निष्कलंक नीलिमा में, उषःकालीन नवीन मेघों की नेत्ररंजक लालिमा में, कबूतर की लालाथित ग्रीवा में, राजहंसों की मंदगति में, उज्ज्वल और सरस मोती के-से दानों से भरे हुए अन्तर में, पक्वबिंब और विद्रुम की विचित्र अरुणाई में, फलभार-नम्रा-रसाल-शाखाओं की विनीत नम्रता में। कल-कलभ के शुभ्र-शुंड से त्रिविध समीर और रजतमयी शरद चंद्रिका की मृदुल मुस्कान में, स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुन्दरता का आदर्श उपमान उपमेय रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौन्दर्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लगते हैं।

(गुलाब राय)

(१८)

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। पर मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का प्रधान गुण है जिसे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिये वश में किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्मसम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास में निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कह कर कि "परोपकार करो", "सदैव सच बोलो", "चोरी करना महापाप है" हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता; दूसरे मानव जीवन पर उनका कोई प्रभाव अङ्कित न देख कर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थान को स्पर्श करती है, और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना दे कर मानव-जीवन पर उनके

प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अङ्कित करके दिखलाती हैं। इंद्रासन खाली करने का वचन देकर, हूर और गिलमां का लालच दिखा कर, यमराज का स्मरण दिलाकर, दोज़ख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्य-परायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौन्दर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौन्दर्य और माधुर्य दिखा कर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा-पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढलें।

(रामचन्द्र शुक्ल)

(१६)

सभी देशों के साहित्य की एक विशेषता होती है। उस विशेषता का कारण उन देशों की धार्मिक नैतिक और राजनीतिक अवस्थाएँ हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये अवस्थाएँ सर्वदा एक ही स्वरूप में स्थित नहीं रहतीं। उसके स्वरूप में सदैव परिवर्त्तन होते रहते हैं। तो भी उनमें एक ऐसी मूलगत भावना विद्यमान रहती है, जिसके कारण एक देश की अवस्था दूसरे देश की अवस्था से पृथक की जा सकती है। उदाहरण के लिए हम उन देशों की अवस्थाओं पर विचार करें, जिनमें एक ही धर्म, एक ही भाषा और एक ही समाजनीति प्रचलित है। हम देखेंगे कि सभी बातों में समान होने पर भी उन देशों में एक ऐसा वैषम्य विद्यमान है, जो किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता। वह वैषम्य साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। इंगलैंड में इरविंग की संभावना नहीं हो सकती और न अमरीका में डिकेंस की। इसका कारण देश की स्थिति है। जो देश एक दूसरे से सभी बातों में भिन्न हैं, उनके साहित्य का रूप तो विलक्षण होगा ही। उनमें समता केवल उन्हीं भावों की होगी, जो मनुष्य जाति से सम्बन्ध रखते हैं। आधुनिक साहित्य में सभी देश, अपनी-अपनी विशेषताओं को स्थिर रख कर भी, सम्मिलित हो

रहे हैं। इस तरह एक ऐसे विश्व-साहित्य का निर्माण हो रहा है, जिसमें राष्ट्रीय भावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न किसी देश की विशेषता ही लुप्त होने पाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे ने एक बार ऐसे ही विश्व-साहित्य की कल्पना की थी। वह इसी साहित्य के द्वारा विभिन्न देशों और राष्ट्रों को एकता के सूत्र में गूँथ कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मूलमंत्र का प्रचार करना चाहता था। गेटे का यह अभीष्ट एक प्रकार से सिद्ध भी हो गया है। विद्वानों का कथन है कि जर्मन, फ्रांस में सभी देशों का साहित्य विद्यमान है।

(पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

अपठित गद्य का अभ्यास

सारलेखन अथवा संक्षेपलेखन के अभ्यास के लिए जो उदाहरण दिये गये हैं, उन्हीं को लेकर विद्यार्थी अपठित गद्य का अभ्यास कर सकते हैं। नीचे हम इन्हीं उद्धरणों पर प्रश्न उपस्थित करते हैं। विद्यार्थी इन्हें हल करने की चेष्टा करें :—

(१)

(१) रेखांकित को समझा कर लिखिये।

(२) महानदी और यूरोप की सभ्यता में किस प्रकार साम्य और वैषम्य दिखाया गया है?

(३) पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं में क्या मौलिक भेद है?

(४) यूरोप की सभ्यता किस प्रकार "जड़ता की विशाल मरुभूमि" की सृष्टि कर रही है? पाश्चात्य सभ्यता ने हमारे घरों में क्या परिवर्तन उपस्थित कर दिये हैं?

(५) जो गृह मनुष्यों के प्रेम......नीरस हो रही है...का वाक्य-विच्छेद कीजिये।

(२)

(१) शीर्षक दीजिये।

(२) रेखांकित को समझा कर लिखिये।

(३) "अहंकार की हानि" पर कोई कहानी लिखिये।

(४) अहंकार का आनन्द किस प्रकार का आनन्द है?

(५) "अति दर्प हता लंका" यह उक्ति कहाँ तक सार्थक है? रामचरित मानस की कुछ चौपाइयों को उद्धृत करके समझाइये।

(६) इस वाक्य को दूसरी तरह लिखिये—

"क्या घर में और क्या कर्मक्षेत्र में......हो जाता है।"

(७) "ज्ञान ही बल है"—निबंध लिखिये।

(३)

(१) गांधीजी की सत्य की व्याख्या सुलझे रूप में अपने शब्दों में लिखिये।

(२) रेखांकित को स्पष्ट कीजिये।

(३) वाक्य-विच्छेद कीजिये—

"क्योंकि सत्य की शोध......नहीं होती।"

(४) पारसमणि और कामधेनु का क्या तात्पर्य है?

(५) निम्नलिखित शब्दों के सरलार्थ लिखिये—

त्याज्य, आत्यन्तिक, असंख्य, तपश्चर्या, निःस्वार्थ शोध।

(६) "गांधीजी" और उनके द्वारा देश का पुनरुत्थान शीर्षक निबंध लिखिये।

(४)

(१) "सत्याग्रही" किसे कहते हैं?

(२) गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही का आदर्श क्या है?

(३) रेखांकित को समझाइये।

(४) वाक्यविच्छेद कीजिये—

भिन्न-भिन्न पर प्रेम करे..........बहादुरी है।

(५) 'सत्याग्रह का इतिहास' शीर्षक निबंध लिखिये।

(६) इस उद्धरण से गांधीजी की भाषा-शैली के सम्बन्ध में क्या बातें मालूम होती हैं?